

आचार्य श्री तुलसी
जीवन-दर्शन

आचार्य श्री तुलसी : जीवन-दर्शन

लेखक

साहित्य-परामर्शक मुनिथी ब्रुद्धमल्लजी

सम्पादक

मुनिथी महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम'

मुनिथी मोहनलालजी 'शार्दूल'

प्रस्तावना

श्री जनेन्द्रकुमार



साहित्यनिकेतन

प्रकाशक
सोहनलाल बाफणा
संचालक,
साहित्य निवेदन
४०६३, नयाबाजार, दिल्ली-६



प्रथम संस्करण, अगस्त १९६२
द्वितीय संस्करण, सितम्बर १९६३

मूल्य : ३ रु० ५० न० १०



मुद्रक

.. प्रेस, किम्सडे, दिल्ली

सरलमना मुनिश्री दुलीचदजी (सादुलपुर) को
जिन्होंने निष्काम भाव से अपना सम्पूर्ण जीवन
आचार्यश्री की व्यक्तिगत सेवा में
समर्पित कर रखा है ।

प्रस्तावना

सन्त तुलसी भारत के प्रेरक पुरुषों में से हैं। किन्तु सन्त से प्रथम वह आचार्य हैं, तेरापत्र जैन सम्प्रदाय के गुरुपदासीन अधिष्ठाता हैं। अथि और सन्त परीक्षा और प्रयोग के व्यक्ति हुआ करते हैं। आचार्य को शासन-गुरु की मर्यादा के सरक्षण और पालन का भी दायित्व लेना पड़ता है। अथि अपने जीवन और अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में मुक्त और निर्द्वन्द्व हो सकते हैं। आचार्य के पीछे एक परम्परा रहती है और उन्हें अनुगामियों के साथ चलने और उन्हें चलाने के कर्तव्य का निर्वाह करना होता है। तुलसी जी की यह कुशलता है कि अपने उदाहरण से वे इन दोनों स्थितियों और गुण-स्थानों के बीच समन्वय साधते चलते हैं।

यह कठिन साधना है। भविष्य के निर्माण-रक्षण में जो रहते हैं, वे मर्यादा के विचार में असावधान हो जाते हैं। परम्परा से मानों उन्हें विमुक्तता धारण करनी होती है। उधर जो अतीत के प्रति आस्था और निष्ठा रखना चाहते हैं, वे भविष्य के आद्वान के प्रति उतने सचेत और सचेत नहीं रह पाते। प्रगति और परम्परा के बीच यह घर्षण चला ही करता है। प्रगति के विचार को लेकर जो अंतिकारी बनते हैं, वे किसी धर्म-विचार अथवा नीति-विचार के लिए रचना नहीं चाहते। वर्तमान की सुटियों के प्रति अंधार होने का वे अपना एक मानते हैं। विरोधपूर्णक वे प्रतिपादन करते हैं कि अतीत से अज्ञित रहने के कारण ही वर्तमान भाषा के प्रति नहीं गति नहीं कर पाता। इसलिए अमुक को (अज्ञित अथवा रीति अथवा व्यवस्था को) गिराने और उस्तादने की वे अनिवार्यता देखते हैं। वे उस धर्म को सहना नहीं चाहते जो अम-द्विष्ट होना नहीं निर्याता।

तुलसी जी को निकट से देखने का मुझे अग्रसर मिला है। उसको मैं अपना सद्भाग्य ही गिनता हूँ। उनकी सजगता और तपस्या के प्रति मेरे मन में सराहना जगी है, तब उनकी विपन्न स्थिति पर सहानुभूति भी उपजी है। वह अपने पथ की गद्दी के नवम शास्त्राचार्य हैं। इस प्रकार लाखों श्रद्धालुओं का एक सम्प्रदाय उनके निरीक्षण और नियंत्रण में है। अमुक सिद्धान्त और शास्त्र के सहारे वह आम्नाय चलता है। लगभग वह समुदाय उस शास्त्र-व्यवस्था पर ही आश्रित है। उस सघ की श्रद्धा को विचलित नहीं किया जा सकता, शास्त्र के सूत्र की व्याख्या में अन्तर नहीं डाला जा सकता। फिर भी वह संघ समय की गति के साथ आगे और आगे चले, यह कार्य कठिन है और महाप्राण पुरुष के ही योग्य है। तुलसी उस अग्नि-परीक्षा में जूझ रहे हैं।

उनको मध्यम मार्ग से चलना पड़ता है। इस प्रयास और साधना में दोनों ओर का अत्यन्तोष उन्हें भेखना होता है। परम्परा से लेकर चलने वाले इस पर रुष्ट होते हैं कि कुछ नूतन लाया जा रहा है, पुरातन की अयहेलना हो रही है। उधर सुधारकों और प्रगतिवादियों का वर्ग इसलिए अत्यन्तुष्ट रहता है कि रुढ़ि से चिपटकर चला जा रहा है, जिसका अर्थ है कि चला ही नहीं जा रहा, बल्कि समाज को विचलित गतिहीन जकड़ में रखा जा रहा है ? तुलसी इन दोनों दिशाओं के अतिवादों को भेखते हुए बड़े प्रत्यय और बड़े कौशल से चलने की कला साध सके हैं। इसको जीवन-कला कह सकते हैं, चाहे तो कूटनीतिज्ञता भी कह सकते हैं।

मेरा उनसे पहला साक्षात्कार रचिकर नहीं हो पाया। मुझे पथ में या गुरु में दिलचस्पी नहीं है। प्रथम साक्षात्कार उन्हीं से थीर उसी मात्रा तक रहा। बाद में अणुवत् के विचार और अभियान को लेकर वह दिल्ली आये। मैं अरविपूर्वक उनसे मिलने को तैयार न था। अधिक आप्रह पर मैंने अपने साथ तर्क किया कि विज्ञान में अभिमान और

अज्ञा कैसे रह सकती है; श्रीर शिष्टाचारवश एक अन्तरंग कही जानि वाली गोष्ठी में गया। उस भेंट में मैंने व्यक्ति के दर्शन पाए और देख सका कि वह व्यक्ति खरा है और उसमें आग है। मैंने तभी पूछा, आप आचार्य हैं और सब जन समाधान के लिये आपकी ओर देखते हैं। आप में भी तो प्रश्न उठते होंगे, कभी समस्याएं घेर लेती होंगी। दूसरे लोग तो आपके पास आ जाते हैं, आप अपने उस कष्ट को लेकर कहाँ जाते और क्या करते होंगे ?'

तुलसी ने कहा—'हाँ, उस कष्ट को मैं कहीं ठाल जी नहीं सकता, यही मेरी परीक्षा है। यही कीमत है जो इस पद के लिए मुझे हर घड़ी चुकानी होती है। इसलिए यह कोई गौरव और श्रेष्ठता की ही जगह नहीं है, धोर यातना की भी है। उस आत्म को मैं ही जानता हूँ। लेकिन यह क्यों समझते हो कि वे सब मेरे शिष्य हैं; नहीं, वे साथी भी हैं।'

उस वार्तालाप से मैं देख सका कि तेरापथ के एकमात्र गुरु और शास्ता होने पर भी जिज्ञासु और साधक उनमें जगा हुआ है। वह साधनाशील पुरुष किसी प्रमाद के अधीन नहीं है। वह जागरूक है और अपने को कसता रहता है।

तेरापथ एक अद्भुत संगठन है। उसके केन्द्र में नितान्त अपरिग्रह है। उसकी सत्ता के साथ सम्पदा का स्पर्श नहीं है। नींव में न स्थान है, न संस्था है, न सस्थान है; फिर भी वह सत्ता अद्भुत देखी जाती है। जैनों का कोई दूसरा सम्प्रदाय इतना सुगठित नहीं है। आचार्य तुलसी के प्रयत्नों के परिणाम स्वरूप यह भी मैं कह सकता हूँ कि इस सम्प्रदाय का भावक और मुनि वर्ग, उसका साधारण भाग तो अवश्य, विज्ञान-स्यन्धार की आधुनिक मति-गति से अधिक ही अग्रगत है, कम नहीं।

यदि वह संगठन यदि सबसे अधिक पुष्ट और दृढ़ है तो कभी यह प्रश्न और विस्मय का भाव उत्पन्न करती है। यदि उस

व्यक्ति के उस मर्म की भी झोंकी उससे मिल पाती है। इसके लिए मुनि बुद्धमल जी की दृष्टि और शैली की सराहना करनी होगी। यह निर्मल और प्रोजल है। यदि उस में समझा के तत्व पर्याप्त नहीं हैं तो उसे त्रुटि नहीं माननी चाहिये। उनके साथ मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' और मुनि मोहनलालजी 'शादूल' का सम्पादकीय अध्यवसाय अभिनन्दनीय है।

१४ अक्टूबर '६३
दिल्ली

—जैनेन्द्रकुमार

भूमिका:

आचार्यश्री तुलसी वर्तमान के जैनाचार्यों में सबसे अधिक चर्चित आचार्य हैं। उनके आचार्य-काल को इस समय २५ वर्ष सम्मन्न हो चुके हैं।^१ उन्होंने अपने इस महत्त्वपूर्ण समय का पूरा मुख्यतः तेरापंच की प्रगति में और परिचमंश जन-कल्याण में लगाया है। साधारणतया ये दोनों कार्य सबलित रूप से चलते रहे हैं।

जनता के पास धर्मा की कमी नहीं है। विशेषतः भारतीय जनता इस विषय में गॉठ की पूरी है। पर वह गॉठ सरलता से नहीं; कठिनता से और हर एक के लिए नहीं; किसी विशेष के लिए ही सुला करती है। आचार्यश्री के लिए वह सुली है। उन्होंने जनता से असीम धर्मा प्राप्त की है। परन्तु प्रकृति के नियमों में शायद वह बाल मान्य नहीं है कि कोई केवल धर्मा ही प्राप्त करे। वर्षा की वृद्धें जहाँ गिरती हैं; वहीं से धौंधी उठाने का भी प्रकृति ने कोई विशिष्ट प्रबन्ध कर रखा है। जब जनता की अदाचित्त धर्मा उन पर बरसने लगी तो विरोध और विद्रोह की धौंधी का उठना भी स्वाभाविक ही मानना चाहिए। ये धर्मा और अधर्मा के हम समुद्र में रहकर निलिप्त भाव से अपना कर्तव्य किये जा रहे हैं। न उन्हें धर्मा पर आश्रित है और न अधर्मा पर आक्रोश। धर्मा के अमृत और अधर्मा के हलाहल को समभाव से पचाते हुए अपना करणीय करते रहने का ही उन्होंने लक्ष्य निर्धारित किया है।

आचार्यश्री के जीवन का अध्ययन करते रहने का सुघवसर मुझे मेरे बाल्य-काल से ही प्राप्त है। मेरा विद्यार्थी-जीवन उनकी देस-रेस में ही बीता है। यद्यपि मेरे लिए उनका बाल्य-जीवन और अधिकांश मुनि-जीवन केवल अध्यास का ही विषय रहा है; पर उनके मुनि-जीवन के कुछ वर्ष

१. इस समय उनके आचार्यकाल का सत्ताईसवां वर्ष चल रहा है; जो भादपद शुक्ला नवमी को पूर्ण होगा।

तथा भाषा-जीवन के ये २२ वर्षों में प्रगत के विषय रहे हैं। मेरी धर्मों में इन वर्षों में उनके काफी विचरणा में गुणा है, मन्त्रिक ने यथाशक्ति स्पष्टता में पाया है और मन में अपनी मंगल-व्यवस्था में उनके विषय में अनेक निष्कर्ष निकाले हैं। यही उन्हीं निष्कर्षों को शर्णांकन करने का प्रयास किया गया है।

व्यक्ति की धारणा को कागज पर उतारने में तिगनी कठिनाईएँ होती हैं; उनमें कहीं अधिक उगरे व्यक्तित्व को कागज पर उतारने में होती है। धारणा मरूप होती है; उसे किसी एक ही क्षेत्र और काल के आधार पर विश्लेषण कर लेना पर्याप्त हो सकता है; परन्तु व्यक्तित्व अरूप होता है, गाथा ही वह व्यक्ति के मरूपण क्षेत्र और काल में स्थल रहता है। इसलिए उसे शब्दांकन करने में अनेकधातु दुस्तरता और भी अधिक पड़ जाती है। उगरे विषय में कहीं गड़े प्रत्येक बात को उनका बड़े ध्यान से नापनी-जोखनी है। अपने निष्कर्षों में अनेक के निष्कर्षों का मिलान करती है। यदि उनमें कहीं समानता नहीं हुई तो उसका भी उत्तरावाहती है। किन्तु यह निरिचय है कि मरूपे निष्कर्ष एक समान नहीं हो सकते। उनमें तरतमता रहती ही है। यद्यपि वह तरतमता निष्कारण नहीं होती। विभिन्न मानसिक स्तर, पूर्व-मकल्प तथा परिस्थितियों उसे उत्पन्न करती हैं। फिर भी शब्दांकन करते समय लेखक के लिए यह आवश्यकता तो हो ही जाती है कि वह न केवल अपने ही निष्कर्षों को आधार बनाये; अपितु दूसरों के निष्कर्षों से भी अभिज्ञ रहे तथा आवश्यकता हो तो उनके विषय में मीमांसा भी करे। मैंने इस बात का आद्योपांत ध्यान रखने का प्रयास किया है।

यह प्रायः समस्त पुस्तक मैंने अपने गंगाशहर चानुमांस (स २०१८) में ही लिखी है। इसके लेखन में मैंने मुख्यतः 'क्यात' का तथा जैन भारती के विभिन्न अंकों का उपयोग किया है। इनके अतिरिक्त आचार्य तुलसी, समय-समय पर उनके कार्यक्रमों से सम्बन्धित निकलने वाले बुलेटिनों तथा कुछ अन्य पत्रों आदि का भी सहयोग लिया है।

यद्यपि यह जीवनी आचार्यजी के धवल-समरोह के अवसर पर भारत

के वर्तमान राष्ट्रपति (तत्कालीन उपराष्ट्रपति) डॉ० राधाकृष्णन् द्वारा आचार्यश्री को जो अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया गया था, उसमें द्वितीय अध्याय 'जीवनवृत्त' के रूप में प्रकाशित हो चुकी है, फिर भी स्वतंत्र पुस्तक के रूप में इसका अधिक उपयोग सम्भव है। इसका प्रायः मीटर लो वही है; जोकि अभिनन्दन ग्रन्थ में दिया गया है। केवल तीन परिशिष्ट और जोड़े गये हैं जोकि धवल-समारोह, जन्म-कुण्डली, चानुर्माशों और मयांदा-महोत्सवों की सूची, उद्धृत ग्रन्थों की सूची तथा व्यक्तियों और गाँवों के नामों से सम्बद्ध हैं।

प्रथम परिशिष्ट के अतिरिक्त शेष परिशिष्ट मुनि मोहनलालजी 'शादूल' के परिधम का फल है। सानग्री खयल करने में मुनि राजकरणी, मुनि मांगीलालजी 'मुकुल', मुनि शूकरणी (धीङ्गरगढ़) तथा मनेहरलालजी का बहुत बड़ा सहयोग रहा है। सम्पादन का कार्य मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' और मुनि मोहनलालजी 'शादूल' ने किया है।

किसी भी महापुरुष के जीवन का सर्वांगीण दर्शन कर लेना सहज नहीं है। उनके सर्वतोमुखी जीवन को देखने के लिए दृष्टि की भी सर्वतो-मुखता अपेक्षित होती है। मुझे यह स्वीकार करने में तनिक भी सकोच नहीं है कि प्रस्तुत जीवन-दर्शन सर्वांगीण नहीं है। आचार्यश्री के जीवन-विषयक अनेक प्रसंग इसमें छुए तक नहीं जा सके हैं। अनेक प्रसंगों का संक्षेप भी किया गया है। इसकी परिपूर्णता में नहीं कर पाया हूँ; इसका मुझे तनिक भी खेद नहीं है, क्योंकि मैं मानता हूँ कि किसी भी महा-पुरुष के जीवन का अध्ययन अथवा दर्शन 'इति' रहित ही होता है। उसमें केवल 'अथ' ही होता है। आचार्यश्री के विगत जीवन के अविशिष्ट प्रसंगों तथा भारी-जीवन में प्रस्तुत होने वाले नवीन प्रसंग अनेक दृष्टांशों तथा अध्येताओं की अपेक्षा रखते ही रहेंगे। मेरा यह परिधम उन भारी दृष्टांशों तथा अध्येताओं के लिए सहायक हो सकेगा, ऐसी आशा करता हूँ।

जनपुर

चन्दन महल, चौड़ा रास्ता

दि० सं० २०१६ आषाढ़ पूर्णिमा

—मुनि शूद्रमत्त

द्वितीय संस्करण की भूमिका

द्वितीय संस्करण के अवसर पर मैंने इसका आधोपान्त पुनर्निरीक्षण कर लिया है। प्रथम संस्करण में 'विहार-चर्या और जन-सम्पर्क' जहाँ एक अध्याय था; वहाँ इस बार उन्हें दो स्वतंत्र अध्यायों में विभक्त कर दिया है। 'जीवन-शातदल' अध्याय के अन्तर्गत जिन कई घटनाओं को अभिनन्दन-ग्रन्थ में संक्षेप के लिए छोड़ दिया गया था; उन्हें यहाँ पुनः संयुक्त कर दिया गया है। अनेक अध्यायों में कुछ उपशीर्षकों का परिवर्तन किया गया है तो कुछ नये भी दिये गये हैं।

घबल-समारोह के बाद की घटनाओं को इस संस्करण में और जोड़ देने की इच्छा होते हुए भी मैं वैसा नहीं कर पाया हूँ। उसमें समयाभाव, वर्तमान में एतद्विषयक सामग्री - उपलब्धि की कठिनाता और पुस्तक की तात्कालिक माँग आदि अनेक कारण रहे हैं।

अत्रमेव

वि० सं० २०२० घापाड़ गुल्फा पंचमी

—मुनि बुद्धमल्ल

सम्पादकीय

आचार्यश्री तुलसी विविधताओं के धनी हैं। उनके एक ओर जहाँ आचार्यत्व की शायना है, वहाँ साधक की मृदुता भी। वे जहाँ कवित्व की रस-लहरी में निमग्न करते हैं, वहाँ दर्शन की शुष्क तथा उलझन भरी गुरिधियों भी मुलझाते हैं। जन-जन को आकृष्ट करने वाले वाग्मी हैं, तो एकान्त-वाग्मी मीनी भी। वे परिपक्व के बीच बैठकर शिष्यों के अध्ययन के द्वारा एकत्व का और एकान्त में बैठकर काव्य-सर्जन के द्वारा बहुत्व का अनुभव सहज ही करते हैं। वे एक सम्प्रदाय के आचार्य हैं तो अशुद्धत जैसे आन्दोलन के प्रवर्तक होने से नैतिकता के महामय के उद्गाता भी। अतः किसी एक ही कोण से देखकर उन्हें परखने का प्रयत्न करना; वस्तुस्थिति के साथ न्याय नहीं होता।

“जिनके जीवन में न तेज होता है, न प्रवाह और न बहा ले जाने का सामर्थ्य, उनका व्यक्तित्व शब्द में क्षिपकर रह जाता है और जिनमें ये विशेषताएँ होती हैं, उनके व्यक्तित्व में शब्द क्षिपकर रह जाता है।” साहित्य-विभाग-परामर्शक मुनिश्री बुद्धमल्लजी की यह अनुभूति सत्य की अतलस्पर्शी गहराई की ओर संकेत करती है। आचार्यश्री तुलसी का प्रसरणशील व्यक्तित्व इसका जीवन्त प्रमाण है। वे कहीं शब्दों में नहीं बंधे हैं, अपरिणु शब्द स्वयं सिमित-भिमित कर उनसे प्रवाहित हुए हैं।

मुनिश्री ने, आचार्यश्री तुलसी के जीवन में जो तेज, प्रवाह व बहा ले जाने का त्रिवेणी-संगम है; उसे शब्दों में इस प्रकार से समाहित किया

है कि वहाँ शब्द गूढ़ न होकर स्पष्ट स्पष्ट बन गये हैं और पाठक आचार्यश्री के जीवन का साक्षात् अनुभव करने लगता है। इस कार्य में मुनिश्री अगाधारण रूप से मग्न हो पाये हैं। उनकी लेखनी उनके विचारों का पूर्णतया अनुगमन करती है और विचार शून्यता में घाबरा होने हुए भी अपनी गति में द्विगुणित होकर प्रगुण होते हैं। इस जीवन-दशक की सबसे अनूठी विशेषता तो यह है कि मुनिश्री लगभग तीस वर्षों से आचार्यश्री की विविधताओं का अध्ययन कर चुकने के अनन्तर इस कार्य में प्रवृत्त हुए हैं। मुनिश्री ने बहुत वर्षों तक आचार्यश्री को एक छात्र की स्थिति में रहकर देखा और इसके अनन्तर आचार्यश्री की बहुमुखी व शान्तिमूलक प्रवृत्तियों में निरपम सहयोगी रहकर उन्हें देखने रहे। अब जब कि आचार्यश्री ने उन्हें साहित्य-विभाग के परामर्शक के रूप में नियुक्त कर दिया है, वे आचार्यश्री को परखने में और भी निकट हो गये हैं। आचार्यश्री की विविधताओं का लेखा-जोखा मुनिश्री जैसे विविध दृष्टिकोणों से आचार्यश्री को देखने वाले व्यक्ति ही कर सकते हैं।

मुनिश्री बुद्धमल्लजी आशुकरि हैं, वाग्मी हैं तथा दशक के घरातल पर विचरने में तर्क-प्रवण भी। उन्होंने अपने बाल्य-जीवन के दश वर्ष गृह-जीवन में बिताये, छः वर्ष अपने अर्द्ध-य गुरु आचार्यश्री कालूगशी के घरों में साधना-रत रहते हुए तो उससे अगले दुर्न्वीस वर्ष आचार्यश्री तुलसी के सान्निध्य में साहित्य-साधना, अध्यापन व अलुपठ-विस्तार आदि विविध प्रवृत्तियों में। उन्होंने अपनी पद्यावधियों से पत्राय, राजस्थान, उत्तरप्रदेश आदि में नैतिक जागरण की शलख जगाई है तो दिल्ली में उनका पदवर्षीय प्रवास वहाँ के सार्वजनिक व साहित्यिक जगत में तथा राजनैतिक वर्ग में आज भी मुखर हो रहा है। उनकी कान्य-याटिका के कुसुम साहित्यिक क्षेत्र में पराग लुटाने के साथ ही जन-साधारण को भी प्रीणित करते रहे हैं और भविष्य उनसे और अधिक पाने की

हम सम्पादक द्वय कृतकृत्य हैं, जिन्हें ऐसी साहित्यिक कृति, जिसका हृदय आचार्यश्री तुलसी का जीवन-दर्शन है; सम्पादन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। हम मुनिश्री से अब तक बहुत कुछ पाते रहे हैं। हमारा सम्पादन उनके प्रति एक दिनत्र श्रद्धांजलि भी बन सका तो वह हमारे लिए परम आह्लाद का विषय होगा।

६ अगस्त, १९६२

— मुनि महेन्द्रकुमार 'प्रथम'
— मुनि मोहनलाल 'शाहूल',

अनुक्रम

| | पृ० सं० | | पृ० सं० |
|-----------------------|---------|-----------------------|---------|
| उपोद्घात | १-४ | स्वाध्याय | १७ |
| (१) बाल्यकाल | ५-१३ | सुयोग्य शिष्य | १८ |
| जन्म | ५ | गुरु का वात्सल्य | १९ |
| घर की परिस्थिति | ५ | योग्यता-सम्पादन | २० |
| धार्मिकता की ओर झुकाव | ६ | शिक्षा या सकेत ? | २२ |
| एक दूसरा पहनू | ७ | विस्तार में योगदान | २३ |
| दीक्षा के भाव | ८ | (३) युवाचार्य | २८-३३ |
| एक समस्या | ९ | घोषणा | २८ |
| समस्या का सुलभाव | १० | प्रादेश-निर्देश | २८ |
| एक परीक्षा | ११ | उत्तराधिकार-यत्र | २९ |
| दीक्षा-मर्यादा | १२ | अदृष्टपूर्व | ३० |
| (२) मुनि जीवन के | | अधूरा स्वप्न | ३१ |
| ग्यारह वर्ष | १४-२७ | नये वातावरण में | ३१ |
| विद्या का बीज-वहन | १४ | जब व्याख्यान देने गये | ३२ |
| ज्ञान कटा, राम घटा | १४ | केवल चार दिन | ३३ |
| धो-श्री-गु-जी | १५ | (४) तेरापंच के महान् | |
| कठिन ग्रन्थ | १६ | प्राचार्य | ३४-८७ |
| छो-मवागौ वय | १७ | शासन सूत्र | ३४-४१ |

| | पृ० सं० | | पृ० सं० |
|------------------------------------|--------------|-----------------------|---------|
| सेरापंच की देन | ३४ | ऐसा होता ही है | ५२ |
| समर्पण भाव | ३५ | व्यक्तिगत पत्र | ५२ |
| अनुशासन और व्यवस्था | ३६ | समय ही कहां है ? | ५३ |
| प्रथम वक्तव्य | ३८ | मेरी हार मान सकते हैं | ५४ |
| बयासी वर्ष के | ३९ | कार्य ही उत्तर है | ५५ |
| सुचारु संचालन | ४० | सर्वांगीण विकास | ५६-७३ |
| धसाम्प्रदायिक भाव | ४१-४९ | भगीरथ प्रयत्न | ५६ |
| परमत-सहिष्णुता | ४१ | विकास-काल | ५७ |
| पाँच सूत्र | ४२ | व्याख्या-विकास | ५८ |
| समय नहीं है | ४३ | युग-धर्म के रूप में | ५८ |
| सार्वत्रिक उदारता | ४४ | उत्तर का स्तर | ६० |
| आगरा के स्थानक में | ४४ | निरूपण शैली का विकास | ६१ |
| वर्ष्णीजी से मिलन | ४५ | संस्कृत साधना | ६२ |
| विजयवल्लभ सूरि के यहाँ | ४६ | हिन्दी में प्रवेश | ६४ |
| दरगाह में | ४६ | भाषण-शक्ति का विकास | ६६ |
| श्रावकों का व्यवहार | ४६ | बहानियाँ और निवन्ध | ६८ |
| फ़ादर विलियम्स | ४७ | समस्या-पूर्ति | ६९ |
| साधु सम्मेलन में | ४८ | जयज्योति. | ६९ |
| चेतन्य विरोधी प्रतिक्रियाएँ | | एकाङ्किक शतक | ७० |
| | ४९-५६ | आनुकविता | ७० |
| सेतुबन्ध | ४९ | धवधान | ७१ |
| विरोधी से भी लाभ | ५० | अध्यापन-कौशल | ७३-८७ |
| विरोधी-साहित्य-प्रेषण | ५१ | कार्यभार व कार्यवेग | ७३ |
| डेर लग गया | ५१ | आरम्भियता का आकर्षण | ७४ |

| | पृ० सं० | | पृ० सं० |
|---------------------------|---------|-----------------------|---------|
| अपना ही काम है | ७५ | असाम्प्रदायिक रूप | ६७ |
| तुलसी डरै सो ऊवरै | ७५ | सर्वदलीय | ६८ |
| उत्साह-दान | ७६ | सहयोगी भाव | ६८ |
| अनुशासन-शमता | ७७ | प्रथम अधिवेशन | ६९ |
| एक शिकायत; एक कथा | ७८ | पत्रों की प्रतिक्रिया | १०० |
| स्वानुशासन | ८० | भाषावादी दृष्टियाँ | १०२ |
| हर पाठ | ८० | सन्देह और समाधान | १०६ |
| विकास का बीज-मंत्र | ८० | आन्दोलन की आवाज | १११ |
| कहीं मैं ही गन्त न होऊँ ? | ८१ | राज्य-सभा में | ११३ |
| उदार व्यवहार | ८२ | विधान-परिषद् में | ११३ |
| साध्वी-समाज में शिक्षा | ८३ | जन-जन में | ११५ |
| अध्ययन की एक समस्या | ८४ | अनेकों का श्रम | ११६ |
| पाठ्यक्रम का निर्धारण | ८५ | नये उन्मेष | ११६ |
| (५) अणुमत-आन्दोलन के | | साहित्य द्वारा | ११७ |
| प्रसक्तक | ८८-१२८ | गोष्ठियाँ आदि | ११७ |
| समय की माँग | ८८ | विविध अभियान | ११८ |
| आत्मा की भूख | ८९ | विद्यार्थी-परिषद् | ११८ |
| उद्देशित क्षेत्र में | ८९ | केन्द्रीय अणुमत समिति | ११८ |
| अपेक्षाकृत वर्ण | ९० | स्थानीय समितियाँ | ११९ |
| आन्दोलन का उगम | ९१ | बमजोर पक्ष | ११९ |
| आन्दोलन | ९२ | सामूहिक सुधार | ११९ |
| सुबंभूमिका | ९३ | नया मोड़ | १२० |
| नामकरण | ९४ | प्रकाश रतन्ध | १२१-१२८ |
| यज्ञों का स्वरूप-विणय | ९४ | आना ही न पड़ना | १२९ |
| सीन धेरियाँ | ९७ | | |

| | पृ० सं० | | पृ० सं० |
|--------------------|---------|------------------------|---------|
| एक-सौ-नौ | १२२ | विभिन्न सम्पर्क | १३७ |
| सबके सम्मुख | १२२ | हरमन जेकोबी के शिष्य | १३८ |
| क्या पूजें ? | १२३ | व्यस्त कार्यक्रम | १३८ |
| नदी में | १२३ | जीत लिया | १३९ |
| यह मुझे मज़ूर नहीं | १२४ | चौथी बार | १३९ |
| रिश्तत या जेल | १२४ | द्वितीय यात्रा | १४०-१४४ |
| ब्लैक स्वीकार नहीं | १२५ | गुजरात की घोर | १४० |
| गुड़ की चाय | १२५ | बाबू में | १४० |
| सत्य की शक्ति | १२५ | सौराष्ट्र की प्रार्थना | १४१ |
| दुकानों की पगड़ी | १२६ | मूरत में | १४१ |
| एक चुभन | १२६ | बम्बई की घोर | १४१ |
| (६) बिहार-चर्चा | १२६-१४९ | नौ महीने | १४२ |
| प्रसस्त चर्चा | १२६ | पूना में | १४३ |
| सम्पर्क के लिए | १२६ | एलौरा और अजंता में | १४३ |
| प्रचण्ड जिगमिषा | १३० | प्रत्यावर्तन | १४४ |
| दैनिक गति | १३१ | तृतीय यात्रा | १४४-१४८ |
| घासवत यात्री | १३१ | नया कार्यक्रम | १४४ |
| प्रथम यात्रा | १३२-१४० | उत्तर प्रदेश में | १४५ |
| चरत भिक्षुवे | १३२ | नगरो और ग्रामो में | १४५ |
| जयपुर में | १३४ | बिहार में | १४६ |
| दिल्ली में | १३४ | तीर्थ स्थानो में | १४६ |
| दूसरी बार | १३५ | भय और आग्रह | १४७ |
| तीसरी बार | १३५ | बंगाल में | १४७ |
| विभिन्न प्रेरणाएँ | १३६ | कलकत्ता में | १४८ |
| भ्यारह दिनों में | १३७ | उपस्थिति | १४८ |

| | | | |
|-----------------|---------|-------------------------|-----|
| प्रबन्ध-काव्य | १६२-१७० | (प्रबन्ध-काव्य) | २२३ |
| भाषादृष्टि | १६३ | प्रबन्ध-काव्य | २२३ |
| भरत-मुक्ति | १६६ | दीक्षाए सम्पन्न | २२५ |
| अग्नि-परीक्षा | १६६ | योग्य कौन ? | २२५ |
| संस्कृत-साहित्य | २०४ | एक वृत्त्या | २२६ |
| धर्म-सन्देश | २०४ | विधेयक और आचार्यश्री | २२६ |
| मधु-सचय | २०५ | विधेयक और मुरारजी देसाई | २२६ |

(६) संघर्षों के सम्मुख

२३१-२३२

| | |
|----------------|---------|
| स्थितप्रज्ञता | २१३ |
| दो प्रकार | २१३ |
| आन्तरिक संघर्ष | २१४-२१६ |

| | |
|-----------------------|-----|
| दृष्टि-भेद | २१४ |
| नवीनता से भय | २१४ |
| संघर्ष का बीज-रूप | २१५ |
| आन्दोलन के प्रति | २१५ |
| प्रार्थना में | २१६ |
| अस्पृश्यता निवारण | २१७ |
| परमाधिक शिक्षण-संख्या | २१८ |

| | |
|-------------------|---------|
| बाह्य संघर्ष | २१६-२३२ |
| सामञ्जस्य-अवधारणा | २१६ |
| विरोध के दो स्तर | २२० |
| दीक्षा-विरोध | २२१ |
| विरोधी समिति | २२१ |
| एक प्रवचन | २२२ |

(१०) जीवन-शतदल

२३३-२८३

| | |
|---------------------------|---------|
| शारीरिक सौन्दर्य | २३४-२३६ |
| पूर्ण दर्शन | २३४ |
| नेत्रों का सौन्दर्य | २३४ |
| तात्कालीन प्रतिक्रिया | २३५ |
| ठीक बुद्ध की तरह | २३६ |
| आत्म-सौन्दर्य | २३६-२३६ |
| प्रेम की भाषा | २३७ |
| प्रसर तेज | २३७ |
| शक्ति का अपभ्रंश क्यों ? | २३७ |
| प्रसन्नता का क्या करें ? | २३८ |
| क्या पैरों में पीड़ा है ? | २३८ |
| शान्तिवादिता | २३६-२४२ |
| प्रथम भक्तक | २३६ |

| | पृ० न० | | पृ० न० |
|------------------------|---------|---------------------------|---------|
| बड़ी भेंट खाहता है | २६६ | विविध | २८०-२८४ |
| कियात का बेडा है | २७० | में घब्रम्या में छोटा है | २८१ |
| भेंट क्या बढ़ाओगे ? | २७१ | मध्यम-मार्ग | २८१ |
| गयात्रन में भी पवित्र | २७२ | पीन और पद | २८२ |
| सर्वत्र समान सम्बन्ध | २७२ | धरणाश्रित मिले तो | २८२ |
| चरणा-नपरम कर सकने है ? | २७३ | छोटे का बड़ा काम | २८३ |
| दिनोद | २७३-२७७ | हमन के बेरा | २८४ |
| एक घड़ी | २७३ | उपसहार | २८५-२८८ |
| पर्दा-नमस्को की लाभ | २७४ | प्रथम परिशिष्ट | २८६-३०३ |
| यह भी बट जावेगी | २७४ | घबल-समारोह | २८६-३०३ |
| कृपा, प्यागे के घर | २७४ | सम्मान से अधिक मून्चवान् | २८६ |
| भाग्य की बसौटी | २७५ | घलण्ड घासा | २८६ |
| बचाव | २७५ | 'रजन' बनाम 'धवन' | २८० |
| जेब नहीं है | २७५ | धवन-ममारोह-मिनि | २८० |
| घघरे में प्रकाश में | २७६ | तीन कार्य | २८१ |
| जो घासा | २७७ | व्यक्ति-गूजा या घासा-गूजा | २८१ |
| घघाई-बुराई की लम्ब | २७७ | दो चरणा | २८३ |
| प्रामाणिकता | २७७-२७८ | प्रथम चरणा | २८३ |
| हीनता की बात | २७७ | द्वितीय चरणा | २८३ |
| घडा का अनुसंग करे | २७८ | सन्ध-समसंग | २८४ |
| पवित्र मित्र परने | २७८ | समिनन्दन-सन्ध | २८५ |
| बहनत्व | २७८-२८० | सम्पादक-सन्ध | २८६ |
| घाली का प्रकाश | २७८ | घासा-धी का उतर | २८७ |
| उपनी घासा बोन रही है | २७८ | उपनस्य सन्ध | २८७ |

| | पृ० स० | | पृ० स० |
|----------------------------|--------|----------------------------|---------|
| साधु-सस्याओं से | २६८ | साहित्य की भेंट | ३०३ |
| गौरव-पूर्ण अस्तित्व के लिए | २६९ | द्वितीय परिशिष्ट | ३०४-३०६ |
| साधुवाद और आह्वान | २६९ | आचार्यश्री के चातुर्मासों | |
| आभार-प्रदर्शन | ३०० | की सूची | ३०४ |
| सम्मान | ३०० | आचार्यश्री के मर्यादा- | |
| परामर्शक-नियुक्ति | ३०१ | महोत्सवों की सूची | ३०४ |
| आशीर्वाद | ३०१ | आचार्यश्री की जन्म-कुण्डली | ३०६ |
| बदनाओं के प्रति | ३०२ | तृतीय परिशिष्ट | ३०७-३१४ |
| स्मरण | ३०२ | उद्धृत ग्रन्थों की सूची | ३०७ |
| द्विविध गोष्ठियाँ | ३०२ | व्यक्तियों के नाम | ३०७ |
| विशेषाक समर्पण | ३०२ | गाँवों के नाम | ३१२ |
| साहित्य-सम्पादन | ३०३ | | |

उपोद्घात

आचार्य श्री तुलसी तेरापथ के नवम आचार्य हैं । उनके अनुशासन में रहते हुए वर्तमान में तेरापथ ने जो उन्नति की है, वह अमूल्य बही जा सकती है । प्रचार और प्रसार के क्षेत्र में भी इस अवसर पर तेरापथ ने बहुत बड़ा सामर्थ्य प्राप्त किया है । जन-सम्पर्क का क्षेत्र भी आशाशील रूप में विस्तीर्ण हुआ है । संक्षेप में कहा जाए तो यह समय तेरापथ के लिए अनुमोदी प्रगति का रहा है । आचार्यश्री ने अपना समस्त समय सध की इस प्रगति के लिए ही अर्पित कर दिया है । वे अपनी शारीरिक सुविधा-अनुविधा की भी परवाह किये बिना अनवरत इसी कार्य में जुटे रहते हैं । इसीलिए आचार्यश्री के शासन-काल को तेरापथ के प्रगति-काल या विश्वास-काल की सजा दी जा सकती है ।

आचार्यश्री का बाह्य तथा आन्तरिक—दोनों ही प्रकार का व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक और महत्वपूर्ण है । भँभला कद, गौर वर्ण, प्रगस्त ललाट, तीली और उठी हुई नाक, गहराई तक भाङ्गी हुई तेज आँखें, लम्बे कान व भरा हुआ आकर्षक मूत्रमण्डल—यह है उनका बाह्य व्यक्तित्व । दर्शक उन्हें देखकर महारामा बुद्ध की आहृति की एक झलक घनापान ही पा लेता है । अनेक नवायन्तुकी के मुख से उनकी और बुद्ध की तुलना की बातें मने स्वयं मुनी है । दर्शक एक क्षण के लिए उन्हें देखकर भाव विभोर-सा हो जाता है ।

उनका आन्तरिक व्यक्तित्व उसमें भी नहीं बदकर है । वे एक धर्म-सम्प्रदाय के आचार्य होने हुये भी सभी सम्प्रदायों की विशेषताओं का आदर करने हैं और सहिष्णुता के आधार पर उन सब में वैकल्प स्थापित करना चाहते हैं । वे मानवतावादी हैं, धन-समन्व मानकों

के गुगुम्कारों को जगत्त्र भ्रमण्डल में घर्नेनिक्या और दुःखानार को हटा देने के स्वप्न को गाकार करने में जुटे हुए हैं। अथवा परिधम उनके मानस को अपार तृप्ति प्रदान करना है। वे बहुधा अपने भोजन तथा पापन के समय में भी बटीनी करने रहते हैं। आगत्येप गाह्य, चिन्तन की गहराई, दूसरे के मनोभावों को सहजता से ही गाड लेने का सामर्थ्य और अयाचित स्नेहादंता ने उनके आन्तरिक व्यक्तित्व को और भी महत्वगील बना दिया है।

उनका बाह्य व्यक्तित्व जहाँ गन्देहोंमें परे है; वहाँ आन्तरिक व्यक्तित्व अनेक व्यक्तियों के लिए गन्देह-मयल भी बना है। कुछ लोगों ने उनमें द्वैध-व्यक्तित्व की आशकाए की है। उनका व्यक्तित्व किसी को सम्प्रदायातीत मालूम दिया है तो किसी को अपार साम्प्रदायिक। किसी ने उनमें उदारता और स्नेहादंता के दर्शन किये हं तो किसी ने अनुदारता और शुष्कता के। तात्पर्य यह है कि वे अनेक व्यक्तियों के लिए अभी तक अज्ञेय रहे है। वे समन्वयवाद को लेकर चलते है, अत अपने आपको बिलकुल स्पष्ट मानते है। परन्तु उनमें भयकर अस्पष्टता का आरोप करने वाले व्यक्ति भी मिलते ह। वे अहिंसक है, अत अपने लिए किसी को अमित्र नहीं मानते, फिर भी अनेक व्यक्ति उनको अपना भयकर विरोधी मानते हैं।

भारत के प्राय सभी प्रमुख पत्रों ने तथा कुछ विदेशी पत्रों ने भी जहाँ उनको तथा उनके कार्यों को महत्वपूर्ण बतलाया है तो कुछ छोटे पत्रों ने उनको जी-भर कर कोसा भी है। इतना ही नहीं, किन्तु उन्होंने उनकी तथा उनके कार्यों की निम्नस्तरीय आलोचनाएँ भी की हैं, पर वे उन सबको एक भाव से देखते रहे है। न स्वयं उन विरोधों का प्रतिवाद करते हैं और न अपने किसी अनुयायी को करने देते हैं। वे सत्य-शीघ्र के लिए विरोध को आवश्यक समझते हैं और उसे विमोद की ही तरह सहजभाव से ग्रहण करते है। अपनी इस भावना को उन्होंने अपने एक पद्य में यों व्यक्त किया है :

जो हमारा हो विरोध, हम उसे समझे विनोद ।

सत्यः सत्य-शोध में, तब ही सफलता पाएँगे ।

घनेक विचारक व्यक्तियों ने उनके विचारों का समर्थन करने वाला सया घनेको ने खण्डन करने वाला साहित्य लिखा है । उस उच्चस्तरीय आलोचना तथा खण्डन का उन्होंने उसी उच्चस्तर पर उत्तर भी दिया है । वे 'वादे वादे जायते तत्त्वबोध' को एक बहुत बड़ा तथ्य मानते हैं । वे आलोचनाओं से बचने का प्रयास नहीं करते, किन्तु उनके स्तर का ध्यान सदैव रखते हैं । उच्चस्तरीय आलोचना को उन्होंने सदैव सम्मान की दृष्टि से देखा है और उस पर उनकी भावनाएँ मुखर होती रही हैं, जबकि निम्नस्तरीय आलोचना पर वे पूर्णतः मौन धारण करते रहे हैं ।

इस प्रकार उनके व्यक्तित्व के विषय में विविध व्यक्तियों के विविध विचार हैं, पर यह विविधता और विरोध ही उनके व्यक्तित्व की प्रवणता और अदमनीयता का परिचायक है । वे समन्वयवादी हैं, अतः जहाँ दूसरों को अन्तर्-विरोध का आभास होता है, वहाँ उनको समन्वय की भूमिका दिखाई पड़ती है । उनके दर्शन की इस पृष्ठभूमि ने उनको विविधता प्रदान की है और उनके विरोधियों को एक उलझन ।

ऐसे व्यक्तियों को शब्दों में बाँधना बहुत कठिन होता है, परन्तु यह भी सत्य है कि ऐसे व्यक्तित्व ही शब्दों में बाँधने योग्य होते हैं । जिनके जीवन में न तेज होता है, न प्रवाह और न बहा ले जाने का सामर्थ्य; उनका व्यक्तित्व शब्द में छिपकर रह जाता है और जिनमें ये विशेषताएँ होती हैं, उनके व्यक्तित्व में शब्द छिपकर रह जाता है । समस्या दोनों जगह पर है, परन्तु वह भिन्न-भिन्न प्रकार की है । आचार्यश्रीके व्यक्तित्व को शब्दों में बाँधने वाले के लिए यही सबसे बड़ी कठिनाई है कि उसे जितना बाँधा जाता है, उससे कहीं अधिक वह बाहर रह जाता है । शब्द उनके सामस्त्य को अपने में घटा नहीं पाते, उनके व्यक्तित्व की गुस्ता के सम्मुख शब्दों के ये बाट बहुत ही हलके पड़ते हैं ।

वालथकाल

जन्म

आचार्यश्री तुलसी का जन्म वि० सं० १६७१ कार्तिक शुक्ला द्वितीया, राजस्थान (मारवाड) के लाडगू शहर में हुआ था। उनके पिता का नाम भूमरमलजी तथा माता का नाम बदनाजी है। वे ओसवाल जाति के खटेड गोत्रीय हैं। छ भाइयों में वे सबसे छोटे हैं। उनके तीन बहिनें भी हैं। उनके मामा हमीरमलजी कोठारी उन्हें 'तुलसीदासजी' कहकर पुकारा करते थे। वे यह भी कहा करते थे कि हमारे 'तुलसीदासजी' बड़े नामी द्वादसी होंगे। उनकी यह बात उस समय तो सम्भवतः प्यार के अतिरेक से उद्भूत एक सरल और सहज कल्पना ही मानी गई होगी, परन्तु आज उसे एक सत्य घटित होने वाली भविष्यावाणी कहा जा सकता है।

घर की परिस्थिति

आचार्यश्री के सत्कारपक्षीय दादा राजरूपजी खटेड बाफी प्रभावशाली तथा प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। वे सिराजगढ़ (अब यह पूर्वी पाकिस्तान में है) में राजवहादुर बाबू बुधसिंहजी के यहा मुनीम थे। वहाँ उनका बहुत बड़ा व्यापार था और उनकी सारी देखभाल राजरूपजी के ऊपर ही थी। वे व्यापार में बड़े निपुण थे, अतः उस क्षेत्र में उनका काफी सम्मान था। रहन-सहन भी उनका बड़ा रौबीला था।

स० १६४४ में सेंट बुधसिंहजी के पौत्र इन्द्रचन्दजी आदि विलायत यात्रा पर गये तो लौटने पर वहाँ एक सामाजिक भगडा चल पड़ा था।

उनके विरोधी-पक्ष ने उनको तथा उनमें सम्बन्ध रखने वालों को जति-बहिष्कार कर दिया था। उम भगई में श्रीमध के पक्षपाती होने के कारण राजरूपजी ने उनको वहाँ में नीतरी धाँद दी और घर आ गये। पहले कुछ दिनों तक वे वही धन्य गुनीभी प्राप्त करने का प्रयाग करने रहे, परन्तु जिन सम्मान और रोष में वे विराजगज में रह चुके थे; उममें कम में रहना उन्हें पसन्द नहीं था। उनका बड़ी मिन नहीं मना; धन: वे तब से प्राय: घर पर ही रहने लगे। उनके पुत्र भूमरमनजी एक सरल स्वभावी व्यक्ति थे। वे व्यापार में अधिक मकल नहीं हो सके। प्राय साधारण रही और परिवार बड़ा होने में व्यय अधिक रहा, धन: धीरे-धीरे आर्थिक स्थिति गिरने लगी और परिवार पर ऋण हो गया।

सं० १९७३ में राजरूपजी का देहान्त हो गया। उमके बाद सं० १९७६ में भूमरमलजी का भी देहान्त हो गया। इन मौतों के कारण परिवार की आर्थिक स्थिति पर और भी अधिक दबाव पड़ा, किन्तु आचार्य श्री के बड़े भाई मोहनलालजी ने काफी प्रयत्न तथा साह्य से उन स्थिति को सम्भाल लिया। उन्होंने बहुत कम समय में ही उम ऋण को उतार दिया तथा अपने घर की स्थिति को फिर से सुध्वस्थित कर लिया। उस समय उनके अन्य भाई भी व्यापार-कार्य में लगे और उन्होंने घर की आर्थिक स्थिति को सुधारने में यथासक्ति योग दिया। इस प्रकार वह परिवार फिर से अपने पैरों पर खड़ा होकर सम्मानित जीवन बिताने लगा।

धार्मिकता की ओर झुकाव

आचार्यश्री के परिवार वालों में प्रायः सभी को धार्मिक अभिरुचि अच्छी थी। उनमें भी बदनाजी की श्रद्धा तथा अभिरुचि सर्वोपरि कही जा सकती है। साङ्गू में सं० १९१४ से लगातार वृद्ध रातियों का स्थिरवास चला आ रहा है। साध्विया जहाँ रहती हैं; वहाँ पास में ही उनका घर है, अतः उनका फुरमल का समय प्रायः वही व्यतीत होता था। व्याख्यान आदि के समय तो एक प्रकार से निश्चिन्त बँधे हुए थे ही। वे अपने बातकों को दर्शन करने के लिए प्रेरित करती रहती थीं। जब कोई भी बालक

प्रान्तराज के लिए कहता, तो बहुधा वे पूछ लिया करती थी कि दर्शन कर घाया कि नहीं। यदि दर्शन किये हुए नहीं होने तो वे यही चाहती कि एक बार वह दर्शन कर घाये। उनकी उस नैरन्तरिक प्रेरणा ने वहाँ का वातावरण ही ऐसा बना दिया था कि साधु-माध्वियों के स्थान पर जाकर दर्शन कर घाना उन सबका स्वाभाविक और प्रथम कर्तव्य हो गया। आचार्यश्री उस समय बाल्यावस्था में ही थे, फिर भी घर के धन्य सदस्यों के समान ही प्रतिदिन वे दर्शन करने के लिए जाया करते थे। धर्म के प्रति उनका एक आन्तरिक अनुराग हो गया था। उनके एक बड़े भाई मुनिश्री चम्पालालजी ने जब स० १९८१ में दीक्षा ग्रहण की, तब से तो वे और भी अधिक धार्मिकता की ओर घाट्टु हुये थे। उनका वह भुक्ताव धीरे-धीरे अनुत्तल वातावरण में वृद्धिगत होता रहा।

एक दूसरा पहलू

जीवन में जब देवी सस्कारों का बीज-वपन होता है, तब बहुधा आमुरी सस्कार भी अपने अस्तित्व को बनाए रखने का जोर मारते हैं। वे विनी न विनी बहाने से व्यक्ति को भटका देना चाहते हैं। बंसी स्थिति में अनेक व्यक्ति भटक जाते हैं तो अनेक सम्भल कर यैसे सस्कारों पर विजय पा लेते हैं और उन्हें सत्-सस्कारों में परिणत कर लेते हैं। आचार्यश्री के बाल-जीवन में भी कुछ-एक ऐसे क्षण आए, जब कि एक ओर तो धार्मिक सस्कार उनके मन में जड़ जमाने लगे और दूसरी ओर से आमुरी सस्कारों ने उन्हें भटका देना चाहा। वह उनके बाल-जीवन के चित्र का एक दूसरा पहलू कहा जा सकता है। उन्होंने स्वयं अपने 'अतीत के कुछ सस्मरण' लिखते हुए एक घटना का उल्लेख किया है। घटना इस प्रकार है—एक बार उन्हीं के एक कौटम्बिक जन ने उन्हें बल्लामा कि यहाँ गाँव से बाहर 'ओरण' में एक रामदेवजी का मन्दिर है। उसमें देवता बोलता है; परन्तु उसकी नारियल चढाना आवश्यक होता है। यदि तुम अपने घर से नारियल ला सकी तो हम सुम्हें देवता की बोली सुना

सकते हैं। बाल-मुलभ जिज्ञासा से प्रेरित होकर उन्होंने नारियल से घाने का वचन दिया और घर में जाकर चुपके से एक नारियल उठा लाये। मंदिर में छिपकर किसी व्यक्ति के बोसने को ही उन्होंने अपनी बाल-मुलभ सरलता में देव-वाणी मान लिया था। उस चक्कर में उन्होंने कई बार नारियल चुराये; परन्तु शीघ्र ही आत्म-निरीक्षण द्वारा वे इस कुसंगति से छूट गये और सत्-मस्कारों की विजय हुई।

दीक्षा के भाव

स० १६८२ के मार्गशीर्ष महीने में आचार्यश्री कानूगली का लाडलू पदार्पण हुआ। उस समय बालक तुलसी को निकटता में आचार्यदेव के दर्शन करने तथा व्याख्यान आदि मुनते का अवसर प्राप्त हुआ। उस निकट सम्पर्क ने उनके पूर्वजित मस्कारों को उद्बृद्ध कर दिया। फलस्वरूप बालक होने हुए भी वे विराग-भाव में रहने लगे। जो बात व्याख्यान आदि में मुनते, उम पर विशेष रूप में मनन करते। मन में जो प्रश्न उठते; उनकी चर्चा घर जाकर अपनी माता के पास करते और उनका समाधान शोधते। माता बदनाजी उन्हें जो सरल-मा उत्तर देती; उस समय उनकी जिज्ञासा उमीमें मृत हो जाया करती।

एक दिन उन्होंने अपने घरवालों के नामसे अपनी दीक्षा लेने की भावना व्यक्त की, परन्तु उसे बाल-भाव का एक वितोद-मात्र समझ कर यों ही टाल दिया गया। उन्होंने कुछ दिन बाद फिर अपनी बात को दोहराया, परन्तु जमी में उम बात पर गम्भीरता में ध्यान नहीं दिया। उन्हें इस बात पर बहुत रोद हुआ कि वे जिन बात को एक तप्य के रूप में कहना चाहते हैं, घरवाले उसे एक बाल-भाव मात्र समझते हैं; परन्तु वहतुल बात ऐसी नहीं थी। घरवाले उनकी उम भावना में परिचित होने के साथ-साथ स्पष्टचान भी हो गये थे। अपनी 'हाँ' या 'ना' में वे हम बात को संशय-रहित पकड़ा करता नहीं चाहते थे। वे उम समझ्या को मुन-भरने का चन्दर ही चन्दर कुछ प्रयत्न शोधने में लगे थे।

समस्या का मुताबक

बालक गुनगी ने जब देगा कि यह समस्या यों गुनगने वाली नई है तो वे धरने में से ही कोई मार्ग खोजने लगे। मन में एक विचार बौधा और वे हर्षित्पुल्ल हों उठे। उन समय आचार्यश्री कादुर्गम व्याख्यान दे रहे थे। वहाँ की विद्यालय परिषद् उनके नामने उपस्थित थी वे वहाँ गये और व्याख्यान में गडे होकर कठने लगे—गुरुदेव ! मुं आजीवन विवाह करने और व्यापारार्थ परदेस' जाने का त्याग कर दीजिये। मुने वाले चकित रह गये। मोहनलालजी मोच में पड़े गये कि यह क्या हो रहा है ? आचार्यदेव ने शान्त भाव से समझाने हुए कहा—तू अभी बालक है, इस प्रकार का त्याग करना बहुत बड़ी बान होती है

गुरुदेव के उस कथन से मोहनलालजी बडे आश्चर्यसे हुए, परन्तु बान तुलसी के मन में बड़ी उचल-पुचल मच गई। जो सोचा था; वह डा खुल नहीं पाया। वे एक क्षण रके, कुछ असमजसता में पड़े और दूसरे ही क्षण दूसरे मार्ग का निश्चय कर लिया। उन्होंने अपने साहस ब बटोरा और कहने लगे—गुरुदेव ! मैं आपकी सान्धी से ये त्याग करना हूँ

मोहनलालजी अब कहे तो क्या कहे और करें तो क्या करें ? बहूँ व्यक्तियों ने पहले उनको समझाया था, पर भ्रातृ-मोह बाधक बन रह था। समस्या की जो डोर मुलभ नहीं पा रही थी, आपके उस उपक्रम से वह अपने आप मुलभ गई। बान का और डोर का सिरा हाथ ल जाने पर उसे मुलभते कोई देर नहीं लगती।

मोहनलालजी ने परिस्थिति को समझा, दीक्षार्थी के परिणामों ब उत्कटता को समझा और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अब इसे रोकने का प्रयास करना व्यर्थ है। आखिर उन्होंने दीक्षा के लिए आज्ञा प्रदान करने का ही निर्णय किया। उन्होंने गुरुदेव के चरणों में दीक्षा प्रदान

1. उन दिनों धली के ओसवाल व्यापारार्थ प्रायः बंगाल जाया करते थे। वे उसे 'परदेस जाना' कहा करते थे।

करने के लिए प्रार्थना प्रस्तुत की। गुरुदेव ने पहले साधु-प्रतिग्रमण सीखने के लिए आशा प्रदान की और उसके कुछ दिन बाद फिर प्रार्थना करने पर दीक्षा-प्रदान करने के लिए पौष कृष्ण पंचमी का दिन घोषित कर दिया।

एक परीक्षा

दीक्षा ग्रहण करने से एक दिन पूर्व रात्रि के समय मोहनलालजी ने विरागी बालक की भावना तथा साधु-आचार-सम्बन्धी उनके ज्ञान की परीक्षा करने की सोची। मोहनलालजी की चारपाई के पास ही उनकी चारपाई बिछी हुई थी। जब वे सोने के लिए उस पर आकर लेटे तो मोहनलालजी और वे दो ही वहाँ पर थे। परीक्षा के लिए वही ठीक अवसर समझकर मोहनलालजी ने उनसे धीरे से बोल करते हुए कहा कि कल तो तुम दीक्षित हो जाओगे। साधु-जीवन में कठिनाइयाँ-ही-कठिनाइयाँ होनी हैं, अतः बड़ी सावधानी और साहस से तुम्हें रहना होगा। अभी तुम बालक हो; अतः भूल-प्यास के कष्ट भी काफी सताएँगे। कभी किसी समय भोजन मिलेगा तो कभी कितनी समय। कहीं आचार्य देव के द्वारा दूर प्रदेशों में विहार करने के लिए भेज दिए जाओगे तो मार्ग में न जाने कैसे-कैसे कष्टों का सामना करना पड़ेगा। अन्य सब कष्ट तो आदमी फिर भी सह सकता है, परन्तु यदि आहार-पानी नहीं मिला तो तुम जैसे बालक के लिए भूल और प्यास के कष्टों को सहना बड़ा ही कठिन हो जाएगा। परन्तु हाँ; उसका एक उपाय ही सचता है। इतना कहकर उन्होंने अपने पास से सौ रुपये का एक नोट निकाला और उनको देने का प्रयास करते हुए कहने लगे कि यह नोट तुम अपने पास रखो। जब कभी तुम्हारे सामने भूल-प्यास का सकट आए; तब तुम इसे अपने काम में ले लेना।

अपने बड़े भाई की वह बात सुनकर वे बहुत हँसे और छोटा-सा उत्तर देते हुए कहने लगे कि साधु ही जाने के बाद नोट रखना कल्पता ही इहाँ है ?

मोहनलालजी ने उनकी बात का विरोध किया और कहा कि रुपये पैसे रुपये तो नहीं कल्पने, किन्तु यह तो एक वागत्र है। क्या तुम प्रति-दिन नहीं देखते कि गाधुधों के पास कितने वागत्र होते हैं ? तुमने अपनी जो साधु-प्रतिप्रमण भीषा है, वह भी वागत्रों पर ही साधुधों द्वारा लिखा हुआ था। वे इतने गाने वागत्र कल्प में बाहर नहीं है तो फिर यह छोटा-सा वागत्र क्यों नहीं कल्पेगा ? उनमें और इसमें अन्तर अन्तर भी क्या है ? अपने 'पुटे' में एक और ग्य संना; पडा रहेगा; तुम्हारा इसमें नुस्मान भी क्या है ? समय-वे-समय काम ही आयेगा।

उनकी इतनी मारी बानों के उतर में वे बेचन हंगने रहें और बौने-ये तो रुपये ही है। यह नहीं कल्पना। बार-बार मनुहार करने पर भी वे अपनी धारणा पर दृष्ट रहे, तब मोहनलालजी ने समझ लिया कि केवल ऊपर से ही विराग नहीं है, अपितु अन्तरग में है और साप में समय की सीमाओं का भी ज्ञान है। उन्होंने नोट की यथा-स्थान रूप लिया और परीक्षा में उनकी उत्तीर्णता पर मन-ही-मन प्रमथ हुए।

दीक्षा-ग्रहण

आचार्य श्री कालूगणी को लाडणू आवे एक महीना पूर्ण हो चुका था; अतः चतुर्थी के दिन ही वहाँ से विहार कर गाँव से बाहर मालम चन्दजी थोरड की कोठी में पधार गये। कोठी के बाहर ही बहुत बड़ा सुला चौक है। वही दीक्षा प्रदान करने का स्थान निर्णीत किया गया था। प्रातः-काल ही हजारों व्यक्तियों के सम्मुख दीक्षा प्रदान की गई और सीधे वही से विहार कर सुजानगढ़ पधार गये। वह दिन स० १९८२ पौष कृष्णा पंचमी का था।

उस दीक्षा को आचार्य श्री कालूगणी ने सम्भवतः प्रारम्भ से ही बुद्ध विधिप्रसू समझा था। दीक्षा से पहले तो उन्होंने अपनी कोई ऐसी भावना प्रकट नहीं की थी; किन्तु कुछ दिन बाद एक बार वह अनायास ही प्रकट हो गई थी। एक बार उनके पास शकुन-सम्बन्धी बातें च-पड़ी

थी। मुनिश्री चोथमलजीने कहा कि पहले तो शकुनों के फल प्रायः मिला करते थे, यही मुना जाता है, पर अब तो वैसा कुछ नहीं देखा जाता। कालगणी ने तब उसका प्रतिवाद करते हुए फरमाया कि नहीं ही मिलते; ऐसी तो कोई बात नहीं है। अभी हम लोग बीदासर से विहार करके साहगू जा रहे थे; तब अच्ये शकुन हुए थे। फलस्वरूप तुलसी की दांशा कंसी अनायास और अकस्मात् ही हो गई ?

मालूम होता है, उनके उन शब्दों के पीछे कुछ विशिष्ट भावना अवश्य रही थी, जिसको कि उन्होंने कुछ सोला और कुछ ढके ही रहने दिया था। उस समय उस शकुन की विशेषता के प्रति किसी को निष्ठा हुई हो, चाहें न हुई हो, पर अब यह निस्सन्देह बटा जा सकता है कि आचार्य श्री बालूगणी का उस शकुन के विषय में जो विचार था, वह विलुप्त सत्य निकला। आचार्य श्री तुलसी ने अपने विकासशील व्यक्तित्व से अर्थात् तरह सिद्ध कर दिया है कि वे एक विशेष योग्यता-सम्पन्न व्यक्तित्व को लेकर ही दीक्षित हुए थे।



मुनि जीवन के ग्यारह वर्ष

विद्या का बीज-वपन

आचार्यश्री मुलसी ने अपनी ग्यारह वर्ष की लघु अवस्था में ही दीक्षा ग्रहण की थी। उसके बाद वे तत्काल ही विद्यार्जन में लग गये। प्रारम्भ में ही विद्या के विषय में उनको विशेष ध्यातुरता रहा करती थी। गृहस्थावस्था में जब उन्होंने अपना प्रारम्भिक अध्ययन शुरु किया था; तब भी उनकी वह ध्यातुरता लक्षित की जा सकती थी। वे अपनी ब्रह्मा के सबसे अधिक बुद्धिमान् और निपुण विद्यार्थी समझे जाने थे। वे अपनी कक्षा के मानीटर थे। अध्यापक उनके प्रति विशेष विश्वस्त रहा करते थे।

विद्या का बीज-वपन यद्यपि उन्होंने गृहस्थ-जीवन में किया था; किन्तु उसका यथेष्ट अर्जन तो दीक्षा-ग्रहण करने के पश्चात् ही किया। बाल्य अवस्था, तीव्र बुद्धि और विद्या के प्रति प्रेम; इन तीनों का एकत्र संयोग होने से वे अपने भावी जीवन के महल का बड़ी तीव्रता से निर्माण करने लगे।

ज्ञान कण्ठी; दाम अण्ठी

दीक्षा-ग्रहण करते ही साधुचर्या का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए दशवर्षकालिक सूत्र; जो कि प्रायः प्रत्येक नव दीक्षित को कण्ठस्थ कराया जाता है; उन्होंने बहुत छोड़े ही समय में कण्ठस्थ कर लिया। उसके बाद वे संसृति-अध्ययन में लग गये। वे 'ज्ञान कण्ठी और दाम अण्ठी' इस राजस्थानी ब्रह्मवत के हार्द को भली भाँति जानते थे; अतः कण्ठस्थ करने में उनका विशेष ध्यान था। उन्होंने अपने विद्यार्थी-जीवन में करीब

बीस हजार श्लोक-परिमित ग्रन्थ कण्ठस्थ किया था। प्राचीनकाल में तो ज्ञानार्जन के लिए कण्ठस्थ करने की प्रणाली को बहुत महत्त्व दिया जाता था। सारा-का-सारा ज्ञान-प्रवाह परम्पर रूप से कण्ठस्थ ही चलता रहता था; परन्तु युग की बदलती हुई धारणाओं के समय में भी इतना ग्रन्थ कण्ठस्थ करके उन्होंने सबके सामने एक आश्चर्य ही पैदा कर दिया था। उनके कण्ठस्थ किये गये ग्रन्थों में व्याकरण, साहित्य, दर्शन और आगम विषयक ग्रन्थ मुख्य थे।

घो-ची-पू-सी

अपनी मातृ-भाषा के प्रतिरिक्त उन्होंने संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं का अधिकार-पूर्ण अध्ययन किया। उनकी शिक्षा के संचालक मुख्यतः स्वयं आचार्य श्री कालूगणी ही रहे थे। उनके प्रतिरिक्त आधुर्वेदाचार्य, आशुकिरित्त, पण्डित रघुनन्दनजी शर्मा का भी उसमें काफी प्रच्छा सह-योग रहा था। संस्कृत-व्याकरण की दुर्लभता का दिग्दर्शन कराते हुए आचार्यश्री कालूगणी अनेक बार विद्यार्थी साधुओं को एक दोहा फरमाया करते थे। वह इस प्रकार है :

स्नान-पान-चिन्ता तत्रै, निरन्वय मूर्खे मरण ।

घो-ची-पू-सी करतो रहै, जब जावै व्याकरण ॥

अर्थात् “जब कोई स्नान-पान आदि की चिन्ताओं को छोड़कर केवल व्याकरण के ही पीछे अपना जीवन भोक देता है, तथा उतने समय के लिए धोटे, चितारने (धोटे हुए पाठ का पुनरावर्तन करने), पूछ-ताछ करने और लिखने को ही अपना मुख्य विषय बना लेता है; तब कही संस्कृत-व्याकरण को हृदयगत करने में सफलता मिलती है।” इस दोहे के माध्यम से वे अपने शिष्य-वर्ग को यह बतलाने का प्रयास किया करते थे कि व्याकरण सीखने वालों को अपना सबलप कितना दृढ़ करने की तथा अपनी वृत्तियों को कितना केन्द्रित करने की आवश्यकता है।

आचार्य श्री तुलसी ने अपने विद्यार्थी-जीवन में कालूगणी की उसी

प्रेरणा को चलायं कर दिखाया था। वेचन व्याकरण के लिए ही नहीं; वे तो त्रिग विषय को हाथ में लेने में, उनके पीछे उपर्युक्त प्रकार से ही अपने छात्रों को भौक दिया करते थे। कभी न कहने वाली उनकी उन समय में ही उतरों का अर्थव्यवहार को भी व्यंग्यनीय और प्रसन्न को भी सम्भव बना देने का सामर्थ्य प्रदान किया है। विद्यार्थी-जीवन की उनकी वह प्रवृत्ति आज भी रूपान्तर पाकर उमी तरह में विद्यमान है।

कण्ठस्थ ग्रन्थ

अपनी प्रवृत्ति के बल पर वे त्रिग विमी भी ग्रन्थ का कण्ठस्थ करने का निगण्य करते, उमें बहुत स्वल्प समय में ही पूर्ण कर छोड़ते। इसलिए उनकी त्वरता में दूसरों का उनके साथ निग पाना प्रायः कम ही सम्भव रहा। दशवैकालिक सूत्र, भ्रमविष्वसन, अभिधान-चिन्तामणि (नाम माला), सिद्धान्त-चन्द्रिका, भिक्षुगद्दानुसामन, प्रमाणयनत्वानोक और पद्दसंन-समुच्चय आदि आगम, व्याकरण तथा दर्शन-सम्बन्धी ग्रन्थ तो उन्होंने कण्ठस्थ किये ही थे; परन्तु शान्त-मुधारंस, भक्तामर आदि अनेक स्वाध्याय-योग्य ग्रन्थ तथा अनेक छोटे-बड़े व्याख्यान-योग्य ग्रन्थ भी उन्होंने कण्ठस्थ किये थे। इनके अतिरिक्त उन्होंने अनेक ऐसे ग्रन्थ भी कण्ठस्थ कर डाले थे; जिन्हें कि साधारणतया पढ़ लेने में ही काम चल सकता था। सम्पूर्ण सस्कृत-धातुपाठ, गणरत्न-महोदधि तथा उणादि-सूत्रपाठ आदि को उसी कोटि के ग्रन्थों में गिनाया जा सकता है। आज के शिक्षा-विशेषज्ञ इसे बुद्धि पर डाला गया अतिरिक्त भार कहकर अनावश्यक कह सकते हैं, परन्तु जिस व्यक्ति को थोड़ा-सा विशेष ध्यान देकर पढ़ने-मात्र से ही जब पाठ कण्ठस्थ हो जाये तो उसे अनावश्यक तथा भार कैसे कहा जा सकता है? अल्प-बुद्धि छात्रों को वह भार अवश्य हो सकता है, परन्तु वे उस भार को उठाने के लिए उद्यत ही कहीं होते हैं? सम्भवतः उस अवस्था में आचार्यश्री को साधारण अध्ययन की अपेक्षा उसे कण्ठस्थ कर लेने में ही अधिक आनन्द मिलता था।

सौ-सवासी पद्य

उनकी कण्ठस्थ करने की वृत्ति तथा स्वरता का अनुमान एक घटना से लगाया जा सकता है। आचार्यश्री कालूगणी स० १६६१ के शीतकाल में मारवाड़ के छोटे-छोटे गाँवों में विहार कर रहे थे। कहीं अधिक दिनों तक एक स्थान पर टिक कर रहने का अक्सर आने की सम्भावना नहीं थी। ऐसी स्थिति में भी उन्होंने जैन-रामायण को कण्ठस्थ करना प्रारम्भ कर दिया। प्रातःकालीन समय का अधिकांश भाग प्रायः विहार करने में ही व्यतीत हो जाता था। किसी भी कृत्रिम प्रकाश में पढ़ना सधीय मर्यादा से निषिद्ध होने के कारण रात्रि का समय भी काम नहीं लग सकता था। दिन में साधुचर्पा के अन्यान्य दैनंदिन कार्यों का करना भी अनिवार्य था। उन सबके बाद दिन में जो समय अवशिष्ट रहता, उसमें से कुछ हम लोगों को पढ़ाने में लगा दिया जाता था और शेष समय में वे स्वयं पाठ-कण्ठस्थ किया करते थे। इतनी सब दुविधाओं के बावजूद भी उन्होंने उस विशाल ग्रन्थ को केवल ६८ दिनों में ही समाप्त कर डाला। बहुधा वे अपना पाठ मध्याह्न के भोजन से पूर्व ही समाप्त कर लिया करते थे। उन दिनों वे प्रतिदिन पच्चास-साठ से लेकर सौ-सवासी पद्यों तक याद कर लिया करते थे।

स्वाध्याय

वे कण्ठस्थ करने में जितने निपुण थे, उतने ही परिवर्तना (बिचाराणा) के द्वारा उसे याद रखने में भी। अनेक बार वे रात्रि के समय सम्पूर्ण चन्द्रिका की परिवर्तना कर लिया करते थे। शीतकाल में तो प्रायः पश्चिम रात्रि में आचार्यश्री कालूगणी उन्हें अपने पास बुला लिया करते थे और पाठ-श्रवण किया करते थे। पूर्वरात्रि के समय में भी उन्हें जितना समय मिल पाता; उसका अधिकांश वे स्वाध्याय में ही लगाने का प्रयास किया करते थे। यदि कभी नींद या आलस्य आने लगता तो खड़े हो जाया करते थे और अपने उद्दिष्ट स्वाध्याय को पूरा कर लिया करते थे। कभी-कभी तो शयन से पूर्व दो-दो हजार पद्यों तक का स्वाध्याय कर लिया करते

थे। प्रारम्भिक समय की अपनी यह प्रवृत्ति धात्र भी आचार्य श्री करने में गुराक्षित रखे हुए हैं। यद्यपि पूर्वरात्रि में जन-मण्डल आदि जायों की व्यस्तता से उन्हें विशेष समय नहीं मिलना, फिर भी पश्चिम रात्रि में वे बहुधा स्वाध्याय-निरत देखे जा सकते हैं। कभी-कभी ये नव दीक्षितों का पाठ सुनते हुए भी मिल सकते हैं।

सुयोग्य शिष्य

तेरापथ में आचार्य पर जो अनेक दायित्व होते हैं; उन सबसे बड़ा दायित्व है—भावी सभ्यता का चुनाव। उसमें आचार्य को अपनी व्यक्तिगत हित से ऊपर उठकर समाज में से ऐसे व्यक्ति को खोज कर निश्चयना होता है; जो प्रायः सभी की श्रद्धा को प्राप्त करने में सफल हुआ हो तथा भविष्य के लिए भी उनकी श्रद्धा को सुनियोजित रखने का सामर्थ्य रखता हो।

आचार्य अपने प्रभाव-बल से किसी व्यक्ति को प्रभावशाली तो बना सकते हैं; पर श्रेय नहीं बना सकते। श्रेय बनने में आचार-बुद्धता आदि आत्म-गुणों की उच्चता अपेक्षित होती है। श्रेयता के साथ प्रभाव-शालिता अवश्यम्भावी होती है; जबकि प्रभावशालिता के साथ श्रेयता हो भी सकती है और नहीं भी।

इस विषय में आचार्यश्री कालूगणी बड़े भाग्यशाली थे। अपने दायित्व की पूर्ति करने में उन्हें कभी चिन्तित नहीं होना पड़ा। आप जैसे सुयोग्य शिष्य को पाकर वे इस चिन्ता से सर्वथा मुक्त हो गये थे। आप अपने विद्यार्थी-जीवन में ही प्रभावशाली होने के साथ-साथ सभ के अधिकांश व्यक्तियों के लिए श्रद्धास्पद भी बन गये थे। प्रभाव व्यक्तियों के शरीर पर ही नियन्त्रण स्थापित करता है; जबकि श्रद्धा आत्मा पर। किसी भी समाज को ऐसा संचालक सौभाग्य से ही मिल पाता है; जो जनता की आत्मा पर नियन्त्रण कर पाता हो। शरीर पर किये जाने वाले नियन्त्रण की अपेक्षा से यह बहुत उच्च कोटि का नियन्त्रण होता है।

गुरु का वात्सल्य

शिष्य के लिए गुरु का वात्सल्य जीवनदायिनी शक्ति के समान होता है। उसके बिना शिष्यत्व न बनपता है और न विस्तार पाकर फलदायी ही बन सकता है। शिष्य की योग्यता गुरु के वात्सल्य को पाकर धन्य हो जाती है और गुरु का वात्सल्य शिष्य की योग्यता पाकर कुतूहल्य हो जाता है। आचार्य के प्रति शिष्य आकृष्ट हो, यह कोई विशेष बात नहीं है; किन्तु जब शिष्य के प्रति आचार्य आकृष्ट होते हैं; तब वह विशेष बात बन जाती है। आचार्यश्री कालूगणी के पास दीक्षित होकर तथा उनका सान्निध्य पाकर आपको जो प्रसन्नता प्राप्त हुई थी, वह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं थी; परन्तु आपको शिष्य रूप में प्राप्त कर स्वयं आचार्यश्री कालूगणी को जो प्रसन्नता हुई थी, वह असंभव ही आश्चर्यजनक थी। आपने आचार्यश्री कालूगणी का जो वात्सल्य पाया था, वह निश्चय ही असाधारण था। एक और जहाँ वात्सल्य की असाधारणता थी, वहाँ दूसरी ओर नियन्त्रण तथा अनुशासन भी कम नहीं था। कोरा वात्सल्य उच्छूलकता की ओर ले जाता है तो कोरा नियन्त्रण वैमनस्य की ओर। पर जब वे जीवन में साथ-साथ चलते हैं, तब जीवन में सन्तुलन पैदा करते हैं। वह सन्तुलन ही जीवन के हर क्षण में व्यक्ति को विक्रमशील बनाता है।

आचार्यश्री कालूगणी ने आपको सामुदायिक कार्य-विभाग (जो सब माधुषी की बारी में करना होता है)से मुक्त रखा। वे आपके हर क्षण को गिरा में लगा देना चाहते थे। इस विषय में धार स्वयं भी बड़े जागरूक रहते थे। पाँच-दस मिनट का समय भी आपके लिए बहुमूल्य दृष्टा करता था। धार उसका उपयोग स्वाध्याय में कर लिया करते थे। स्वयं गुरुदेव की दृष्टि भी यही रहती थी कि आप अपने समय का अधिक से अधिक उपयोग करें। इस विषय में समय-समय पर वे आपको प्रेरित भी करते रहते थे। निम्नोक्त घटना से यह जाना जा सकता है कि गुरुदेव आपके समय की बितना मूल्यवान् समझते थे।

आचार्यश्री कालूगणी का अन्तिम जनपद-विहार चालू था। वृद्धावस्था के कारण मार्ग में अपेक्षाकृत अधिक समय लगा करता था। विहार के समय आप भी साथ-माथ चला करते थे। एक दिन आचार्यदेव ने आपसे कहा—“तुलसी ! तू आगे चला जाया कर और वहाँ पर सीसा कर।” आप साथ में रहना ही अधिक पसन्द किया करते थे; अतः आपने साथ में रहने का ही अनुरोध किया। परन्तु आचार्यदेव ने उसे स्वीकार नहीं किया और फरमाया कि वहाँ जो कार्य करेगा, वह भी तो मेरी ही सेवा है। आप उसके बाद आगे जाने लगे। इस क्रम में लगभग आध घण्टा समय निकल सकता था। उन्हीं आप अध्ययन-अध्यापन के कार्य में लगाने लगे। जो समय निकल सके, उसका उपयोग कर लेने की ओर ही गुरुदेव का भुलाव था।

योग्यता-सम्पादन

आचार्यश्री कालूगणी आपके योग्यता-सम्पादन में हर प्रकार से सचेष्ट रहते थे। पहले कुछ वर्षों तक विद्याभ्यास के द्वारा धारणक योग्यता प्राप्त कराने का उपाय चला। उसके बाद वस्तुत्वकला में भी धारणो निष्पन्न बनाने का उनका प्रयत्न रहा। मध्याह्न के व्याख्यान का कार्य धारणो मीठा गया। यद्यपि आजकल मध्याह्न का व्याख्यान एक उपेक्षा-मा कार्य बन गया है वही होता है वही नहीं भी होता; परन्तु उस समय उसका बड़ा महत्त्व था। जनता भी काफी आया करती थी।

आपके कुछ मधुर से और महीन भी। आप जब व्याख्यान करते तथा गाने सब लोग मुग्ध हो जाते थे। अनेक बार रात्रि के समय ऐसा भी होता था कि आप कोई गीतिगा गले और आचार्यश्री कालूगणी स्वयं उगड़ी व्याख्या किया करते। कई बार मुनिश्री नभमानजी तथा श्री (मुनि बुद्धमन्त्र) मुनि मुस्तावी' के श्लोक गाया करते और आचार्यश्री के कानिन्ध्य में आप उनका साथ दिया करते। आप अपने कर्तव्य का बहुत ध्यान रखा करते थे। आप कहा करते हैं कि मैं कर्ण-श्री परम्दा में बड़ा होता गया, कर्ण-श्री मोटे स्वर में गाने और बोलने का

प्रवास करने लग गया। इसका कारण थाप यह बतलाने हैं कि ऐसा किने बिना कण्ठो का माधुर्य बना नही रह सकता। आपके विचार से लगभग सोलह वर्ष की अवस्था के आस-पास, जबकि पारीरिक विकास स्वरता से होता है; तब ध्यान न रखने से कण्ठ एकाएक विस्वर बन जाते हैं।

आचार्यश्री कानूगणी के अन्तिम तीन वर्ष उनके जीवन के महत्वपूर्ण वर्षों में से थे। वे वर्ष क्रमशः मारवाड़, मेवाड़ और मालवा की यात्रा में ही बीते थे। उसने पूर्व बहूत वर्षों तक वे यही में ही विहार करते रहे थे। आपकी बीधा के बाद वह उनका प्रथम जनपद-विहार था तथा कानूगणी के अपने जीवन की दृष्टि में अन्तिम। वह विहार मानो आपको अपने श्रद्धानुष्ठानों तथा उनके क्षेत्रों में परिचित कराने के लिए ही हुआ था। उस यात्रा में पूर्व आपका जन-सम्पर्क काफी सीमित था। यात्रा-काल में उमका काफी विस्तार हुआ। व्यावहारिक ज्ञानार्जन के लिए वे वर्ष बहूत ही मूल्यवान् निद हुए।

आचार-नुशलता और अनुभावन-नुशलता आपको अपने मस्वागों के माप ही प्राप्त हुई थी। उनकी आपने अपने प्रयास में दिन-प्रतिदिन और भी नियार लिया था। विद्या तथा व्यवहार-नुशलता आपने आचार्यश्री कानूगणी के माधिर्य में प्राप्त की और उन्हें अपने अनुभवों के आधार पर एक आनन्दक रूप प्रदान किया। आपकी योग्यताओं का निवार स्वयं आचार्यश्री कानूगणी को इष्ट था। वे उनकी प्रगति में अत्यन्त प्रसन्न थे।

सष की धार्मिक प्रवृत्तियों में भी आचार्यश्री कानूगणी समसमय पर आपका उपयोग करते थे। उनका बहुमुखी अनुग्रह हर दिशा में आपको परिपूर्ण बनाने का रता करता था। इन्हीं कारणों से आपकी और समूचे सष का ध्यान निच गया। लोग आपके विषय में बड़ी-बड़ी कल्पनाएँ करने लगे। सष के विभिन्न साधु भी आपको श्रद्धा की दृष्टि में देखने लगे। आपका प्रभाव सभी पर होने लगा। आपने त्रिम अन्तर्लान्ति यदि से योग्यता का सम्पादन किया, वह सचमुच ही बड़ा प्रभाव-वाली था।

शिक्षा या संकेत ?

बालुगणी का विहार उन दिनों मारवाड़ में कठि के गाँवों में हो रहा था। एक बार सायफाजीन प्रतिप्रमाण के पदचान्त्र जब आर वन्दन के लिए गये तो आचार्य श्री बालुगणी ने आपको अपने पास आने का मन्त्र किया। आपने समीप जाकर वन्दन किया तो गुरुदेव ने एक शिक्षात्मक सोरठा रचकर सुनाया और फरमाया कि सबको मिथा देना। वह सोरठा था :

सीखो विद्या मार, पर हो कर परमाद नै ।

बधसी बहु विस्तार, धार सीए धीरज नै ॥

दूसरे दिन राम को गुरुवन्दन के पश्चात् जब आप मुनिश्री मगनलालजी को वन्दन करने गये, तब उन्होंने पूछा—“कल आचार्यदेव ने जो सोरठा कहा था, उसके उत्तर में तू ने वापिस कुछ निवेदन किया या नहीं ?”

आपने कहा—“किया तो नहीं ।”

आगे के लिए भाग बतलाते हुए मुनिश्री मगनलालजी ने कहा—“अब कर देना ।”

आपने उस बात को शिरोधार्य कर उत्तर में जो सोरठा निवेदन किया; वह इस प्रकार है :

महर रखो महाराय, लख खाकर पदकमल नों ।

सीए अपो सुखदाय, निम जल्दी शिव-गति लहूं ।

अकेले आचार्यश्री बालुगणी के सोरठे को देखने से लगता है कि उसके द्वारा शिष्यों को शिक्षा दी गई है। पूर्व भूमिका सहित जब दोनों सोरठों को देखते हैं; तब लगता है कि सवाद है। पर क्या इतने से मन भर जाता है? वह अपने समाधान के लिए गहराई में जाता है; तब इनके शब्द तथा अर्थ तो ऊपर रह जाते हैं और उनकी मूल प्रेरणाओं के प्रकाश में जो समाधान निकलता है, वह कहता है कि ये किसी अर्ध-प्रकाशित संकेत के प्रतीक हैं।

आचार्यश्री बालुगणी एक गम्भीर प्रकृति के आचार्य थे; अतः उनके

मुनि जीवन के ग्यारह वर्ष

मन की गहराई को स्पष्ट समझ प्राप्त करता कठिन होता, प्राप्ति मन्त्री
मगनलालजी उनके बाल्यवस्था के साथी थे; भक्त सम्भजन व उनके
सबेत्तों को अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट समझते थे। तभी तो उन्होंने आपको
उस साकेतिक पद्य का उत्तर देने की प्रेरणा दी होगी। धर्म्य किसी के
पास उन सबेत्तों को समझने के साधन तो नहीं थे; पर धनुमान धनेको
का यही था कि उसके द्वारा गुरुदेव ने अपनी प्रतिभय कृपा का द्योतन
करने के साथ-साथ भावी के लिए बहुविस्तार का आशीर्वाचन भी दिया था।

विस्तार में योग-दान

बीज छोटा होता है; पर उसकी योग्यताएं बहुत बड़ी होती हैं। उसके
अपने विधात के साथ-साथ योग्यताओं का भी विस्तार होता रहता है।
उस विस्तार में धनेको का योग-दान होता है। बीज उसे कृतज्ञतापूर्वक
ग्रहण करता है और धागे बढ़ता है। धाचार्यश्री ने व्याप्त बीज-शक्तियों
का विकास भी उसी क्रम से हुआ है। वे धाज जो कुछ हैं; वैसे बनते धनेक
वर्ष लगे हैं। धाज भी वे अपने आपको परिपूर्ण नहीं मानते। वे मानते
हैं कि निर्माण की गति कभी रुकनी नहीं चाहिए। मनुष्य की सीखते ही
रहना चाहिए। जहाँ उपयोगी वस्तु मिले, उसे निःसंकोच भाव से
ग्रहण करते रहना चाहिए। उन्होंने अपने बाल्य-जीवन से धाज तक
धनेको व्यक्तियों से सीखा है। हर एक का यही क्रम होता है। पहले स्वयं
सीखता है; तब फिर सिखाने योग्य बनता है। शिष्य बने बिना कौन गुरु
बन पाया है? हर एक व्यक्ति के ज्ञान तथा धारात धनेक गुरु होते हैं।
प्रथम गुरु माना जो माना जाता है। शिक्षा का बीज-वपन उसीसे प्रारम्भ
होता है। उसके प्रतिरिक्त परिवार के तथा धास-धाम के वे सब व्यक्ति
कुछ-न-कुछ सिखाने में सहयोगी बनने ही हैं; जिनके कि सम्पर्क में आते
रहने का अवसर मिलता है। बिम्बे क्या और जिनका सिखाना है; इसका
बिम्बेपण करना सहज नहीं होता; धन. उनके प्रति कृतज्ञता-आपन का
यही उपाय हो सकता है कि व्यक्ति सबके प्रति विनम्र रहे। बहुतों में

व्यक्तियों के उपकार बहुत स्याद भी होते हैं। उन्हें पूरक रूप में पहचाना जा सकता है। ऐसे व्यक्तियों के प्रति जो विनम्र तथा प्रतिभावादी भाव-हार होता है वही जनसत्ता का मातृरूप बन जाता है।

आचार्यश्री धारा महेश-महेश व्यक्तियों को उत्कृष्ट कर रहे हैं; परन्तु वे स्वयं भी धनरा में उत्कृष्ट हुए हैं। वे अपने उत्कृष्टताओं के विना में अपने कर्तव्य को जानते हैं। उन व्यक्तियों के नाम में ही वे जनसत्ता में भर उठते हैं।

प्रत्यक्ष उपकारों में वे धनरा सबसे बड़ा उपकारक आचार्यश्री कानूगणी को मानते हैं। इसीलिए वे उसके प्रति सर्वतोभावेन समर्पित हो कर चलते हैं और धनरा हर क्रिया की श्रेयोभिमुक्तता में उन्हीं को धान-रिक्त प्रेरणा मानते हैं। उनके उपकारों को वे अनिश्चयताय मानते हैं। वे आज जो कुछ है; वह सब आचार्यश्री कानूगणी की ही देन है।

माना बदनामी के उपकार को भी वे बड़ा महत्त्व देते हैं। उनके द्वारा उप्त धार्मिकता का बीज ही जो धारा विकसित होकर जनसत्ता बना है। धागम कहते हैं कि पुत्र पर माना का इतना उपकार होता है कि यदि वह आजीवन उनके मनोनुकूल रहे, सभी शारीरिक सेवाएँ करे, तो भी वह शूल-मुक्त नहीं हो सकता। उनको धार्मिकता में नियोजित करे तो शूल-मुक्त हो सकता है। आचार्यश्री ने वही क्रिया है। पुत्र के द्वारा दीक्षित होने वाली माताएँ इतिहास में चिरल ही मिल पायेंगी। स्वभाव की शूलना, निरभिमानिता तथा तपस्या ने उनके समय को धीरे भी उज्ज्वलता प्रदान की है।

मन्त्री मुनिश्री भगनलालजी ने भी आपके निर्माण में बहुत महत्त्व-पूर्ण योगदान दिया था। सर्व प्रथम वे आपकी दीक्षा में सहयोगी बने थे। उनकी प्रेरणा ने ही परिवार वालों को इतनी शीघ्र आज्ञा देने को तैयार किया था। दीक्षा के पश्चात् भी वे आपके हर विकास को प्रोत्साहन देते रहे थे। युवाचार्य बनने पर वे आपके कर्तव्यों का मार्ग प्रशस्त रहे थे। आचार्य बनने के बाद वे आपकी मन्त्रणा के प्रमुख भव-

लम्बन बनकर रहे थे। आचार्यश्री ने उनके उस महत्त्वपूर्ण योग-दान को यों प्रकट किया है—“उस सन्धिकाल में जब पूज्य कालुगणी का स्वर्ग-वास हुआ था और मैंने छोटी अवस्था में सद्यः का उत्तरदायित्व सम्भाला था, यदि वे नहीं होते तो मुझे न जाने किन-किन कठिनाइयों का अनुभव करना होता””

वे आचार्यश्री को किस प्रकार सहयोग-दान करते थे, यह भी आचार्यश्री के शब्दों में ही पढ़िये—“एकदिन वे आये और बोले कि आप कभी-कभी मुझे सबके सामने उलाहना दिया करें। मेरा तो उसमें कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, दूसरों को एक बोध-पाठ मिलेगा।” यह उस समय की बात है; जबकि आपने शःसन-भार सम्भाला ही था। उस समय उपर्युक्त प्रार्थना करने का उनका उद्देश्य यह था कि लघुवय आचार्य के व्यक्तित्व की कोई अवहेलना न कर पाये।

मन्त्रीमुनि के स्वर्गवास होने के समाचार पाकर आचार्यश्री ने कहा था—“वे अतुलनीय व्यक्ति थे। उनकी कमी को पूरा करने वाला कौन साधु है? कोई एक साधु उनकी विशेषताओं को न पा सके तो अनेक साधु मिलकर उनकी विशेषताओं को सजोके। उन्हें जाने न दे।”

मुनिश्री चम्पालाल जी आचार्यश्री के ससाल पथीय बड़े भाई हैं। वे उनकी दीक्षा में प्रमुख रूप से प्रेरक रहे थे। दीक्षा के अनन्तर आप उन्हीं की देख-रेख में रहते थे। उनका नियन्त्रण काफी कठोर होता था, पर जो स्वयं आपने नियन्त्रण में रहता हो, उसके लिए दूसरे का नियन्त्रण केवल व्यवहार-मात्र ही होना है। रालिक तथा बड़े भाई होने के नाते वे सर्वत्र उनका उस समय भी सम्मान करते रहे थे, आज भी करते हैं। आपने निर्माण में वे उनका भी श्रेयोभाग मानते हैं।

१. जैन भारती २८ फरवरी, १९६०

२. जैन भारती २८ फरवरी, १९६०

३. जैन भारती २८ फरवरी, १९६०

आचार्य अर्जुन-दास या मुनिश्री चोपमलजी का भी प्रस्ताव मंजूर रहा था। वे एक मेराभाजी और चारों-निष्ठ व्यक्ति थे। भिक्षुशब्दानुशासन महाध्यायण तथा बामुक्तोद्गीष्टादि के निर्माण में उनका जीवन लगा था। तेरापथ के भावी छात्रों के लिए उनका धर्म बरदान बन गया। वे जो भी चाहे करते थे, पूरी लगन से करते थे।

आयुर्वेदशास्त्र में आयुर्विज्ञान, पण्डित रघुनन्दनजी दासों तेरापथ में विद्या-प्रसार के लिए बहुत बड़े निमित्त बने हैं। उनसे पूर्व पण्डित घनदयामदाम जी ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया था। उन्होंने अपना सहयोग उस समय दिया था, जबकि बिना धर्म-प्राप्ति के उनका प्रयत्न करने वाले मिलने ही कठिन थे। प० रघुनन्दनजी का महत्व इसलिए है कि विद्या-विकास का द्वार पूर्णतः उन्हीं के योग में खुला था। मुनिश्री चोपमलजी ने भिक्षुशब्दानुशासन का निर्माण किया। पण्डित जी ने उस पर सहृदयतापूर्वक विचार-तेरापथ के मुनि-समाज को मसूदा-अध्ययन में स्वावलम्बी बना दिया। आचार्यश्री को व्याकरण तथा दर्शन-शास्त्र के अध्ययन में इन्हीं का योगदान रहा था।

आगम-ज्ञान धर्जन करने में आचार्यश्री के भाग-दशक मुनिश्री भीमराजजी तथा मुनिश्री हेमराजजी थे। मुनिश्री भीमराजजी को आगमों का जितना गहरा ज्ञान था, उनका कम ही व्यक्तियों को होता है। वे अनेक सन्तों को आगम का अध्ययन कराते रहते थे। समय के बड़े पक्के थे। निर्णीत समय से पाँच मिनट पहले या पीछे भी उन्हें झट-रता था। आगम-रहस्यों की गहराई तक स्वयं उनकी तो अबाध गति थी ही; पर वे अपने छात्रों में भी वसा ही सामर्थ्य भर देते थे। आचार्यश्री ने उनके पास अनेक आगमों का अध्ययन किया था। वे अपने शेष जीवन तक अपने ही प्रकार से जिंये। सेवा लेना उन्होंने प्रायः कभी पसन्द नहीं किया। पराथयी होकर जीना उनके सिद्धान्तवादी मन ने कभी स्वीकार नहीं किया था। आचार्यश्री की दृष्टि में उनके गुरु अनुकरणीय तो थे ही; पर साथ ही अनेक गुरु ऐसे भी थे; जो अद्वितीय थे।

मुनिश्री हेमराजजी का भी आगम-ज्ञान बड़ा गहरा था। आगम-मन्थन उन्होंने इतने बड़े पैमाने पर किया था कि साधारणतया उनके तर्कों के सामने टिक पाना कठिन होता था। आचार्यश्री के आगम-ज्ञान को परिपूर्णता की ओर ले जाने में उनका पूरा हाथ था।

आचार्यश्री इन सभी व्यक्तियों के प्रति विशेष रूप से कृतज्ञ रहे हैं। बातचीत के सिलसिले में जब कभी इन व्यक्तियों में से किसी का भी प्रसंग उपस्थित हो जाता है; तब वे बड़े भावुक बनकर इनका वर्णन करते हैं। अपने गुरुजनो और श्रद्धेयो के प्रति उनकी अतिशय कृतज्ञता की यह भावना उनके गौरव को और ऊँचा उठा देती है।



: ३ :

युवाचार्य

घोषणा

ग० १९६३ में छात्रागर्थी वागुगरी का मानुर्माधिक निवास गणपुर (मैवाड) में था। वही पट्टेने में पूरे ही उनका शरीर रोगाणुना। गया था। फिर भी ये गणापुर पट्टेने। शरीर कमन रंगों में प्रतिष्ठाविधिरा गया। बरने की सामाएँ गूमिन होने लगी। तेरी स्थिति में मके भावी अधिचारी का निर्णय करना अव्यक्त मान्यक था।

तेरापथ के विधानानुसार छात्रागं छात्री विद्यमानता में ही छात्राचार्य का निर्धारण करने हैं। यह उनका मबमे बडा और महत्त्व उत्तरदायित्व होता है। यदि वे किमी वागुगवन अपने इस उत्तरदायित्व का निर्यहन नहीं कर पाते तो यह उनके बन्धु की अपूर्ति तो हॉनी ही है परन्तु वह स्थिति सारे मध के लिए भी चिन्ताजनक हो जाती है। छात्रागं श्री माणकगणी के समय एक बार ऐसा हो चुका था। उस समस्या को बही सात्त्विक ढग में मुलभाकर तेरापथ एक विकट परीक्षा में उत्तीर्ण हुए था। वैसे परिस्थिति का दुहराया जाना किमी को अभीष्ट नहीं था। सप हितैषी जन ऐसे समय में विशेष सावधानी बरतने हैं, अनः अनेक व्यक्तिये ने गुरुदेव का ध्यान उस समस्या की और सीचा। कालूगणी स्वयं ही उ विषय में पूर्णतः सजग थे। उन्होंने उचित समय पर उस कार्य के सम्पन्न कर देने की घोषणा कर दी।

आदेश-निर्देश

गुरुदेव ने आपको एकान्त में बुलाना प्रारम्भ कर दिया। उत्तमे छात्रा को संघ की सारणा-वारणा-सम्बन्धी आवश्यक आदेश-निर्देश दिये गये

कुछ बातें मुखरथ कही गईं तथा कुछ लिप्याई भी गईं। इतने दिन तक जो बातें बेदल सवेत के रूप में ही सामने आती थी, उस समय वे सब स्पष्टता में सामने उभरने लगीं। जन-जन की कल्पनाओं में बना हुआ अद्वयकृत चित्र तब व्यवहार के पट पर स्पष्ट रेखाओं के रूप में अभिव्यक्त होने लगा। गुरुदेव उन दिना साधु-साध्वियों को विशेष शिक्षा प्रदान करते समय यह कहने—“किसी समय भगवायं अवस्था में छोटे होते हैं, किसी समय बड़े, फिर भी सबको महान रूप से उनके अनुशासन का पालन करना चाहिये। गुरु जो कुछ करते हैं, वह शासन के हित को ध्यान में रखकर ही करते हैं।” तब प्रायः सभी जानने लग गये थे कि गुरुदेव का सवेत क्या है। गुरुदेव उसे छिपाना चाहते भी नहीं थे। नाम की उद्घोषणा नहीं की गई थी, बेदल इसीलिए वे उसे बचाना चाहते थे।

उत्तराधिकार-पत्र

विधिवत् उत्तराधिकार-समर्पण करने का कार्य प्रथम भाद्र शुक्ला कृतीया को सम्पन्न किया गया। प्रातःकाल का समय था। रंग-भवन के हॉल में साधु-साध्वियाँ तथा कुछ श्रावक उपस्थित थे। सारी जनता को वहाँ जाने की छूट नहीं दी जा सकती थी। उस हॉल में तो क्या, विशाल पण्डाल में भी वह नहीं समा सकती थी। लोग बहुत बड़ी सह्या में धाये हुए थे। कहा जाता है कि गंगापुर बसने के बाद इतने लोगों का आगमन वहाँ पहले-पहल ही हुआ था। जनता में अपार उत्सुकता थी। सब कोई युवाचार्य-पद प्रदान करने के उत्सव में सम्मिलित होना चाहते थे, पर ऐसा सम्भव नहीं था। स्थितिजन्य विवशता थी। हण होने के कारण गुरुदेव पण्डाल में तो क्या; उस कमरे से बाहर भी नहीं जा सकते थे। हॉल में भी अधिक भीड़ का एकत्रित होना अभीष्ट नहीं था। इससे उनके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की सम्भावना थी।

अशक्त होते हुए भी कर्तव्य की पुकार के बल पर धाचार्य श्री कालू-

गणी बैठे। युवाचार्य-पद का पत्र लिखा। फूलते हुए साँस, घूबते हुए हाथ और पीडा-व्याकुल प्रत्यग की अबहेलना करते हुए उन्होंने कुछ पक्तियाँ लिखीं। मोटे-मोटे अक्षर और टेढ़ी-मेड़ी पक्तियों वाला वह ऐतिहासिक पत्र कई विधायकों के बाद पूरा हुआ। तदनन्तर भावको युवाचार्य-पद का उत्तरीय धारण कराया गया और पत्र पढ़कर जनता को मुनाया गया। उसमें लिखा था :

गुरुभ्योनमः

भिष्णु पाट भारीमल

भारीमल पाट रायचन्द्र

रायचन्द्र पाट जीतमल

जीतमल पाट मधराज

मधराज पाट माणकलाल

माणकलाल पाट डालचन्द्र

डालचन्द्र पाट कालूराम

कालूराम पाट तुलसीराम।

विनयतः आला-भर्यादा प्रमाणे चालसी, सुखी होसी।

सन् १८८३ भाद्रपद प्रथम सुदी ३ गुरुवार।

आचार्यश्री बालूगणी तथा युवाचार्य श्री तुलसी के जयनादों से बनावरण सुत्रापमान हो गया। योग्य धर्मनेता को प्राप्त कर सबको गौरवानुभूति हुई। आचार्यश्री बालूगणी तो सध-प्रबन्ध की चिन्ता में मुक्त हुए ही; परन्तु साथ में सारे सध को भी निश्चिन्तता का अनुभव हुआ।

अदृष्ट-पूर्व

युवाचार्य के प्रति साधु-साध्वियों के क्या कर्तव्य होते हैं; यह जानने वाले वहाँ बहुत कम ही साधु थे। जयाचार्य के समय आचार्यश्री मधराजणी धनेश वहाँ तक युवाचार्य रहे थे। उसके बाद लगभग ५५ वर्षों में कोई ऐसा धनुर धारा ही नहीं। आचार्यश्री माणकगणी को युवाचार्य पद दिया गया था, पर वह धारण स्वल्पकालीन था, अतः कर्तव्य-बोध

के लिए नगण्य-सा ही समय प्राप्त हुआ था। उसे देखने वालों में भी एक तो स्वयं गुरुदेव तथा दूसरे मुनिश्री मगनलालजी; बस ये दो ही व्यक्ति वहाँ विश्राम थे। शेष के लिए तो वह पद्मनि अद्भुत-पूर्ण ही थी।

पहले-पहल स्वयं गुरुदेव ने ही युवाचार्य के प्रति साधु-साध्वियों के कर्तव्यों का बोध-प्रदान किया। शेष सारी बातें मन्त्रीमुनिश्री मगनलालजी यथासमय बतलाते रहे थे। आचार्य के समान ही युवाचार्य के सब काम किये जाते हैं। पद की दृष्टि से भी आचार्य के बाद उन्हीं का स्थान होता है। गुरुदेव ने युवाचार्य के व्यक्तित्व में वाक्यांशों का भार मुनिश्री तुलीचन्दजी (शार्दूलपुर) को सौंपा। वे अपने उस कार्य को आज भी उसी निष्ठा और लगन से तथा पूर्ण निष्काम और निर्लेप-भाव से कर रहे हैं।

अधूरा स्वप्न

आचार्यश्री कालूगणों को अपने स्वास्थ्य की अत्यन्त शोचनीय अवस्था के कारण ही उस समय उत्तराधिकारी की नियुक्ति करनी पड़ी थी; अन्वया उनका स्वप्न कुछ और ही था। अपने उस अधूरे स्वप्न का अत्यन्त भाविक शब्दों में विवेचन करते हुए एक दिन उन्होंने सभी के समक्ष कहा भी था कि युवाचार्य-पद प्रदान करने की मेरी जो योजना थी; वह मेरे मन में ही रह गई। अब उसकी पूर्ति सम्भव नहीं है। जिन कार्य को मैं छोटाजी (छोर तपस्विनी गुरुदेव की सत्कार पत्नीमा माना) के पान बीदासर पहुँचने के पश्चात् सु-आयोजित ढंग से करने वाला था, वह मुझे यहीं पर बिना किसी विशेष आयोजना के करना पड़ा है। काल के सम्मुख किसी का कोई बल नहीं है।

नये वातावरण में

युवाचार्य बनने के साथ ही आपकी नये वातावरण में प्रवेश करना पड़ा। वहाँ सब कुछ नया-ही-नया था। नये सम्मान का भार इतना बढ़ गया था कि आप उसमें बचना चाहते थे; परन्तु अब नहीं पा रहे थे।

जनता द्वारा धर्म पर डाँट और विचार की बाँट में जनता मानने की विचार-प्रवृत्ति का यह एक प्रसंग है। तब शास्त्रार्थ की बातें का ध्यान सम्मान करने रहे थे, सब ने सब धारणा सम्मान करने लगे थे। उनके सामने पड़े ही धारणा धर्म भूत बातों थी। वे शास्त्रार्थ की बातों की तुलना-समीक्षा में धारणा का प्रयोग करने में अभिभूत हो जाते थे। उन दिनों का विचार भी आज मान्य बना ही जा रहा है। सभी को ही दमन करने वाला परिस्थिति बनना चाहते थे। कम-से-कम एक बार गुन हीकर देना तो चाहते ही थे।

जय व्याख्यान देने गये

ये तो व्याख्यान धारणा की बातें में ही देने का रहे थे। जनता की समझ-बूझ करने की धारणा में बहुत क्षमता थी, परन्तु उम्र दिन जहाँ युवाचार्य बनने के पदचान् धारणा धारणा प्रथम व्याख्यान देने गये; तब आपकी मान्य की स्थिति बड़ी ही विचित्र थी। सब भी धारणा कर्म-नर्म धारणा उम्र मान्य-स्थिति का पुनरुत्थान या विद्वान्पण करने हैं; तब भाव-विभोर हो जाते हैं।

पण्डाल जनता में संचालित भरा हुआ था। उसके सामने की ऊँची चौकी पर पट्टा बिछाया गया था। उसी के पास बैठ कर पहले मुनिधी मदनलालजी ने जनता को धर्मोपदेश दिया और कुछ देर बाद व्याख्यान देने के लिए आप गये। अनेक मुनि साथ थे। वृद्ध मुनिधी मदनलालजी तथा तत्रस्थ जनता ने खड़े होकर युवाचार्योचित अभिवादन किया। आप उन्हें स्वीकार करते हुए चौकी पर बैठकर पट्टा के पास आये; किन्तु सट्टा ही ठिठक कर खड़े रह गये। जनता आपके बैठने की प्रतीक्षा में खड़ी थी; पर आप बैठ नहीं पा रहे थे। सम्भवतः आप सोच रहे थे कि वयोवृद्ध तथा सम्मान्य मुनिधी मदनलालजी के सामने पट्टा पर बैठे तो कौन? मुनिधी ने देखा तो बढ़कर आगे आये, प्रार्थना की, जोर दिया और जब उससे भी काम नहीं बना तो हाथों के कोमल तथा शक्ति-सम्भूत दबाव से

आपको उस पर बिठाकर ही रहे। उस समय उस कार्य का प्रतिकार करने की कोई स्थिति आपके पास नहीं थी।

जैसे-तैसे सहमे-सहमे, सकुचे-सकुचे-से आप पट्ट पर बैठ तो गये; परन्तु तब भी व्याख्यान की समस्या तो सामने ही थी। बड़ी निर्भोक्ता से व्याख्यान देने का सामर्थ्य रखते हुए भी उस दिन प्रायः समूचे व्याख्यान में आपके नेत्र ऊँचे नहीं उठ पाये। वह नये उत्तरदायित्वों की भिन्नक थी, जो कि प्रथम व्याख्यान के अवसर पर सहसा उभर आई थी।

वह प्रथम अवसर की भिन्नक थी। अन्दर की योग्यता उसमें से भी भौंक-भौंक कर बाहर देव रही थी। आपने अपने सामर्थ्य तथा वर्चस्व को वहाँ जितना भी छिपाने का प्रयास किया; वह उतना ही अधिक प्रबलता के साथ उभर कर बाहर आया। शीघ्र ही आपने अपने को उस नये बालावरण के अनुरूप ढाल लिया। भिन्नक मिट गई।

केवल चार दिन

युवाचार्य-पद प्रदान करने के बाद आचार्य श्री कालूगणी एक प्रकार से विन्ता-मुक्त हो गये थे। सघ-प्रबन्ध के सारे काम आप करने लग गये थे। कुछ काम तो पहले से ही आपको सौंपे हुए थे, परन्तु अब व्याख्यान, भाषा, धारणा आदि भी आपको सँभला दिये गये। आचार्य के सम्मुख युवाचार्य की स्थिति बड़ी सुन्दर घटना थी, परन्तु वह अधिक लम्बी नहीं हो सकी। चार दिन बाद ही आचार्यश्री कालूगणी का देहावसान हो गया। युवाचार्य के रूप में हम उन्हें केवल चार दिन ही देख पाये। मन कल्पना करता है कि वे दिन बढ़ पाये होते तो कितना ठीक होता? परन्तु कल्पना को वास्तविकता के सत्कार में उतर आने का हम ही अवसर मिलता है। इसीलिए सारे सघ में उन चार दिनों में जो कुछ देखा, पाया, उसी को अपनी दृष्टि में सुरक्षित रखकर अपने को कुलकुर्य माना।

जनता द्वारा अर्पित श्रद्धा और विनय की बाढ़ में आप अपने को विराम अनुभव कर रहे थे। जिन रास्तिक मुनियों का आप सम्मान करते रहे थे, अब वे सब आपका सम्मान करने लगे थे। उनके सामने पड़ते ही आंखें झुक जाती थी। तैरापय संघ की विनय-पद्धति की एवापेक्षा आपके अत्यंत आश्रित रूप में अभिभूत कर लिया था। उन दिनों का जिघर में भी जाते, मार्ग जनाकीर्ण ही होता। सभी कोई दसंत कर चाहते, परिचय करना चाहते, कम-से-कम एक बार नृप होकर देन ले तो चाहते ही थे।

जब व्याख्यान देने गये

यो तो व्याख्यान आप कई वर्षों से ही देते आ रहे थे। जनता का रम-प्लावित करने की आप में अतृप्त क्षमता थी, परन्तु उस दिन वर्षा युवाचार्य बनने के पश्चात् आप अपना प्रथम व्याख्यान देने गये; तो आपके मानस की स्थिति बड़ी ही विचित्र थी। अब भी आप कभी-कभी अपनी उम मानस-स्थिति का पुनरवलोकन या विश्लेषण करते हैं; तो भाव-विभोर हो जाते हैं।

पण्डाल जनता में श्वास्त्य भरा हुआ था। उसके सामने ही ऊँचे चौकी पर पट्ट विधायी गया था। उसी के पास बैठ कर पहले मुनिश्री मदनलालजी ने जनता को घमोंपदेश दिया और कुछ देर बाद व्याख्यान देने के लिए आप गये। अनेक मुनि साथ थे। वृद्ध मुनिश्री मदनलालजी तथा तत्रस्थ जनता ने खड़े होकर युवाचार्योचित अभिवादन किया। आप उसे स्वीकार करते हुए चौकी पर चढ़कर पट्ट के पास आये; किन्तु सह्या है टिकक कर खड़े रह गये। जनता आपके बैठने की प्रतीक्षा में खड़ी थी, पर आप बैठ नहीं पा रहे थे। सम्भवतः आप सोच रहे थे कि बड़े-बड़े तथा सम्मान्य मुनिश्री मदनलालजी के सामने पट्ट पर बैठे तो कैसे? मुनिश्री ने देखा तो बढ़कर आगे आये, प्रार्थना की, जोर दिया और यह उसमें भी काम नहीं बना तो हाथों के कोमल तथा भक्ति-समृद्ध दण्ड के

आपको उस पर बिठाकर ही रहे। उस समय उस कार्य का प्रतिकार करने की कोई स्थिति आपके पास नहीं थी।

जैसे-तैसे सहमे-सहमे, सकुचे-सकुचे-से आप पट्ट पर बैठ तो गये; परन्तु तब भी व्याख्यान की समस्या तो सामने ही थी। बड़ी निर्भीकता से व्याख्यान देने का सामर्थ्य रखते हुए भी उस दिन प्रायः समूचे व्याख्यान में आपके नेत्र ऊँचे नहीं उठ पाये। वह नये उत्तरदायित्वों की भिन्नक थी; जो कि प्रथम व्याख्यान के अवसर पर सहसा उभर आई थी।

वह प्रथम अवसर की भिन्नक थी। घन्दर की योग्यता उसमें से भी भौंक-भौंक कर बाहर देख रही थी। आपने अपने सामर्थ्य तथा वर्चस्व को वहाँ जितना भी छिपाने का प्रयास किया; वह उतना ही अधिक प्रबलता के साथ उभर कर बाहर आया। शीघ्र ही आपने अपने को उस नये वातावरण के अनुरूप ढाल लिया। भिन्नक मिट गई।

केवल चार दिन

युवाचार्य-पद प्रदान करने के बाद आचार्य श्री कालूगणी एक प्रकार से चिन्ता-मुक्त हो गये थे। सघ-प्रबन्ध के सारे काम आप करने लग गये थे। कुछ काम तो पहले से ही आपको सौंपे हुए थे, परन्तु अब व्याख्यान, भाषा, धारणा आदि भी आपको सँभला दिये गये। आचार्य के सम्मुख युवाचार्य की स्थिति बड़ी सुखद घटना थी, परन्तु वह अधिक लम्बी नहीं हो सकी। चार दिन बाद ही आचार्यश्री कालूगणी का देहावसान हो गया। युवाचार्य के रूप में हम उन्हें केवल चार दिन ही देख पाये। मन कल्पना करता है कि वे दिन बढ़ पाये होते तो कितना डीक होता? परन्तु कल्पना को वास्तविकता के सत्तार में उतर आने का कम ही अवसर मिलता है। इसीलिए सारे सघ ने उन चार दिनों में जो कुछ देखा, पाया; उसी को अपनी सृष्टि में सुरक्षित रखकर अपने को कृतकृत्य माना।



तेरापंथ के महान् आचार्य

शासन-सूत्र

तेरापंथ की देन

आचार्यश्री तुलसी एक महान् आचार्य हैं। उनका निर्माण तेरापथ में हुआ है; अतः उनके माध्यम से आज यदि जन-जन तेरापथ से परिचित हुआ है तो कोई आश्चर्य नहीं। वे तेरापथ से और तेरापथ उनसे भिन्न नहीं है। तेरापथ उनकी शक्ति का स्रोत है और वे तेरापंथ की शक्ति के केन्द्र हैं। यह शक्ति कोई विनाशक या विभोजक शक्ति नहीं है; यह धर्म-शक्ति है; जो कि विधायक और सयोजक है। तेरापंथ को पाकर आचार्यश्री अपने को धन्य मानते हैं तो आचार्यश्री को पाकर तेरापंथ गौरवान्वित हुआ है।

जो व्यक्ति आचार्यश्री तुलसी को गहराई से जानना चाहेगा; उसे तेरापथ को और जो तेरापथ को गहराई से जानना चाहेगा; उसे आचार्यश्री तुलसी को जानना आवश्यक होगा। उन्हें एक दूसरे से भिन्न करके कभी पूरा नहीं जाना जा सका। भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश श्री बी० पी० सिन्हा ने तेरापथ द्विषताब्दी महोत्सव के अवसर पर अपने वक्तव्य में कहा था—“मेरी समझ में तेरापथ की सबसे बड़ी देन आचार्यश्री तुलसी है; जिन्होंने ठीक समय पर सारे देश में नैतिक जागरण का संकलन किया है।” उनके इस कथन में आचार्यश्री के महान् व्यक्तित्व और

कर्तृत्व के प्रति आदर-भाव है; वहाँ ऐसे नररत्न का निर्माण करने वाले तेरापथ के प्रति कृतज्ञता भी है। व्यक्ति की तेजस्विता जहाँ उसके आधार को प्रख्यान करती है; वहाँ उसके निर्माण-सामग्र्य को भी उजागर कर देती है।

समर्पण-भाव

आचार्यश्री तेरापथ के नवम अधिशास्ता हैं। उनके अनुशासन में रहने वाला सिष्यवर्ग उनके प्रति पूर्ण समर्पण की भावना रखता है। यह अनुशासन न तो किसी प्रकार के बल से योधा जाता है और न किसी प्रकार की उसमें बाध्यता ही होती है। आचार्यश्री के शब्दों में उसका स्वरूप यह है—“तेरापथ का विद्वान् अनुशासन और व्यवस्था के आधार पर हुआ है। हमारा क्षेत्र साधना का क्षेत्र है। यहाँ बल-प्रयोग का कोई स्थान नहीं है। जो वृद्ध होता है; वह हृदय की पूर्ण स्वतंत्रता से होता है। आचार्य अनुशासन व व्यवस्था देते हैं, समूचा सध उसका पालन करता है। इसमें सिष्य में थडा के धनिरिक्त दूसरी कोई शक्ति नहीं है। थडा और विनय, ये हमारे जीवन के मन्त्र हैं। धात्र के भौतिक जगत् में इन दोनों के प्रति मुच्छता का भाव पनप रहा है; वह अकारण भी नहीं है। बड़े में छोटी के प्रति आत्मत्व नहीं है, बड़े लोग छोटे लोगों को अपने अधीन ही रखना चाहते हैं। इस मानसिक द्वन्द्व में धृष्टिवाद अथवा और अविनय की ओर मुड़ जाता है। हमारा जगत् आध्यात्मिक है। इसमें छोटे-बड़े का कृत्रिम भेद है ही नहीं। अहिंसा हम सबका धर्म है। उमकी नयो में प्रेम और आत्मत्व के मिश्रण और है ही क्या? जहाँ अहिंसा है, वहाँ पराधीनता हो ही नहीं सकती। आचार्य सिष्य की अपने अधीन नहीं रखता; सिन्धु सिष्य अपने हित के लिए आचार्य के अधीन रहना चाहता है। यह हमारी रिश्त है।”

अनुशासन और व्यवस्था

अनुशासन और व्यवस्था के विषयों में तेरापथ को प्रारम्भ में ही स्थानि उपलब्ध है। उसके विरोधी अन्य बानों के विषय में चाहे कुछ भी कहते हों, परन्तु इन विषयों में तो बहुधा वे तेरापथ की प्रशंसा ही करने पाये गये हैं। तेरापथ का तथ्य है—चारित्र्य की विगुडि। अनुशासन और व्यवस्था के बिना चारित्र्य की विगुडि आराधना भ्रमम्भ होती है। तेरापथ के प्रतिष्ठाना आचार्यश्री भिक्षु इस रहस्य से मुगुरि चित थे। इसीलिए उन्होंने इसकी स्थापना के साथ ही इन गुणों पर विशेष बल दिया। वे सफल भी हुए। अनुशासन और व्यवस्था के विगुटन में जिन प्रमुख कारणों को उन्होंने अन्य साधु-सभों में देखा था; तेरापथ में उन्होंने उनको पनपने ही नहीं दिया। उन्होंने तेरापथ के सविधान का उद्देश्य यही बतलाया—“न्याय-मार्ग चालण रो नै चरित्र चोखो पालण रो उपाय कीधो छै।”

आचार्यश्री ने तेरापथ-द्विशताब्दी-महोत्सव पर अपने मंगल-प्रवचन में कहा था—“तेरापथ का उद्भव ही चारित्र्य की शुद्धि के लिए हुआ है। देश-काल के परिवर्तन के साथ परिवर्तन होता है, इस तथ्य को आचार्य भिक्षु स्वीकार करते थे। पर देश-काल के परिवर्तन के साथ मौलिक आचार का परिवर्तन होता है, यह उन्हें मान्य नहीं हुआ। इस स्वीकृति में ही तेरापथ के उद्भव का रहस्य है। चारित्र्य की शुद्धि के लिए विचार की शुद्धि और व्यवस्था, ये दोनों स्वयं प्राप्त होते हैं। विचार-शुद्धि का सिद्धान्त आगम सूत्रों से सहज ही मिला और व्यवस्था का सूत्र मिला देश-काल की परिस्थितियों के अध्ययन से। आचार्य भिक्षु ने देखा; वर्तमान के साधु शिष्यों के लिए विग्रह करते हैं। उन्होंने शिष्य-परम्परा को समाप्त कर दिया। तेरापथ का विधान किसी भी साधु को शिष्य बनाने का अधिकार नहीं देता।

“आज तेरापथ के साधु-साध्वियाँ इसलिए सन्तुष्ट हैं कि उनके शिष्य-शिष्याएँ नहीं हैं।

“भाज तेरापथ इसलिए सगठित और सुव्यवस्थित है कि उसमें शिष्य-शाखा का प्रलोभन नहीं है।

“भाज तेरापथ इसलिए शक्ति-सम्पन्न और प्रगति के पथ पर है कि वह एक आचार्य के अनुशासन में रहता है और उसका साधु-वर्ग छोटी-छोटी शाखाओं में बटा हुआ नहीं है।”

तेरापथ की व्यवस्था बहुत सुदृढ़ है। इसका कारण यह है कि उसमें सबके प्रति न्याय हो; यह विशेष ध्यान रखा गया है। आचार्यश्री भिक्षु ने दो सौ वर्ष पूर्व सध-व्यवस्था के लिए जो सूत्र प्रदान किये थे, वे इतने सुदृढ़ प्रमाणित हुए हैं कि भाज के समाजवादी सिद्धान्तों का उन्हें एक मौलिक रूप कहा जा सकता है। आचार्यश्री के शब्दों में वह इस प्रकार है—“आचार्यश्री भिक्षु ने व्यवस्था के लिए जो समता का सूत्र दिया; वह समाजवाद का विस्तृत प्रयोग है। यहाँ सब-के-सब थमिक हैं और सब-के-सब पण्डित। हाथ, पैर और मस्तिष्क में अलग-अलग नहीं है। सामुदायिक कार्यों का सबिभाग होता है। सब साधु-साध्वियों दीक्षा-क्रम से अपने-अपने विभाग का कार्य करती हैं। खान, पान, स्थान, पात्र आदि सभी उपयोगी वस्तुओं का सबिभाग होता है। यदि खाने वाले चार हो तो एक रोटी के चार टुकड़े हो जाते हैं। यदि पीने वाले चार हों तो एक सेर पानी पाव-पाव कर चार भागों में बट जाता है^१। यह सबिभाग साधु-साधियों के जीवन-व्यवहार में आने वाली प्रायः हर वस्तु पर लागू पड़ता है। ‘असबिभागी न ह्यु तस्स मोक्खो’^२ अर्थात् सबिभाग नहीं करने वाला व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता, यह आगम-वाक्य तेरापथ-सध-व्यवस्था के लिए मार्ग-दर्शक बन गया है।

समाजवाद का सूत्र यही तो है कि “एक के लिए सब और सब

१. जैन भारती २४ जुलाई, १९६०

२. जैन भारती २४ जुलाई, १९६०

३. दशवैकालिक सूत्र, अ० १, उ० २, गा० २३

के लिए एक और वह नेमान के लिए अनुमान में लागू करना है। चलो भी जगदगज नारायण कस्तूर से यह प्रश्न पत्र पर शाबायं में मिले यह नारायण की श्रद्धा को प्रकट करे शाबायं-लिपि का प्रयोग करा - इस विषय मया प्रकट को सतत मानना चाहते हैं व शाबायं गरी की शाबायं गुरु ही था पूजा है यह प्रकट करे का है। हम इसी विद्याया को सुदृष्ट-रीति में भी लागू करना चाहते हैं।

प्रथम प्रश्न

शाबायं भी ने लेमान का शाबायं-प्रार वि० सं० १९६३ शाबायं नवमी को संभाना था। उम समय गण में १३६ साधु और ३३ साध्वियाँ थीं। उनमें से ७९ साधु भी शाबायं शीला-श्रद्धा में रहे थे छोटी श्रद्धा, बड़ा गण और उन गण पर ममान अनुमान की ममान थी। उम समय भी शाबायं भी का संघं लिपि लिपि नहीं हुआ। उन्हें जो शाबायं गामस्य पर श्रद्धा था, वहाँ गण के साधु-साध्वियों की नीति ममान और अनुमान-प्रिया पर भी कोई कम श्रद्धा नहीं था। नती के मप्याह में उन्होंने अपनी नीति के बारे में जो प्रथम प्रश्न लिखा था; उममें ये दोनों ही विश्वास परिपूर्णता के साथ प्रकट किये गये थे उम वक्तव्य का कुछ अर्थ यों है

“श्रद्धेय शाबायं प्रकर भी कामुगणों का श्रद्धेय हो गया। इमें मैं स्वयं निश्च हूँ। साधु-साध्वियाँ भी निश्च है। कस्तूर एक प्रकट-प्रकार घटना है। उमें किसी प्रकार टाला नहीं जा सकता। निश्च होने में क्या खते? इस बात को विस्मृत ही बना देना है। इसके सिवाय चित्त को स्थिर करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

“अपना सध नीति-प्रधान संघ है। इसमें सभी साधु-साध्वियाँ नीतिमान हैं, नीति—मर्यादा के अनुसार चलने वाले हैं। इसलिए किसी को कोई विचार करने की जरूरत नहीं है। श्रद्धेय गुरुदेव ने मुझे संघ का कार्य-भार सौंपा है। मेरे नन्हें कन्धों पर उन्होंने अगाध विश्वास रिया;

इसके लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। सध के साथ-साध्वियों बड़े विनीत, अनुशासित और इगित को समझने वाले हैं, इसलिए मुझे इस गुस्तर भार को ग्रहण करने में तनिक भी सकोच नहीं हुआ। सध की नियमावलि को सब साथ-साध्वियों पहले की ही तरह हृदय से पालन करते रहे। मैं पूर्वाचार्य की तरह ही सबकी अधिक से अधिक सहायता करना रहूँगा; ऐसा मेरा दृढ सकल्प है। इसके साथ मैं सबको सावधान भी कर देना चाहता हूँ कि भयंदा की उपेक्षा मैं सहन नहीं करूँगा।

“सब तेरापंथ सध में फलें-फूलें, सयम में दृढ रहे; इसी में सबका कल्याण है, संध की उन्नति है। यह सबका सध है; इसलिए सभी इसकी उन्नति में प्रयत्नशील रहें।”

बयासी वर्ष के

एक बार्डस वर्ष के युवक पर सध का भार देकर आचार्यश्री कालू-गणी ने जिस साहस का काम किया था; आचार्यश्री ने अपने वृत्त में उसमें किसी प्रकार की सांछना नहीं माने दी। वे उस अवस्था में भी एक स्थिर आचार्य की तरह कार्य करते लगे। प्रारम्भ में जो लोग यह धारणा करते कि आचार्य श्री की अवस्था बहुत छोटी है, उन्हें मुनि श्री मगनलालजी कहा करते—“कौन कहता है, आचार्यश्री की अवस्था छोटी है? आप तो बयासी वर्ष के हैं।” वे अपनी बात की पुष्टि इस प्रकार करते—“जन्म के वर्षों से ही अवस्था नहीं होती, वह अनुभवों की अपेक्षा से भी हो सकती है। जन्म की अपेक्षा से आप अवश्य बार्डस वर्ष के हैं; किन्तु अनुभवों की अपेक्षा से आपकी अवस्था बहुत बड़ी है। आचार्यश्री कालूगणी ने अपनी साठ वर्ष की अवस्था तक जो अनुभव अर्जित किये थे; वे सब उनके द्वारा आपको सहज ही प्राप्त हो गये हैं; अतः अनुभवों की दृष्टि से आप बयासी वर्ष के होते हैं।” मन्त्री मुनि के इस बयान ने उस समय के वातावरण में एक प्रगाढ़ता और गौरव ला दिया था।

मुच्चाद सचासन

तेरापय का भागन-गृध संभानने ही भाषासंघी के सामने सभसे प्रमुन कार्य था—सघ का मुच्चारु रूप से सचानन । सघ-सचानन का अनुभव एक नवीन भाषासंघ के लिए टागे-होने ही होता है, किन्तु भाषासंघी ने उससे सहज ही सफनता प्राप्त करनी । वे साने कार्य में पूर्ण जागरु रहकर बडे । अनुसासन करने की बला में यां तो वे सने में ही निगु थे; पर सव उने विस्तार से कार्यरूप देने का सगर था । उन्होने साने प्रदय वर्ष में ही जिस प्रकार से सघ-व्यवस्था को संभाला; यह स्वाधनीय ही नहीं, अनुकरणीय भी था । उन्होने साधु-सघ के सनेह को जीन निग था । जिन व्यक्तियों को यह भासका थी कि एक बाईस वर्षीय भाषासंघ के अनुसासन में सघ के सनेक प्राचीन व विद्वान् मुनि सैने चल पावेंगे; उनकी वह भासका सीध ही निर्मूल हो गई ।

तेरापय में समूचे साधु-सघ के चातुर्मासिक प्रवाम तथा रोपकालीन विहरण के क्षेत्रो का निर्धारण एरमात्र भाषासंघी करते हैं । वटु वानं यदि सुव्यवस्था से न हो तो असन्तोष का कारण बनता है । इसके साथ-साथ प्रत्येक सिधाडे में पारस्परिक प्रकृतियों का सन्तुनन भी विठाना पडता है । पिछले वर्ष में किये गये समस्त कार्य का लेखा-जोखा भी उसी समय लिया जाता है । सघ-उन्नति के विशिष्ट कार्यों की प्रशना और सामियों का दोष-निवारण भी एक बहुत बडा कार्य है । रण साधु-साध्वियों की व्यवस्था के लिए विशेष निर्धारण करना पडता है । श्रद्ध जनों की सेवा और उनकी चित्त-समाधि के प्रदन को भी प्राथमिकता के आधार पर हल करना होता है । इतना सय कुछ करने के बाद रोप सिधाडो के लिए आगामी वर्ष का मार्ग-निर्धारण किया जाता है । लेसन-पठन आदि के विषय में भी पूछताछ तथा दिशा-निर्देशन करना भाषासंघ का ही काम होता है । ये सब कार्य गिनाने में जितने सधु हैं; करने में उतने ही बडे और जटिल हैं । जो भाषासंघ इन सबमें सत्यन्त जागरुता के साथ मुनिजनों की श्रद्धा प्राप्त कर सकता है; वही सघ का मुच्चार-

रूप में संचालन कर सकता है। आचार्यश्री ने इन सब बायों का व्यवस्थित संचालन ही नहीं किया, अपितु इनमें नये प्राणों का संचारण भी किया।

असाम्प्रदायिक भाव

पर-मत-सहिष्णुता

आचार्यश्री द्वारा किये गए अनेक विकास कार्यों में प्रमुख और प्रथम है—चिन्तन-विकास। अन्य समाजों के समान तेरापथ भी एक मीमित दायरे में ही सोचना था। सम्प्रदाय-भावना उममें भी प्रायः वैसी ही थी, जैसी कि किसी भी धर्म-सम्प्रदाय में हुआ करती है। आचार्य श्री ने उग चिन्तन को असाम्प्रदायिकता की ओर मोड़ा। सम्प्रदाय शब्द का मूल अर्थ होता है—गुट-परम्परा। वह कोई बुरी वस्तु नहीं है। वह बुरी तब बनती है; जब अज्ञातिष्णुता के भाव धारण करे। उद्यम का मूल एक लक्ष्य है, पर शालाघो, प्रशासनाघो तथा दृष्टियों के रूप में उगकी अनेकता में भी कोई बन्धी नहीं होती, फिर भी उनमें कोई अज्ञातिष्णुता नहीं होती, धर्म के परम्पर एक दूसरे की सखि और शोभा बढ़ानी है। मनुष्य जहाँ भी रहा है, सम्प्रदाय, गणतन्त्र, परम्परा आदि बनाकर रहा है। तब धार्मिक रूप में कोई सम्प्रदायानीय हो सकता है? अपने सामूहिक जीवन की कोई-किसी परम्परा अन्वय ही विरासत में हर व्यक्ति को मिलती है। 'भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय नहीं रहने चाहिये' यह कहने वाले भी ना अपना एक सम्प्रदाय बनाकर ही कहते हैं। आचार्यश्री की दृष्टि में असाम्प्रदायिकता का अर्थ होता है—पर-मत-सहिष्णुता। जब तक मनुष्य में पर-मत-सहिष्णुता नहीं रहेगी, तब तब मत-भेद होने पर भी मत-भेद नहीं हो सकेगा। अज्ञातिष्णुता ही मत-भेद को मत-भेद में बदलने वाली शक्ति है। जो व्यक्ति प्रत्येक धर्म के प्रति अज्ञातिष्णुता के भाव रखता है, वह चाहे फिर किसी भी सम्प्रदाय में रहता हो, असाम्प्रदायिक ही कहा जायगा।

एक चिन्तन-विकास में तेरापथ को यह उदात्ता प्रदान की है, जो

प्रबन्ध है; परन्तु असंभव नहीं; क्योंकि उनमें मूलतः ही समन्वय के तत्त्व अधिक और विरोधी तत्त्व कम पाये जाते हैं। यदि विरोधी तत्त्वों की ओर मुख्य लक्ष्य न रहे तो समन्वय बहुत ही सहज हो जाता है। आचार्यों के लिए यह एक सज्जापद बात है कि वे किसी विचार-भेद को आधार मानकर एक-दूसरे पर आरोप करे, पृथक् कैलाश और अमहिष्णु बनें। आचार्यश्री का विश्वास है कि विचारों की असहिष्णुता मिट जाए तो विभिन्न सम्प्रदायों के रहते हुए भी सामंजस्य स्थापित हो सकता है। उनके इन उदार विचारों के आधार पर ही उन्हें एक महत्त्वपूर्ण आचार्य माना जाता है। जनता उन्हें भारत के एक महान् सन्त के रूप में जानने लगी है।

समय नहीं है

आचार्यश्री अपने इन उदार विचारों का केवल दूसरों के लिए ही नियन्त्रण नहीं करते; वे स्वयं इन सिद्धान्तों पर चलते हैं। वे किसी की व्यक्तिगत आलोचना करना तो पसन्द करते ही नहीं; पर किसी की आलोचना सुनना भी उन्हें पसन्द नहीं है। एक बार एक अन्य सम्प्रदाय के साधु ने आचार्यश्री के पास आकर बातचीत के लिए समय मागा। आचार्यश्री ने उन्हें दूसरे दिन मध्याह्न का समय दे दिया। यथासमय वे आये और बातचीत प्रारम्भ की। वे अपने गुरु के व्यवहारों से असन्तुष्ट थे; अतः उनकी कमियों का व्याख्यान करने लगे। आचार्यश्री यदि उसमें कुछ रस लेते तो तेरापथ का प्रमुख रूप से विरोध करने वाले एक विशिष्ट आचार्य की कमजोरियों का वे पता दे सकते थे; परन्तु उन्हें यह अभीष्ट ही नहीं था। उन्होंने उस साधु से कहा—मेरा अनुमान था कि आप कोई तत्त्व-विषयक धर्चा करना चाहते हैं; इसीलिए मैंने समय दिया था। किसी की निन्दा सुनने के लिए मेरे पास कोई समय नहीं है। इस विषय में मैं आपकी कोई सहायता भी नहीं कर सकता। उसी क्षण बातचीत का गिनतिला समाप्त हो गया और आचार्यश्री दूसरे काम में लग गये।

सार्वभ्रिक उदारता

उत्तरे उदार विचार का दूसरा पहलू यह है कि वे हर सम्प्रदाय के व्यक्ति में स्वतन्त्र विचार-प्रियता करने हैं । वे इसमें कोई कर्तव्य या सकोच नहीं करते । वे धन्य सम्प्रदायों के धार्मिक स्थानों पर भी निस्संगोच भाव में जाते हैं । वहाँ लोग धन्य सम्प्रदायों के स्थानों में जाना अपना अपमान समझते हैं; वहाँ धार्मापंथी बड़ी शक्ति के साथ जाते हैं । वे जानते हैं कि दूर रहकर दूरी को नहीं मिटाना जा सकता मगक में घाने पर यह दूरी भी मिट जाती है जिसे अभी न मिटने का समझा जाता है । वे अनेक बार दिगम्बर धीरे इवेनाम्बर मंदिरों में जा रहे हैं । अनेक बार वहाँ उन्होंने प्रार्थनाएँ भी की हैं । मूतिपूजा में उन विश्वास नहीं है; पर वे मानते हैं कि जब धन्य सभी स्थानों में भावपूज की जा सकती है तो वह मंदिर में भी की जा सकती है । धार्मापंथी के ऐसे विचार सभी लोगों को महजनाया आकृष्ट कर लेते हैं । उनकी यह उदारता इस या उम, किसी एक पक्ष को आधार रखकर नहीं होती; किन्तु सार्वभ्रिक होती है । यस्तुत उदार वृत्तियाँ हर प्रकार की मानसिक दूरी को मिटाने वाली होती हैं ।

आगरा के स्थानक में

उत्तर-प्रदेश की यात्रा में धार्मापंथी आगरा पधारे । धर्मशास्त्र में ठहरना था । मार्ग में जैन-स्थानक आया । वहाँ ससद-सदस्य सेठ अचलसिंहजी आदि स्थानकवासी सम्प्रदाय के कुछ प्रमुख श्रावकों ने घाने खडे होकर प्रार्थना की—“यहाँ कवि अमरचन्दजी महाराज विराज रहे हैं । आप अन्दर पधारने की कृपा कीजिए।” यद्यपि काफी विनम्र हो चुका था; फिर भी इस समन्वय के क्षण को धार्मापंथी ने छोडा नहीं । साधुओं सहित अन्दर पधार गये । इतने में कविजी भी ऊपर से आ गये । वे अच्ये विद्वान् तथा मिलनसार व्यक्ति हैं । स्थानकवासी समाज में अच्ये प्रतिष्ठा है । वे ‘उपाध्यायजी’ के नाम से भी प्रसिद्ध हैं । घाने

ही बड़ी उल्लासपूर्ण मुद्रा में कहने लगे—“मैं नहीं जानता था कि आप भन्दर था जायेंगे। आपकी उदारता स्तुत्य है। परोक्ष में जो बातें मुनी थीं; उसमें भी वही अधिक महत्ता देखकर मुझे प्रसन्नता हुई है।” फिर तो लगभग ढाई बजे तक वहाँ ठहरना हुआ। बातचीत और विचार-विमर्श में इतना उल्लास रहा कि पहले उसकी कोई कल्पना ही नहीं थी। कई वर्ष पूर्व प्रकाशित उपाध्यायजी की ‘अहिंसा-दर्शन’ नामक पुस्तक में कई जगह तेरापथ की आलोचना की गई थी। बातचीत के प्रसंग में आचार्यजी ने उन स्थलों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करना चाहा। मुनिजी नयमलजी उन स्थलों को खोजने लगे, पर वे मिले नहीं। उपाध्यायजी ने मुँहकरते हुए कहा—“यह दूसरा संस्करण है। इसमें आप जो सौज रहे हैं; वह नहीं मिलेगा।” आचार्यजी की समन्वय-नीति का ही यह प्रभाव कहा जा सकता है कि स्वयं लेखक ने ही अपनी आत्म-प्रेरणा में उन सब आलोचनात्मक स्थलों को अपनी पुस्तक में से हटा दिया था।

घण्टीजी से मिलन

इसी प्रकार एक बार दिगम्बर समाज के बहुमान्य गणेशप्रसादजी वरुणों के यहाँ आचार्यजी पधारे थे। पारलनाथ हिल का स्टेशन ‘ईगरी’ है। वे वहाँ एक आश्रम में रहते थे। आचार्यजी विहार करने हुए वहाँ पधारे तो आश्रम में भी पधारे। आचार्यजी की इस उदारता में वरुणोंजी बड़े प्रभावित और प्रसन्न हुए। बातचीत के सिलसिले में उन्होंने तेरापथ के नियम में बड़ी गुरुप्राप्तता और उदारता भरी बातों में कहा—“आपका धर्म-नियम बहुत ही सरल है। ऐसी घड़िनोप धनु-शासनप्रियता अन्य किसी भी धर्म-ग्रन्थ में दिखाई नहीं देती।” इस प्रकार के स्वल्पवार्तित मिलन भी सौहार्द-बुद्धि में बड़े उपयोगी होने हैं। इस मिलन की सारे दिगम्बर-समाज पर एक झूक; किन्तु धनुग्रन्थ प्रतिक्रिया हुई। ये छोटी-छोटी दिखाई देने वाली बातें ही आचार्यजी की महत्ता के पट में ताना और बाना बनी हुई हैं।

विजयवल्लभ सूरि के यहां

बम्बई में मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के प्रभावशाली तथा सुप्रसिद्ध आचार्य विजयवल्लभ सूरि के यहां भी आचार्यश्री पधारे थे। वहां भी बड़े उत्सवमय वातावरण का निर्माण हुआ था। वहां के मूर्तिपूजक जैन-समाज पर तो गहरा प्रसर हुआ ही; पर बाहर भी उस मिलन की बहुत अनुकूल प्रतिक्रियाएँ हुईं।

दरगाह में

आचार्यश्री केवल जैनों के धर्म-स्थानों या जैन धर्माचार्यों के यहाँ जाते हैं; सो बात नहीं है। वे हर किसी धर्म-स्थान और हर किसी व्यक्ति के यहाँ उसी सहज भाव से चले जाते हैं; मानो वह उनका अपना ही धर्म-स्थान हो। अजमेर में वे एक बार यहाँ की सुप्रसिद्ध दरगाह की ओर चले गये। वहाँ के सारक्षक ने उन्हें अन्दर जाने से रोक दिया। नये सिर वह किसी को अन्दर नहीं जाने देना चाहता था। आचार्यश्री तत्काल वापिस मुड़ गये। किसी भी प्रकार की शिकायत की भावना के बिना उनके इस प्रकार वापिस मुड़ जाने ने उसको प्रभावित किया। दूसरे ही क्षण उसने गम्मुग आकर कहा—“आप तो स्वयं पहुँचे हुए व्यक्ति हैं; अतः आप पर इन नियमों को लागू करना कोई आवश्यक नहीं है। आप मन्त्रे से अन्दर जाइये और देखिए।” जिस सौम्य भाव से वे वापिस मुड़े थे, उसी गौम्य भाव से फिर दरगाह की ओर मुड़ गये। अन्दर जाकर उंग देखा और उसके इतिहास की जानकारी ली।

के शूरद्वारा, सनातन मंदिर, धार्य समाज मंदिर, चर्च धारि में भी इसी प्रकार की निबंधना के गाय जाने रहे हैं। इस व्यवहार ने उनकी समन्वयकारी दृष्टि को बहुत बल दिया है।

धायकों का व्यवहार

आचार्यश्री के महिष्यु और समन्वयी विचारों का अन्य सम्प्रदाय वालों पर अत्यन्त प्रभाव पड़ा है। ऐसी स्थिति में स्वयं तैरापधी-समाज

पर तो उसका प्रभाव पडना ही चाहिए था । वस्तुतः वह पडा भी है । कहीं अधिक तो कहीं कम, प्रायः सर्वत्र वह देखा जा सकता है । तेरापथ समाज को प्रायः बहुत कट्टर माना जाता रहा है । उसमें एतद्विषयक परिवर्तन को एक आश्चर्यजनक घटना के रूप में ही लिया जा सकता है । कुछ भी हो; पर इतना निश्चित है कि असहिष्णुता की भावना में कमी और सहिष्णुता की भावना में वृद्धि हुई है ।

बम्बई के तेरापथी भाई मोतीचन्द हीराचन्द जवेरी ने सविनय सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध आचार्य विजयवल्लभ सूरि को अपने यहाँ निमन्त्रित किया । चोपाटी के अपने मकान 'फूलचन्द-निवास' में सात दिन उन्हें भक्ति-बहुमान सहित ठहराया । तेरापथ-समाज की ओर से उनका सार्वजनिक भाषण भी करवाया गया । आचार्यजी ने उस भाषण में बड़े मार्मिक शब्दों में 'जैन-एकता की आवश्यकता बतलाई' । इस घटना के विषय में भाई परमानन्द ने लिखा है—“एक सम्प्रदाय के श्रावक-जन अन्य सम्प्रदाय के एक मुख्य आचार्य को बुलायें और वे आचार्य उस निमन्त्रण को स्वीकार कर वहाँ जायें, व्याख्यान दें, ऐसी घटना पहले तो कभी कोई भाग्य से ही घटित हुई हो तो हो । एकता के इस दातावरण को उत्पन्न करने में तेरापथी समाज निमित्त बना है, अतः वह धन्यवाद का पात्र है ।”

फादर विलियम्स

आचार्यजी उन दिनों बम्बई में थे । कुछ तेरापथी भाई वहाँ के इंडियन नेशनल चर्च में गये । फादरी का उपदेश सुना । बागचीत की । उन लोगों के उस आगमन तथा उपदेश-श्रवण का चर्च के सर्वोच्च अधिकारी फादर जे० एस० विलियम्स पर बड़ा ही छिचकर प्रभाव पडा । उनके मन में यह भावना उठी, जिसके शिष्य इतने उदार हैं कि उन्हें

१. प्रबुद्ध जीवन १ मई, '५३

२. प्रबुद्ध जीवन १ मई, '५३

दूमरे धर्म का उपदेश मुनने में कोई एनराज नहीं है तो उनका गुफ न जाने कितना महान् होगा ? इसी प्रेरणा ने उनको आचार्यश्री का सम्पर्क कराया । वे किसी गद्दीधारी महल की कल्पना करते हुए घांसे थे; पर यहाँ की सारी स्थितियों को देख-मुनकर पाया कि ईसा के उपदेशों का सच्चा पालन यहीं होता है । वे अत्यन्त प्रभावित हुए । एक धर्मगुरु होने हुए भी उन्होंने अगुवन स्वीकार किये । अधिकांश अगुवन-अधिवेशनो में वे सम्मिलित होते रहें हैं । आचार्यश्री के प्रति उनकी बड़ी उत्कट निष्ठा है ।

साधु-सम्मेलन में

इसी प्रकार के उदारता और सौहार्दपूर्ण कार्यों की एक घटना बीकानेर चोखले की भी है । भीनासर में एक साधु-सम्मेलन हुआ था । उसमें अखिल भारतीय स्तर पर स्थानकवासी साधु एकत्रित हुए थे । भीनासर अपेक्षाकृत एक छोटा कस्बा है । उससे बिल्कुल सटा हुआ ही गंगासहर है । वह उससे कई गुना बड़ा है । वहाँ तेरापथ के लगभग नौसी परिवार रहते हैं । उन्होंने उस सम्मेलन में हर प्रकार का सम्भव सहयोग प्रदान किया था । यह सहयोग केवल भाईचारे के नाते ही था और उससे दोनों समाजों में काफी निकटता का वातावरण बना ।

इस सम्मेलन के अध्यक्ष थे बनेचन्द भाई । उनका जब बीकानेर में जुलूस निकाला गया, तब वहाँ के तेरापथ-समाज की ओर से उन्हें मान्य पहनाई गई तथा सम्मेलन की सफलता के लिए शुभ कामना व्यक्त की गई । इस घटना ने उन लोगों को और भी अधिक प्रभावित किया ।

उन सब घटनाओं का अपना एक मूल्य है । ये तेरापथ के मानव का दिग्दर्शन कराने वाली घटनाएँ हैं । इनके पीछे आचार्यश्री के समन्वयवादी विचारों का बल है । तेरापथ के सभी व्यक्ति आचार्यश्री की इन उदार प्रेरणाओं में अनुप्राणित हो चुके हों; ऐसी बात नहीं है । अनेक व्यक्ति ऐसी भी हैं; जो आचार्यश्री के इन समन्वयी तथा उदार

कार्यों को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। उनके विचार से आचार्यश्री तेरापथ को लाभ नहीं; भलाभ ही पहुँचा रहे हैं। उनका कथन है कि ऐसी प्रवृत्तियों से आचर्यों की एकनिष्ठता हटती है। आचार्यश्री उनके विचारों को यह समाधान देते हैं कि तेरापथ सत्य से अभिन्न है। जहाँ सत्य है, वहाँ तेरापथ है और जहाँ सत्य नहीं है, वहाँ तेरापथ भी नहीं है, यह व्याप्ति है। समन्वयवादिता तथा गुणज्ञता आदि शुष्ण अहिंसा की भूमिका पर उद्भूत होते हैं; अतः वे सत् और अज्ञेय होते हैं। कदाग्रहवादिता और अशुष्ण-प्राहिता आदि दोष हिंसा की भूमिका पर उद्भूत होते हैं, अतः वे असत् और हेय होते हैं। इसीलिए सत्य के प्रति निष्ठा रखना ही तेरापथ के प्रति निष्ठा रखना है। तेरापथ के प्रति निष्ठा रखता रहे और सत्य के प्रति निष्ठा न हो; तो वह वास्तविक तेरापथ तक पहुँचा ही नहीं है। सम्प्रदाय के रूप में तेरापथ एक मार्ग है। उस पर चलकर पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचना है। मार्ग साधन होता है; साध्य नहीं।

चैतन्य-विरोधी प्रतिक्रियाएँ

सैतुबन्ध

आचार्यश्री किसी के द्वारा 'नई चेतना के प्रहरी' करार दिये जाते हैं तो किसी के द्वारा 'पुराणपी'। वे बिल्कुल मल भी नहीं हैं; क्योंकि आचार्यश्री को नवीनता से भी प्यार है और पुराणता से भी। उनकी प्रगति के ये दोनों पैर हैं। एक उठा हुआ तो दूसरा टिका हुआ। वे दोनों पैर आकाश में उठाकर उड़ना नहीं चाहते तो दोनों पैर धरती पर टिकाकर रुकना भी नहीं चाहते। वे चलना चाहते हैं, प्रगति करना चाहते हैं, निरन्तर और निर्वाण। उसका क्रम यही हो सकता है कि कुछ गतिशील हो तो कुछ टिका हुआ भी। गति पर स्थिति का और स्थिति पर गति का प्रभाव पड़ता रहे।

साधारणतया लोग नई बात से कतराते हैं और पुरानी से चिभटते हैं। पुरानी के प्रति विश्वास और नई के प्रति अविश्वास; उन्हें ऐसा

करने के लिए बाध्य कर देता है। परन्तु आचार्यश्री ऐसे लोगों से संबंधा पृथक् है। वे प्राचीनता की भूमिका पर खड़े होकर नवीनता का स्वागत करने में कभी नहीं हिचकिचाते। वस्तुतः वे प्राचीनता और नवीनता को जोड़ने वाली उपादेयता का ऐसा सेतु-बन्ध बनाना जानते हैं कि फिर व्यवहार की नदी के परस्पर कभी न मिलने वाले इन दोनों तटों में सहज ही सामंजस्य स्थापित हो जाता है। उनकी इस वृत्ति को स्वयं तैरापथ-ममाज के कुछ व्यक्तियों ने सशक दृष्टि से देखा है। बृहों का कथन है कि वे नये-नये कार्य करते रहते हैं; न जाने समाज को कहाँ से जायेंगे। युवक कहते हैं कि वे पुराणता को साथ लिए चलते हैं, इस प्रकार कोई भ्रान्ति नहीं हो सकती। दोनों का साथ-साथ निभाए करने की नीति तुष्टीकरण की नीति होती है। उससे दोनों को ही लाभ नहीं मिल सकता। यों वे दोनों की आलोचनाओं के लक्ष्य बनते रहते हैं। विरोधी विचार रखने वाले अन्य लोगों ने तो उनके दृष्टिकोण पर तरफ-गल्ल के आरोप किये ही हैं।

विरोध से भी लाभ

आचार्यश्री विरोध में घबराते नहीं हैं। वे उसे विचार-मन्थन का हेतु मानते हैं। दो पदार्थों के घर्षण में त्रिभ प्रकार ऊष्मा पैदा होती है, उसी प्रकार दो विचारों के घर्षण में नव चिन्तन का प्रकाश जगमगा उठता है। विरोध ने उनके मार्ग में जहाँ बाधाएँ उत्पन्न की हैं; वहाँ प्रवेश द्वार उन्हें सामान्वित भी किया है। जो व्यक्ति विशेषज्ञ हैं; वे किसी भी प्रकार की बेतुनी को प्रशस्त मन्थन से ही घाँवते ही हैं; पर कभी-कभी उसके विराप में बिना जाने वाले प्रकार को देन-गुनकर प्रशंसा-रूप में भी स्वीकृत लेते हैं। मध्यप्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल श्री मंगल दास महाराज स्वर्द्ध के समाचार-पत्र में आचार्यश्री के विरुद्ध किये जाने वाले प्रकार को बड़बुर ही मन्थन में घाय्ये। वे जानना चाहते थे कि त्रिभ व्यक्ति का विराप ही क्या है। वह कश्चित् दिनना भंगन्य-युक्त होगा। बाह्य

बालेलकर भी जब पहले-बहुत आचार्यथी से मिले तो बतलाया कि मैं तेरा-पप के विरोध में बहुत कुछ सुनता था रहा हूँ। मुझे जिज्ञासा हुई कि जहाँ विरोध है; वहाँ अवश्य चेतन्य है। मृत का कभी कोई विरोध नहीं करता।

विरोधी-साहित्य-प्रेषण

आचार्यथी के प्रति विरोध-भाव रखने वालों में अधिकाँस ऐसे मिलेंगे जो उनके चेतन्य को—उनके मामर्थ्य को महन नहीं कर पा रहे हैं। वे अपनी दक्षिण से उस 'मवंजन-हिताय' विचारे चेतन्य को बटोरने के बजाय धक्का कर देना चाहते हैं। ऐसे व्यक्ति उनके विरुद्ध में जाना प्रकार के अपवाद फैलाते हैं, उनके विरुद्ध पुस्तकें लिखते तथा छापते हैं। वहाँ अवसर मिले, वहाँ इन प्रकार का साहित्य भेजकर उनके विरुद्ध धाना-धरग बनाने का प्रयास करते हैं। परन्तु वे उनके अपराजेय व्यक्तित्व को किसी भी प्रकार धक्का नहीं कर पाते हैं। मात्र तब उनका व्यक्तित्व जिगना निगर चुका है, भविष्य में वह उलता ही नहीं रहेगा, उसमें धीर निगर धारिगा। उनके चेतन्य तथा मामर्थ्य का प्रभाव धीर जगमगायेगा, यही एक मात्र सम्भावना की जा सकती है। यदि कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि इस प्रकार के विरोधी प्रचार से उनके व्यक्तित्व पर रोष लगेगी, तो वे भूल जाते हैं। इन प्रकार के कुछ प्रयासों के फलित देव लेने से पता चल सकता है कि उनका यह धक्का उलटा आचार्यथी के व्यक्तित्व को धीर अधिब निगारने वाला ही निरुद्ध होता रहा है।

देर लग गया

सुप्रसिद्ध लेखक भाई विनोयनाथ पन्थुवाता ने एक बार हरिजन में धनुष-धनुषीयता की समालोचना की। पत्रकार्य उनके पास इतना नेरपप-विरोधी साहित्य पहुँचा कि वे धक्का-धक्का कर गये। उन्होंने पत्र द्वारा आचार्यथी को सूचित किया कि जब से वह समालोचना प्रकाशित हुई है; तब से मेरे पास इतना विरोधी साहित्य आने लगा है कि मुझे देर-बा-देर लग रहा है।

ऐसा होता ही है

इसी प्रकार की घटना श्री उ० न० देवर के साथ भी घटी। वे उन दिनों सौराष्ट्र के मुख्यमंत्री थे। भाचार्यश्री बम्बई यात्रा के मध्य ब्रह्मदावार पधारे। वहाँ वे भाचार्यश्री के सम्पर्क में पहले-पहल ही आये। उन्होंने भाचार्यश्री को सौराष्ट्र आने का निमन्त्रण दिया और कहा कि इस प्रकार के कार्यक्रमों की वहाँ बड़ी आवश्यकता है। आप अपने कार्यक्रम में सौराष्ट्र-यात्रा को भी अवश्य सम्मिलित करें। वहाँ आपको अनेक रचनात्मक कार्यकर्ता भी उपलब्ध हो सकते हैं। दूसरे दिन ये फिर आये और बातचीत के सिलसिले में अपने उस निमन्त्रण को दुहराते हुए कहा कि आप इसकी स्वीकृति दे दीजिये। भाचार्यश्री का आगे का कार्यक्रम निर्धारित हो चुका था। उसमें किसी प्रकार का बड़ा हेर-फेर कर पाना सम्भव नहीं रह गया था, अतः वह बात स्वीकृत नहीं हो सकी।

कुछ समय बाद देवर भाई कापेस-अध्यक्ष बनकर दिल्ली में रहने लगे। उन दिनों मैं (मुनि युद्धल्लव) भी दिल्ली में ही था। मिलन हुआ तो बाण-कीर्त के विषयों में उन्होंने मुझे यह सारी घटना सुनाई और कहा कि जब वे मेरे निमन्त्रण देने के समाचार पत्रों में प्रकाशित हुए हैं; तभी से मेरे पास भाचार्यश्री के विषय में विरोधी माहित्य इतनी मात्रा में पहुँचने लगा कि मैं अस्मित रह गया।

मैंने जब यह पूछा कि आप पर उसकी क्या प्रतिक्रिया हुई? तब वे कहने लगे—“मैं मोक्षणा हूँ कि हर एक अक्षय्य कार्य के प्रारम्भ में बटुवा ऐसा होता ही है। ऐसा हुए बिना कार्य में अमर नहीं आती।”

व्यक्तिगत पत्र

श्री लेण्डन-डिननाथी के अक्षर पर माताष्टिक तथा ईश्वर-पत्नी व नारायण, अक्षर और भाचार्यश्री के विषय में अनेक लेख प्रका-

श्री कृष्ण अक्षरों को वे अक्षरों। उन्होंने मध्याह्निक के पत्र में विरोधी माहित्य तथा समाचारों को अक्षर-बोध देने का-

व्यक्तिगत पत्र भेजे । ऐसा ही एक पत्र सयोगवशात् मुझे देखने को मिला । वह साप्ताहिक हिन्दुस्तान के सम्पादक श्री बाकेविहारी भटनागर के नाम था । उसमें आचार्यश्री, तेरापथ तथा अणुव्रत-आन्दोलन को प्रथम देने की नीति का विरोध किया गया था । परन्तु उसका असर क्या होना था ? उस पत्र के कुछ दिन बाद ही स्वयं श्री भटनागरजी का एक लेख साप्ताहिक हिन्दुस्तान में प्रकाशित हुआ । उसमें आचार्यश्री तथा अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति एक गहरी अर्द्धा-भावना व्यक्त की गई थी ।

ऐसी घटनाएँ अनेक हैं और होती रहती हैं, पर जो आचार्यश्री के कार्यों में प्रभावित होते हैं; उनकी सख्या के सामने ये नगण्य-सी हैं । जहाँ गति होती है; वहाँ वायुमण्डल उसका विरोधी बनता ही आया है । गति में जितनी स्वरा होती है; वायुमण्डल भी उतनी ही अधिक तीव्रता से विरोधी बनता है; पर क्या कभी गति की प्राण-शक्ति क्षीण हुई है ? समय ही कहाँ है ?

आचार्यश्री अपने विरुद्ध किये जाने वाले विरोध या आक्षेपों के प्रति कोई विशेष ध्यान नहीं देते । उनका उत्तर देने की तो तेरापथ में प्रायः पहले से ही परिपाटी नहीं रही है । यह ठीक भी है । कार्य करने वाले के पास विरोध और भगडा करने का समय ही कहाँ रह पाता है ? वे इतने कार्य-व्यस्त रहते हैं कि कभी-कभी उन्हें समय की कमी खटकने लगती है । वे कहते हैं कि जो व्यक्ति निटल्ला रह कर या बलह आदि में समय व्यतीत करता है; उसका वह समय मुझे मिल पाता को कितना अच्छा होता ? उनकी कर्मठता और अदम्य दक्षिण मानव-ज्ञानि के लिए एक नव आशा का संचार करती है । सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्र-कुमारजी का निम्नोक्त कथन इसी बात की तो पुष्टि करता है—
 "तुलसीजी को देखकर ऐसा लगा कि यहाँ कुछ है । जीवन मूर्छित और परास्त नहीं है । उसमें आत्मा है और सामर्थ्य है । व्यक्तित्व में सजीवना है और एक विशेष प्रकार की एकाग्रता; यद्यपि हठवादित नहीं । बातावरण के प्रति उनमें ग्रहणशीलता है और दूसरे व्यक्तियों

और सम्प्रदायों के प्रति गवेदनशीलता । एक अणुराज्य वृत्ति उनमें पाई; जो परिस्थिति की ओर से अपने में शैथिल्य लेने को तैयार नहीं है। बल्कि अपने आस्था-मकल के बल पर उन्हें बदल डालने को तैयार है । धर्म के परिग्रहहीन आकिञ्चन्य के माथ इस अणुराज्य गिह्वृत्ति का कोण अधिक नहीं मिलता । साधुता निवृत्त और निष्क्रिय हो जाती है । वही अब प्रवृत्त और मत्क्रिय हो तो निश्चय ही मन में आशा उत्पन्न होगी है।”

मेरी हार मान सकते हैं

कभी उन्हें धार्मिक वाद-विवादों तथा जय-पराजयों में रम रहा हो तो रहा हो; पर अब तो वे इसे पसन्द नहीं करते । वाद-विवाद प्रायः जय-पराजय के भाव उत्पन्न करता है और तत्त्व-चिन्तन के स्थान पर छल, जाति आदि के प्रयोगों की ओर ले जाता है । पुराने युग में शास्त्रार्थों में बड़ा रस लिया जाता था; पर अब उन्हें वैमनस्य बड़ाने का ही एक प्रकार माना जाने लगा है । इसीलिए वे यथा सम्भव ऐसे अवसरों में वचना चाहते हैं ।

एक बार कुछ भाई आचार्यश्री से बातचीत करने आये । धीरे-धीरे बातचीत ने विवाद का रूप लेना प्रारम्भ कर दिया । आचार्यश्री ने उसका रुख बदलने के विचार से कहा कि इस विषय में जो मेरा विचार है, वह मैंने आपको बता दिया है । अब आपको उचित लगे तो उसे मानिये, अन्यथा मत मानिये ।

वे भाई बातचीत की दृष्टि से उतने नहीं आये थे; जितने की वाद-विवाद की दृष्टि से । उन्होंने कहा—“ऐसा कहकर बात समाप्त करने से तो आपके पक्ष की पराजय ही प्रकट होती है ।”

आचार्यश्री ने सौम्य-भाव रखते हुए कहा—“आपको यदि ऐसा लगता हो तो आप निश्चिन्तता से मेरी हार मान सकते हैं । मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है ।”

उपर्युक्त बात विसी ने मुझे मुनाई थी; तब मुझे गांधीजी के जीवन की एक ऐसी ही घटना का स्मरण हो आया। गांधीजी के हरिजन-आन्दोलन के विरुद्ध कुछ पण्डित उनसे शास्त्रार्थ करने आये। उनका कथन था कि वर्णाश्रम-धर्म जब शास्त्र-सम्मत है, तब हरिजनों को स्पर्श कैसे माना जा सकता है? गांधीजी को इस प्रकार के शास्त्रार्थ में कोई रस नहीं था। उन्होंने उस बात को वही समाप्त कर देने के भाव से कहा—“मे शास्त्रार्थ किये बिना ही अपनी पराजय स्वीकार करता हूँ। पर हरिजनों के विषय में मेरे जो विचार हैं, वे ही मुझे सत्य लगते हैं।” गांधीजी ने बड़े सहज भाव से हार मान ली; तब उन लोगों के पास आये कुछ कहने को शेष नहीं रह गया था। वे जब उठ कर जाने लगे तो गांधीजी ने कहा—“हरिजन-फंड में कुछ चढ़ा तो देते जाइये।” पण्डित-वर्ग उनकी बात को टाल न सका। प्रत्येक व्यक्ति ने चढ़ा दिया। गांधीजी ने वह सहृदय ग्रहण किया और अपने काम में लग गये। विवाद से बचकर काम में लगे रहने की मनोवृत्ति का यह एक ज्वलन्त उदाहरण कहा जा सकता है।

कार्य ही उत्तर है

तेरापथ की प्रारम्भ से ही यह पद्धति रही है कि निम्नस्तरीय आलोचनाओं तथा विरोधों का कोई उत्तर नहीं दिया जाना चाहिये। विरोध से विरोध का उपपन्न नहीं हो सकता। उससे तो उसमें और अधिक तेजी आती है। विरोधों का असली उत्तर है—कार्य। सब प्रश्न और सब तर्क-वितर्कें कार्य में आकर समाहित हो जाते हैं। आचार्यश्री इस सिद्धान्त के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। जब दूसरे आलोचना में समय बिनष्ट करते होते हैं; तब आचार्यश्री कोई-न-कोई कार्य निष्पादन करते होते हैं। किसी के विरोध का उसी प्रकार के विरोध-भाव से उत्तर देने में वे अपना तनिक भी समय लगाना नहीं चाहते।

बम्बई में आचार्यश्री का चातुर्मास था। उस समय कुछ विरोधी

सोम समाचार-पत्रों में उनके विरुद्ध घुमांसार प्रचार कर रहे थे। पर उनके अपने थे। प्रेरणाएँ किनकी थीं, यह कहने में अधिक जानना ही अच्छा है। कहना ही हो तो उसका साधारणीकरण या किया जा सकता है कि वह दूसरों की भी हो सकती है और उनकी अपनी भी। मभी पर वैसे नहीं थे। फिर भी कुछ विशेष पत्रों में जब लगातार किसी के विरुद्ध प्रचार होता रहे; तो दूसरे पत्र भी उसमें प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। या तो वे उसी राग में आलापने लगते हैं; या फिर उसकी सत्यता की गवेपणा में लगते हैं। वही के एक पत्र 'बम्बई-समाचार' के प्रतिनिधि श्री त्रिवेदी प्रतिदिन के उन विरोधी समाचारों से प्रभावित हुए और आचार्यश्री के पास आये। बातचीत करने पर उन्होंने पाया कि जो विरोधी प्रचार किया जा रहा है; वह विद्वेष-प्रेरित है। उन्होंने बड़े आश्चर्य के साथ आचार्यश्री से पूछा कि जब इतना विरोधी प्रचार हो रहा है; तब आप उसका उत्तर क्यों नहीं देते ?

आचार्यश्री ने कहा—“हम यहाँ जो काम कर रहे हैं; वही उसका उत्तर है। विरोध का उत्तर विरोध से देने में हमें कोई विश्वास नहीं है।” वस्तुतः आचार्यश्री अपने सारे चैतन्य को — सामर्थ्य को कार्य में खपा देना चाहते हैं। उसका एक कारण भी वे निरर्थक बातों में व्यर्थ्य करना नहीं चाहते। विरोध है और रहेगा; कार्य भी है और रहेगा; परन्तु विरोध के जीवन से कार्य का जीवन बहुत बड़ा होता है। झटपट में विरोध मर जायेगा और कार्य रह जायेगा। तब उनके अपराधेन चैतन्य की विजय सबकी समझ में आयेगी। उससे पूर्व किसी के आपेगी और किसी के नहीं।

सर्वाङ्गीण विकास

भगीरथ प्रयत्न

संघ के सर्वाङ्गीण-विकास के सम्बन्ध में आचार्यश्री ने बहुत बड़ा कार्य किया है। उनके अनुशासन में तेरापंस ने नई करवट ली है। मुप-

चेतना की गंगा को सघ में बहाने के लिए उन्होंने भगीरथ बनकर तपस्या की है। भव भी कर रहे हैं। उनका कार्य अवश्य ही बहुत बड़ा तथा धर्म-साध्य है; पर लाभ भी उतनी ही बड़ी मात्रा में है। जिन्होंने प्रारम्भ में उनकी इस तपस्या का मूल्य नहीं आँका था, वे आज आकने लगे हैं। जो आज भी नहीं आँक पाये हैं, वे उसे कल अवश्य आँकेंगे। आचार्यश्री के प्रयासों ने तेरापथ को ही नहीं, अपितु सारे जैन-समाज और सारे धर्म-सनातन का मस्तक ऊँचा किया है।

विकास-काल

जैन धर्म भारतवर्ष का प्राचीनतम धर्म है। किसी समय में उसका प्रभाव सारे भारत में व्याप्त था; परन्तु अब वह ग्रीष्मकालीन नदी की तरह सिकुड़ता और सूखता चला जा रहा है। पता नहीं कौन-सा वर्षा-काल उसे फिर से वेग और पूर्णता प्रदान करेगा। इस समय तो वह अनेक शाखाओं में विभक्त है। मुख्य शाखाएँ दो हैं—दिगम्बर और श्वेताम्बर। श्वेताम्बर शाखा के तीन विभाग हैं—सवेणी, म्धानजवामी और तेरापथ। इन सब में तेरापथ अशेकाकृत नया है। वि० स० २०१७ की आषाढ पूर्णिमा को इसकी आयु दो सौ वर्ष की सम्पन्न हुई है। एक धर्म सघ के लिए दो सौ वर्ष कोई लम्बा समय नहीं होता। तेरापथ की प्रथम शती तो बहुलांश में सघर्ष-प्रधान ही रही। हर क्षेत्र में उसे प्रबल सघर्षों में से गुजरना पड़ा। प्रगति के हर कदम पर उसे बाधाओं का सामना करना पड़ा। द्वितीय शती के दो अनुषांशों में साधारण गति ही होती रही। उसमें कोई विलक्षणता, प्रवाह या वेग नहीं था। तृतीय चतुर्थांश में प्रविष्ट होते ही उसमें कुछ विलक्षणताएं कुलबुलाने लगी, प्रवाह और वेग भी दृग्गोचर होने लगे, हार्ताकि वे उम समय बहुत ही प्रारम्भिक अवस्था में थे। अन्तिम चतुर्थांश वस्तुतः प्रगति का काल कहा जा सकता है। यह पूरा-ना-पूरा काल आचार्यश्री के नेतृत्व में ही बीता है। वे उसका सर्वांगीण विकास करने में जुटे हुए हैं।

व्याख्या-विभाग

आचार्यश्री ने तेरापथ की व्याख्या में भी एक नया पहलु दिया है। स्वामीजी ने तेरापथ की व्याख्या की थी: "हे प्रभो ! तेरा पथ।" आचार्यश्री ने उसे विकसित करके देना कहा - "हे मनुष्य ! तेरा पथ।" दोनों आचार्य का सम्मिलित धर्म या किया जा सकता कि जो प्रभु का पथ है वही मनुष्य का भी पथ है। प्रभु का पथ की व्याख्या नहीं है, यह तो मनुष्य के लिए ही उपयोगी हो सकता है। मनुष्य और प्रभु मार्ग के दो स्तंभों पर है। एक द्वारा मजिब का प्रारम्भ है, तो दूसरा उसकी पूर्णता। प्रभु पूर्ण है मनुष्य को पूर्ण जाना है, मजिब तप करने के लिए बनना है। मार्ग बनने वाले के लिए ही उपयोगी है। पदुप करने वाले के लिए किसी समय उपयोगी रहा हो पर अब उसके लिए उसकी आवश्यकता नहीं है। स्वामीजी की व्याख्या में धर्म की स्थिति विद्विष्ट हुई है और आचार्यश्री की व्याख्या में गति। स्थिति और गति; दोनों ही परस्पर मापेक्ष भाव हैं। कोरी गति या कारी स्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आचार्यश्री ने अपने एक कविता-सद में उपर्युक्त दोनों अर्थों का समावेश इस तरह किया है

हे प्रभो ! यह तेरापथ,
मानव मानव का यह पथ,
जो बने हयके पथिक,
सच्चे पथिक कहलाएंगे।

युग-धर्म के रूप में

बहुत वर्षों तक तेरापथ का परिचय प्रायः राजस्थान से ही रहा था। उसमें बाहर जाना एक विदेश-यात्रा के समान ही गिना जाता था। राजस्थान में भी कुछ निश्चित वर्ग के लोगों तक ही इसकी परिधि सीमित रही थी। उस समय जन-साधारण में तेरापथ को जानने वाले व्यक्ति नगण्य ही कहे जा सकते थे। आचार्यश्री के विचारों में उसके

तेरापथ के महान् आचार्य

प्रसार की योजनाएँ थीं। उनका मन्तव्य है कि नैतिक-धर्म को किन्हीं सीमाओं में अंकुश कर रखना बेमूलक है, वह ही व्यक्ति का है, जो करे उसी का है। इन्होंने 'धर्म गाने' में अपने इन विचारों की योजना गूया है।

व्यक्ति-व्यक्ति में धर्म समाया,
जाति-पाँति का भेद मिटाया,
निर्धन-धनिक न अन्तर पाया,
जियने धारा; जन्म सुधारा।

आचार्यश्री ने केवल यह कहा ही नहीं; किया भी है। वे ग्रामीण किसानों से लेकर शहरी व्यापारियों में और हरिजनों से लेकर राष्ट्र के कर्णधारों तक में धर्म के सस्कार भरने का काम करते रहे हैं। उनकी दृष्टि में धर्म आत्म-शुद्धि का साधन है। अहिंसा, सत्य आदि उसके भेद हैं। यही तेरापथ है।

आचार्य भिक्षु ने धर्म का जो सूक्ष्मतापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया तथा हिंसा और अहिंसा की जिन सीमा-रेखाओं को निर्भीकता और स्पष्टता से प्रस्तुत किया, उसका महत्व उस युग में उतना नहीं मोजा जा सका, जितना कि आज आका जा रहा है। स्वामीजी के वे विवेचित तथ्य आचार्यश्री की भाषा पाकर युग-धर्म के रूप में परिणत हो रहे हैं। हिंसा और अहिंसा की सूक्ष्मतापूर्ण विवेचना से प्रभावित होकर भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश श्री बी० पी० सिन्हा ने कहा—“उनका (आचार्य भिक्षु का) यह मन्तव्य मुझे बहुत ही अच्छा लगा कि हिंसा में यदि धर्म हो तो जल-मन्थन से धुन निकल आये। वे व्यापक अहिंसा के उपासक थे। उन्होंने उपासना में और सिद्धान्त में अहिंसा को कही खण्डित नहीं होने दिया। बहुत बार लोग अहिंसा को तोड़-भरोड़ कर परिस्थितियों के साथ उनकी समझ बिठाते हैं; पर यह ठीक नहीं। अहिंसा एक शाश्वत सिद्धान्त और आदर्श है। यदि हम उस तक नहीं पहुँच पा रहे हैं तो हमें अपनी दुर्बलता को समझना चाहिए। हिंसा और अहिंसा का कोई तादात्म्य

नहीं हो सकता। आचार्य भिक्षु का यह कथन बहुत यथार्थ है—“पूरुं और पश्चिम की ओर जाने वाले दो मार्गों की तरह हिमा और अहिमा कभी मिल नहीं सकती।”

उत्तर का स्तर

तेरापथ के मन्तव्यों को लेकर प्रारम्भ से ही काफी ऊहापोह रहा है। उसकी गहराई को बहुत छिछलेपन में लिया गया; धनः बढ़ा उसका परिहास किया जाता रहा है। जैन के महान् सिद्धान्त ‘स्याद्वाद’ को गकराचार्य और धर्मकीर्ति जैसे उद्भट विद्वानों ने जिस प्रकार अपने व्यंगों का विषय बनाया और कहा—“स्याद्वाद के सिद्धान्त को मान लिया जाए तो यह सिद्ध होगा कि ‘ऊट-ऊट भी है और दही भी’ परन्तु भोजन के समय दही खाने की इच्छा होनी है तब क्या कोई ऊँट को दही मानकर खाने लगना है ?” ऐसी ही कुछ बिना सिर-पंर की उल्टी-सीधी तर्कों के आधार पर तेरापथ के मन्तव्यों पर भी व्यंग किये जाते रहे हैं। विरोधियों को तेरापथ के विरुद्ध प्रचार करने का अवसर तो अबाध गति से मिलना रहा है, क्योंकि किसी भी प्रकार के विरोध का उत्तर देने की परम्परा तेरापथ में नहीं रही। फलस्वरूप तेरापथ के मतव्यों को विकृत रूप से प्रस्तुत करने वाला माहित्य जनता और विद्वानों तक प्रचुर मात्रा में पहुँचना रहा, परन्तु उनके गलत तर्कों का समाधान करने वाला माहित्य बिनकृप नहीं पहुँच पाया। इस वास्तविकता से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि उत्तर न देने की आवश्यकता न होने के कारण ऐसा कोई समाधान-कारक माहित्य लिखा भी नहीं गया। फल यह हुआ कि उन मन्तव्यों के प्रति धारणा बनाने का माधन विरोधी-माहित्य ही बनता रहा। दृष्टिपति आचार्य श्री जैसे ज्ञानदर्शी मनीषी जैसे महत् कर सकते थे ? उनके विचारों में मन्दन होने लगा कि विरोध का उत्तर दिने बिना

किसी को सत्य का कैसे पता लग पायेगा ? आलोचना को सर्वथा उपेक्षा की दृष्टि में देखना क्या उचित है ? इस विचार-मग्न्यन में से जो नवनीत के रूप में निर्गम्य उभरा, वह यह था कि उच्चस्तरीय आलोचनाओं का उसी स्तर पर उत्तर देना चाहिए। उससे विवाद बढ़ने के बजाय तत्त्व-बोध होने की ही अधिक सम्भावना है। इस निर्गम्य के पश्चात् उन अनेक आलोचनाओं के उत्तर दिये जाने लगे, जो कि द्वेषमूलक न होकर तत्त्व-चिन्ता-मूलक होती थी। इसका जो फल आया, उससे यही अनुभव किया गया कि यह सर्वथा लाभप्रद चरणन्यास था।

निरूपण-शैली का विकास

आचार्यश्री ने तेरापथ के मन्तव्यों को नवीन निरूपण-शैली के द्वारा विद्वज्जन-भोग्य बनाने का प्रयास किया। उन्होंने साधु-समाज को एतद्विषयक साहित्य लिखने की प्रेरणा और दिशा दी। साहित्य के माध्यम से जब उन मन्तव्यों की दार्शनिक पृष्ठभूमि जनता तक पहुँची तो उसका स्वागत हुआ। फलतः आलोचनाओं का स्तर ऊँचा उठा।

निरूपण-शैली की नवीनता में जहाँ अनेक व्यक्तियों को तत्त्व-लाभ दिया, वहाँ कुछ व्यक्ति उस दृष्टिकोण को यथार्थता से नहीं आँक सके। उन्होंने आचार्यश्री पर यह आरोप लगाया कि वे आचार्यश्री भिक्षु के विचारों को बदल कर जनता के सामने रख रहे हैं। सिद्धान्तों का यथावत् प्रतिपादन करने में उन्हें भय लगने लगा है। परन्तु वे सब निर्मूल धातें हैं। ऐसे अनेक भ्रवसर आये हैं; जहाँ आचार्यश्री ने विद्वत्-सभाओं में तेरापथ के मन्तव्यों का बड़ी स्पष्टता के साथ निरूपण किया है। वे यह मानते हैं कि तत्त्व को किसी के भी सामने यथार्थ रूप में ही निरूपित करना चाहिए; उसे छिपाना बहुत बड़ी कायरता है। परन्तु वे यह भी मानते हैं कि तत्त्व-निरूपण में जितनी निर्भोक्ता की आवश्यकता है; उससे कहीं अधिक विवेक की आवश्यकता है।

संस्कृत-भाषना

जैनभाषाओं भाषा के विषय में जो उदाहरण दिये हैं। वे जब कि प्रथम रूप में थे, तब वहीं की धरती को उन्होंने अपनी भाषा बनाया और उनके साहित्य-मंडल को बना। उनका गहन हूँने तथा उन तक जाने बिना पहुँचाने का इतना अधिक धोर कोई उदात्त प्रकार नहीं हो सकता। उन्होंने भारत के प्रायः हर प्रांत के साहित्यपरंपरा में अपना योगदान दिया है। धर्म-भाषणी, धर्मशास्त्र, मुक्तगी, महाराष्ट्री, तेलगू, तमिल, कन्नड़ आदि भाषाओं में भी उन्होंने इतना विद्या है कि वे भाषाएँ जैनभाषाओं के उपकार में श्रद्धा-युक्त नहीं हो सकती। क्षेत्रीय भाषाओं में तो उन्होंने विद्या ही, परन्तु जब संस्कृत का प्रभाव बढ़ा, तब उन्हें भी वे पीछे नहीं रहे। प्रायः हर विषय पर उन्होंने अधिपतारी कृत्य किया। यह एक प्रवाह था। सूत्र बढ़ा, बढ़ता रहा, पर पीछे धीरे-धीरे मंद होने लगा। कई सम्प्रदायों में तो उसके रुकने की सी स्थिति आ गई। प्रांतीय भाषाओं का पल्लवन अवश्य मुनाक रूप में होता रहा।

तेरापथ का प्रवर्तन ऐसे समय में हुआ, जब कि संस्कृत का कोई वातावरण नहीं था। भाषाओं का अध्ययन सूत्र बनता था; पर संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा एक प्रकार से विच्छिन्न थी। इसीलिए तेरापथ की प्रथम धती केवल राजस्थानी साहित्य को ही माध्यम बनाकर चलती रही थी। यह उचित भी था, क्योंकि स्वामीजी का विहार-क्षेत्र राजस्थान था। यहाँ की जनता को प्रतिबोध देना उनका लक्ष्य था। दूसरी भाषा यहाँ इतनी सफलता नहीं पा सकती थी।

लगभग सौ वर्ष पश्चात् जयाधर्य ने तेरापथ में संस्कृत का बीज-वपन किया। एक संस्कृत-विद्यार्थी को उन्होंने अपना मार्ग-दर्शक बनाया। ब्राह्मण विद्वान् जैनों को विद्या देना नहीं चाहते थे। उनकी दृष्टि में वह साँप को दूध पिलाने जैसा था। उनके सिष्य श्रीमधवावली ने उस अध्ययन-परम्परा को जरा भागे बढ़ाया; परन्तु वह पतन नहीं सकी और उनके साथ ही विलीन हो गई।

सप्तमाचार्यश्री डालगणी के समय बीदासर के जागीरदार ठाकुर हुकमसिंहजी ने उनके पास एक श्लोक भेजा और अर्थ पूछा । परन्तु उनकी जिज्ञासा को कोई भी साधु वृत्ति नहीं दे सका । यह स्थिति भावी आचार्यश्री कालूगणी को बहुत चुभी । उन्होंने अपने मन ही मन व्याकरण पढ़ने का सकल्प किया । चाहु को राहु भी मिली । पण्डित घनश्यामदासजी ने सहयोग दिया । आचार्यपद का उत्तरदायित्व संभालने के बाद भी एक बालक की तरह महानिज्ञा रखते रहकर उन्होंने सस्कृत का अध्ययन किया । एक सकल्प पूरा हुआ, पर तब भी उनके सामने शिष्यवर्ग के अध्ययन की समस्या खड़ी थी । पण्डित घनश्यामदासजी रूप-पटिष्ठ थे, प्रयोग का कोई विवेक अभ्यास नहीं था । आचार्यश्री कालूगणी का प्रयोग-भाण्डित्य उनकी अपनी सकल्प-शक्ति का परिणाम ही अधिक था ।

दूसरे पटिष्ठ मिले रघुनन्दनजी शर्मा । वे आयुर्वेदाचार्य और आयु-कविरत्न थे । उनके विनीत और सरल सहयोग ने अनेक साधुओं को व्याकरण में पारंगत बना दिया । फलस्वरूप मुनिश्री चौममलजी द्वारा महाव्याकरण मिश्रशब्दानुशासन का निर्माण हुआ । उसकी वृहद्दृष्टि स्वयंप० रघुनन्दनजी ने लिखी । धीरे-धीरे उसके अन्य अंगोपांग भी बना लिए गये । इस प्रकार व्याकरण की दृष्टि में आत्म-निर्भर तो अवश्य बन गये, पर विषय-विस्तार नहीं हो सका । साहित्य-निर्माण भी अर्ध-कुछ स्तौत्र बनाने तक ही सीमित रही ।

आचार्यश्री तुलसी के मुनि जीवन के भारह वर्ष व्याकरण-ज्ञान की गतियों में घूमते ही बीते थे । आज जो कुछ उनके पास है; वह तो सब बाद का ही अर्जन है । यह अवश्य है कि क्रमिक विकास चालू था । आचार्यश्री ने अपने विद्यार्थी-जाल में दर्शन-शास्त्र के अध्ययन का बीज-रूपन कर दिया था, पर वह पलकित तो आचार्य बनने के बाद ही हो सका ।

आचार्यश्री के पास पढ़ने वाले हुए विद्यार्थी मुमुक्षुओं को व्याकरण-अध्ययन-सम्बन्धी अमुविधाओं का विशेष सामना नहीं करना पड़ा । उसमें आत्म-निर्भरता तो आ ही गई थी; साथ ही प्रम-निर्धारण भी हो

गया था। परन्तु हम लोगों को दर्शन के जगत् में विराहून बिना धर्म के जानना पडा था। मर्यादा ही कठना वास्तविक कि उगमें भट्ठने-भट्ठने जब मर्यादा ही बाहर घाने ली घाने का मर्यादा के ताम ही पाया। हर लोगों के बाद के विद्यार्थियों को धर्म घानेक समुचितार्थ या भाषाएँ घाने ही देगनी पडी है। परन्तु अध्यापन-सम्बन्धी समुचितार्थ ज्ञान मर्यादा हो गई थी।

यह तेरापथ म मर्यादा-भाषा के विकास की मर्यादा-मी बाग्या है। इसकी गति का स्वरा प्रदान करने में ध्यावायंथी का ही श्रेयोभाग अधिक रहा है। ध्याकी दीक्षा में पूर्व यह गति बहुत मर्यादा थी। दीक्षा के बाद कुछ स्वरा मर्यादा। उगमें ध्याका प्रयास भी गाय था। ध्यावायं बनने के बाद उगमें पूर्ण स्वरा भरने का श्रेय ली पूर्णत ध्याकी ही दिया जा सकता है। ध्याने घाने बुद्धि-बीजन में न केवल घाने शिष्य-वर्ग को सस्वृत भाषा का ही अधिकारी विद्वान् बनाया है, ध्यानु उगको प्रत्येक क्षेत्र का अधिकारी विद्वान् बनाने में प्रयत्न चामु रखा है। इसमें दर्शन तथा साहित्य विषयक निर्माण को बहुत प्रोत्साहन मिला। स्वयं भाषाएँ-थी में तथा उनके शिष्यवर्ग में घानेक स्वतंत्र ग्रन्थों का निर्माण कर सस्वृत-वाङ्मय की अर्चना की है और कर रहे है।

हिन्दी में प्रवेश

भारत मण्डलन की राज्यभाषा हिन्दी स्वोक्त की गई है। इसमें इस भाषा के महत्व में किसी को आशका नहीं हो सकती। स्वतन्त्रता में पूर्व भी भारत में हिन्दी का बहुत महत्व रहा है। यह भाषा सारे राष्ट्र को एक कडी में जोड़ने वाली रही है। विदेशी सरकार ने यद्यपि इसके विकास में घानेक बाधाएँ उत्पन्न कर दी; जो कि अब तक भी बाधक बनी हुई हैं; फिर भी उसका अपना सामर्थ्य इतना है कि वह पराजित नहीं हो सकती। हिन्दी का अपना साहित्य है, अपना इतिहास है। उसका बहुत लम्बा-थोड़ा विस्तार है। पर तेरापथ में हिन्दी भाषा का

प्रवेश कोई अधिक पुरानी घटना नहीं है।

तेरापथ का विहार-क्षेत्र इतने बर्षों तक मुख्यतः राजस्थान ही रहता रहा है। पहले वहाँ प्रायः देसी रियासतों का ही बोलबाला था। भाषा के सम्बन्ध में वहाँ के लोगों की अपनी-अपनी अच्छी-बुरी अनेक धारणाएँ थी। वहाँ प्रायः सर्वत्र राजस्थानी (मारवाड़ी) भाषा का ही प्रचलन था। अतः हिन्दी बोलना एक अह का सूचक समझा जाता था।

एक बार मुजानगढ़ में हिन्दी भाषा के विषय में कोई प्रकरण चल पड़ा। शुभकरणीजी दशाणी भी वही थे। उन्होंने आचार्यश्री से पूछा कि सन्तो में क्या कोई हिन्दी भाषा में निबन्धादि लिख सकते हैं? आचार्यश्री ने हम तीनों सङ्घपाठियों (मुनिश्री नममलजी, मुनिश्री नगराजजी और मुनि बुद्धमल्ल) की ओर देखकर कहा—क्या उत्तर देते हो? हम तीनों ने उत्तर में जब स्वीकृतिमूलक सिर हिलाया तो आचार्यश्री को आश्चर्य ही हुआ। शुभकरणीजी ने वहाँ यह बात खोलने के लिये ही चलाई थी, अन्यथा उन्हें पता था कि हम लिखते हैं। वस्तुतः हम तीनों उन दिनों हिन्दी में कुछ-न-कुछ लिखते रहते थे, पर वह सब गुप्त ही था। उस दिन की उस स्वीकृति ने ही उस रहस्य को प्रकट किया था। आचार्यश्री से कुछ प्रेरणामूलक विचार पाकर हमें भी खुलद आश्चर्य हुआ। उसी दिन से वह लेखन-कार्य प्रचलनता से हटकर प्रकट रूप में आ गया। हम लोगों ने कोई हिन्दी की अलग शिक्षा ग्रहण नहीं की थी। सीधे सस्कृत से ही उसमें धाये थे; परन्तु हिन्दी की पुस्तकें पढ़ते रहने के कारण वह अपने-आप ही हृदयगत हो गई थी।

धीरे-धीरे अनेक साधु हिन्दी के अन्धे विद्वान् तथा लेखक बन गये। अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन हिन्दी में किया गया। स्वयं आचार्यश्री ने हिन्दी में अनेक रचनाएँ की हैं। तेरापथ में हिन्दी को बड़ी त्वरता से अपनाया गया और विकसित किया गया। जैनाग्रमों के हिन्दी अनुवाद की घोषणा भी आचार्यश्री कर चुके हैं। कार्य बड़े वेग में आगे बढ़ रहा है। अनेक साधु अनुवाद के कार्य में लगे हुए हैं।

भाषण-शक्ति का विकास

वि०स० १९६४ में आचार्यश्री अपना प्रथम चातुर्मास वीकानेर करने के पश्चात् शीतकाल में भीनासर प्यारे । उन दिनों हम लोग स्तोत्र-रचना कर रहे थे । पण्डित रघुनन्दनजी वहाँ आये हुए थे । हमने उनको अपने-अपने श्लोक सुनाये । उन्होंने सायंकालीन प्रतिक्रमण के बाद आचार्यश्री के सम्मुख स्तोत्र-रचना की बात रख दी । आचार्यश्री ने हम सबसे श्लोक सुने और प्रोत्साहन दिया । साथ ही एक दूसरी दिशा की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा—“मैंने अनुभव किया है कि अब तब संस्कृत-पठन के बाद श्लोक-रचना की ओर तो सन्तों की सहज प्रवृत्ति होती रही है; पर भाषण-शक्ति के विकास की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है । तुम लोग इस तरफ भी अपनी शक्ति लगाओ ।”

हम सबको आचार्यश्री के इस दिशा-निर्देश से बड़ी प्रेरणा मिली । बात धाने बढ़ी और अभ्यास-वृद्धि के मार्गों का निश्चय किया गया । पण्डितजी भी उस विचार-विमर्श में सहायक थे । समय-समय पर वाद-विवाद-प्रतियोगिता तथा भाषण-प्रतियोगिता करते रहने का सुझाव आया । संस्कृतज्ञ सन्तों को बुलाकर आचार्यश्री ने प्रतियोगिता में भाग लेने की प्रेरणा दी और अगले दिन से उसे प्रारम्भ करने की घोषणा की । योजना-मूर्धक भाषण-पद्धति को विकसित करने का वह प्रथम प्रयास था । उससे पूर्व कोई अपनी प्रेरणा से अभ्यास करता तो कर लेता; पर उसमें बोलने की अभिन्न नहीं मिलती । सामुदायिक रूप से सबके सम्मुख भाषण करने से जो अभ्यास होता है; उसकी अपनी विशेषता ही अलग होती है ।

शीतकाल का समय था । बाहर से साधु-वर्ग आया हुआ था । महान भाषण का नवीन कार्यक्रम प्रारम्भ होने जा रहा था । सभी की धारणा में उत्साह भाँक रहा था । किसी के मन में बोलने की उत्सुकता थी; तो किसी के मन में सुनने की । आचार्यश्री ने गमकयत्कता और समयोगता के

आधार पर दो-दो व्यक्तियों के अनेक ग्रुप बना दिये और उन्हें एक-एक विषय दे दिया । इस क्रम से वह प्रथम वाद-विवाद-प्रतियोगिता प्रारम्भ हुई । आचार्यश्री कोस न्तों के सामर्थ्य को तोलने का अवसर तो प्रायः मिलता ही रहता है; पर उससे जन-साधारण को भी सबके सामर्थ्य से परिचित होने का अवसर मिला ।

भाषण-शक्ति के विकास के लिए वह प्रकार अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ । उससे विद्यार्थी-वर्ग में आत्म-विश्वास का जागरण हुआ । उसके बाद हम लोग स्वतः अभ्यास में भी अधिक तीव्रता से प्रवृत्त हुए । प्रभात-काल में गाम-बाहर जाते; वहाँ अकेले ही खड़े-खड़े वक्तव्य दिया करते । समय-समय पर आचार्यश्री के समक्ष प्रतियोगिताएँ होती रहती । उससे हमारी गति में अधिक त्वरा आती रहती ।

शीतकाल में सस्कृतज्ञ साधुओं की जितनी सख्या होती; उतनी वाद में नहीं रह सकती थी, अतः बड़े पैमाने पर ऐसी प्रतियोगिताएँ प्रायः शीत काल में ही हुआ करती । कई बार ऐसी प्रतियोगिताएँ अनेक दिनों तक चलती रहती । एक बार छापरे में वाद-विवाद-प्रतियोगिता हुई थी तथा एक बार आडसर में भाषण प्रतियोगिता । वे दोनों ही काफी लम्बे समय तक चलती रही थी । धीरे-धीरे वक्तव्य-कला में अनेक नवोन्मेष होते रहे । अनेक व्यक्तियों में धाराप्रवाह भाषण देने की योग्यता प्राप्त की । आडसर से प्रारम्भ हुई भाषण-प्रतियोगिता में मुनिश्री नथमलजी पुरस्कार-भाग्य रहे ।

एक बार आचार्यश्री सरसा में थे । सायकालीन प्रतिव्रमण के पश्चात् उन्होंने सन्तों को बुलाया और सस्कृत-भाषण के लिए कहा । यह घोषणा भी की कि 'त्रिवेणी' (मुनिश्री नथमलजी, मुनिश्री नगराजजी तथा मुनि बुद्धमल्ल) के अतिरिक्त अन्य कोई साधु यदि भाषण में कोई विशेष योग्यता दिखावेगा तो उसे पुरस्कार दिया जायेगा । अनेक सन्तों के भाषण हुए । उनमें मुनि मोहनलालजी 'शार्दूल' तथा मुनि बच्छराजजी ने यह उद्घोषित पुरस्कार प्राप्त किया । वे दोनों ही एकाधर-प्रधान

मरुतुन बोले थे ।

मरुतुन के गमल ही शिन्दी में भी भाषण-कला के विकास को आकर्षणता थी. धन कभी-कभी शिन्दी-भाषणों का कार्यक्रम भी रखा जाता रहा है । कभी-कभी विचार-गोष्ठियों का आयोजन किया जाता रहा है । उसमें किसी एक विद्वान् माधु का मार्गदर्शन, दर्शन आदि दिनों भी निर्णोक्त विषय पर बहस-व्यवस्था रखा जाता है और भाषण के पश्चात् उसी विषय पर प्रश्नोत्तर चलते हैं । एक बार स० २००८ के मर्यादा-महोत्सव पर उस वृत्त की विचार गोष्ठियों के भाषण तथा प्रश्नोत्तर 'विचारोत्तर' नाम से हस्त-लिखित पुस्तक के रूप में मकलित भी किये गये थे । बहस-कला के विकसामार्थ दुर्ग प्रकार के अनेक उत्सव होते रहे हैं । हर वर्षीय उत्सव एक नवीन शक्ति का वरदान लेकर आता रहा है और आचार्यों की प्रेरणाओं के बल पर सभ में हर बार उन्ने प्राप्त किया है ।

कहानियां और निबन्ध

वक्त्र-कला के साथ-साथ लेखन-कला की वृद्धि करना भी आवश्यक था । आचार्यश्री का चिन्तन हर क्षेत्र में विकास करने के मकल्प को लेकर चल रहा था । हम सब उस चिन्तन के प्रयोग-क्षेत्र बने हुए थे । आचार्यश्री ने हम सबको मार्ग-दर्शन देने हुए कहा कि तुम लोगों को प्रतिमास मरुतुन में एक कहानी लिखनी चाहिए । उसके लिए प्रत्येक महीने के शुक्लपक्ष का छठवां दिन निश्चय कर दिया गया । इस बार कौनसी कहानी निबन्धी है; यह उस दिन बता दिया जाता और हम प्रायः चार दिन के अन्दर-अन्दर लिखकर वह आचार्यश्री को भेंट कर देते । अनेक महीनों तक यह क्रम चलता रहा । इसमें हमारा अभ्यास बढ़ा, चिन्तन बढ़ा और शब्द-प्रयोग का सामर्थ्य बढ़ा ।

कथा लिखने का सामर्थ्य हो जाने पर हमारे लिए प्रतिमास एक निबन्ध लिखना अनिवार्य कर दिया गया । यह क्रम भी अनेक महीनों तक चलता रहा । कई बार निबन्ध-प्रतियोगिताएं भी की गईं । प्रशुद्धि

निहालने के लिए पहले तो हम एक दूसरे की कथाओं तथा निबन्धों का निरीक्षण करते; पर बाद में कई बार गोष्ठियों के रूप में सब सम्मिलित बैठकर बारी-बारी से अपना निबन्ध पढ़कर सुनाते और एक दूसरे की प्रशुद्धियाँ निकालते। संस्कृत-भाषा के अभ्यास में यह क्रम हमारे लिए बहुत ही परिणामकारी सिद्ध हुआ।

समस्या-पूर्ति

समस्या-पूर्ति का क्रम आचार्यश्री कालूगणी के युग में ही चालू हो चुका था। अनेक सन्तों ने कल्याण-मन्दिर तथा भक्तानामर स्तोत्रों के विभिन्न पदों को लेकर समस्या-पूर्ति की थी। स्वयं आचार्यश्री ने भी आचार्यश्री कालूगणी की स्तुति-रूप में कल्याण-मन्दिर की समस्या पूर्ति की थी। हम लोगों के लिए आचार्यश्री ने उस क्रम को पुनरुज्जीवित किया। परन्तु वह उसी रूप में न होकर अन्य रूप में था। किसी काव्य आदि में से लेकर तथा नवीन बनाकर कुछ पद दिये जाते और एक निश्चित भवधि में उनकी पूर्ति करवाई जाती। शीतकाल में बाहर से भी मुनिजन आ जाते; तब यह कार्यवन्म रखा जाता। फिर वे पलोक समा में सुनाये जाते; बड़ा उत्साह रहा करता।

इस प्रकार संस्कृत में भाषण, लेखन और कविता-निर्माण आदि अनेक प्रवृत्तियाँ चलती रहती थी। अनेक बार ऐसे सप्ताह मनाये जाते थे; जिनमें यह प्रतिज्ञा रहती थी कि संस्कृतजों के साम साम्भारणतया संस्कृत में ही बोला जाये। उस समय का सारा वातावरण संस्कृतमय ही रहा करता था।

जयज्योतिः

वि० सं० २००५ के फाल्गुन में जयज्योति नामक हस्तलिखित मासिक पत्रिका निकाली गई। इसका नामकरण जयाचार्य की स्मृति में किया गया था। इसमें संस्कृत और हिन्दी, दोनों भाषाओं के ही लेख आदि निकलते थे। इसका सम्पादन मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' किया करते

किसी भी भाषा में आशुकविता कर पाना सहज नहीं होता; सस्कृत में तो वह और भी कठिन हो जाता है। तत्काल प्रदत्त विषय या समस्या पर उसी समय पद्य-बद्ध बोलने की क्षमता प्राप्त करने वाले को मानसिक एकाग्रता की बहुत बड़ी आवश्यकता होती है। उसके मस्तिष्क को एक साथ अनेक बातों पर ध्यान रखकर उन सबमें सामञ्जस्य बिठाना पड़ता है। प्रतिपाद्य को क्रमशः धीरे-धीरे जानना, तदनुकूल शब्दों का चयन करते जानना, छन्दो-भंग न होने देना और व्याकरण की दृष्टि से कोई असुद्ध प्रयोग न होने देना आदि ऐसी अनेक गुणधर्मियाँ हैं, जिनको एक साथ ही सुलझाते हुए चलना पड़ता है। जो एक साथ इतना सब कुछ नहीं कर सकता है, वह आशुकविता भी नहीं कर सकता।

वि०सं० २००१ का मर्यादा-महोत्सव मुजानगड में था। वहाँ मैंने (मुनि बुद्धमल्ल) अपने आशुकविता के अभ्यास को आचार्यश्री के चरणों में निवेदित किया। आशुकविता के क्षेत्र में वह सर्व प्रथम पदन्यास था। उसके बाद वि० सं० २००४ के मिंगसर महीने में राजलदेसर में मुनिश्री नयमलजी और मैंने जनता के सम्मुख आशुकविता की। मुनिश्री नगराजजी तृतीय और मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' चतुर्थ आशुकवि हुए। उनके बाद मुनि दूलीचन्दजी (साडुलपुर), मुनि मौठालालजी, मुनि मोहनलालजी 'शार्दूल' आदि अनेक सतों ने आशुकविता का अभ्यास किया। इस क्षेत्र में भी पंडित रघुनन्दनजी का आशुकवित्व ही प्रेरणा का सूत्र बना था। आचार्यश्री के शुभ आशीर्वादों और प्रेरणाओं ने इस क्षेत्र में मुनिजनों को जो सफलता प्रदान की है; वह विद्वत्-समाज में संघ के गौरव को बहुत ऊँचा करने वाली सिद्ध हुई है।

अवधान

अवधान-विद्या स्मरण-शक्ति और मन की एकाग्रता का एक चामत्कारिक रूप है। जैनों में यह विद्या दीर्घकाल से प्रचलित रही है। नन्द के महामन्त्री शकडाल की सातों पुत्रियों की चामत्कारिक स्मरण-शक्ति

का वर्णन ग्रन्थों में मिलता है। उपाध्याय यशोविजयजी सहस्रावधानी थे। श्रीमद् रामचन्द्र भी भवधान विद्या में निपुण थे। इस प्रकार के अनेक व्यक्तियों के नाम तो प्रायः बहुत समय से सुनते आये थे; परन्तु उसका प्रत्यक्ष रूप वि०स० १९६६ बीदासर में देखने को मिला। गुजराती भाई धीरजलाल टोकरसी शाह वहाँ आचार्यश्री के दर्शन करने आये थे। वे शतावधानी थे। उन्होंने आचार्यश्री के सामने भवधान प्रस्तुत कि आचार्यश्री उनकी इस शक्ति से प्रभावित हुए। तैरापथ-संघ में भी विद्या का प्रवेश हो; ऐसा उनके मन में सकल्प हुआ। कालान्तर मुनिश्री धनराजजी (सरसा) का चातुर्मास बम्बई में हुआ। वहीं धीरलाल भाई ने उनको वह विद्या सिखाई। उन्होंने वहाँ विधिवत् सौ भवधानों का प्रयोग कर इस क्षेत्र में पहल की। आचार्यश्री का संकल्प बन गया।

मुनि महेंद्रकुमारजी 'प्रथम' ने भवधान विद्या को भारत-विद्युत नहीं; परन्तु उससे भी अधिक प्रमिद्ध कर दिया। दिल्ली में विद्ये उनके प्रयोग अत्यन्त प्रभावक रहे। पत्रों में उनकी बहुत चर्चाएँ हुईं स्वयं राष्ट्रपति इस विषय में जिज्ञासु हुए और राष्ट्रपति-भवन में प्रयोग करने के लिए उन्हें आमन्त्रित किया गया। राष्ट्रपति भवन और ने ही वह कार्यक्रम रखा गया था। राजधानी के अनेकानेक उत्तम व्यक्तियों को आमन्त्रित किया गया। राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद, उपराष्ट्रपति डॉ० एम० राधाकृष्णन्, प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू आदि उममें प्रगल्भता के रूप में उगमिष्ठ थे। भवधानकार ने आमन्त्रित किया और प्रश्न सुनने के लिए बैठ गये। निर्धारित प्रश्नों की समाप्ति के बाद जब उन्होंने एक-एक-एक किन्तु उन सभी प्रश्नों को यथावत् उत्तर दिया और उनका उत्तर भी दे दिया तो उगमिष्ठ जन आश्चर्यचकित रह गये। एक अन्य समारोह में गृहमंत्री श्री मोदिन्दबन्धन पत्र ने तो वही पत्र कहा था कि यह तो कोई देवी भवधान ही हो सकता है। मुनिश्री धनराजजी ने उगम विषय को स्पष्ट करने हुए उन्हें बतलाया

कि देवी चमत्कार नाम की इसमें कोई वस्तु नहीं है। यह केवल साधना और एवाप्रता का ही चमत्कार है।

मुनि महेन्द्रकुमारजी के प्रयोगों और उस विषय में हुई हलचलो ने अवधान की ओर सबका ध्यान आकृष्ट कर दिया। अनेक मुनियों ने इसका अभ्यास किया। अनेक नवोन्मेष भी हुए। मुनि राजकरणजी ने पंचमौ, मुनि चम्पालालजी (सरदारगढ़) और धर्मचन्द्रजी ने एक हजार तथा मुनि श्रीचन्द्रजी ने डेढ़ हजार अवधान किये।

इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में आचार्यधी ने विकास के बीज बोये हैं। कुछ अक्षुण्ण हुए हैं, कुछ पुष्पित, तो कुछ फलित भी। वे प्रेरणा के अमण्डल ग्योन हैं। उन्होंने अपने शिष्य-वर्ग को मत् प्रेरणाओं से अनु-प्राणित कर सर्वत्र आगे बढ़ने का साहस प्रदान किया है। उन्होंने न केवल अपना ही, अपितु सारे सभ का सर्वांगीण विकास किया है। हनोत्साह को उत्साहित करने और निरास को आशान्वित करने का उन्हे अद्वितीय कौशल प्राप्त है।

अध्यापन-कौशल

कार्य-भार और कार्य-श्रेण

अध्ययन-कार्य में अध्यापन-कार्य कहीं अधिक कठिन होता है। अध्ययन करने में स्वयं के लिए स्वयं को लगाना पड़ता है, जब कि अध्यापन में पर के लिए धरने को लगाना होता है। अध्यापक को अपनी गति पर भी नियन्त्रण रखना आवश्यक होता है। उसमें रबर बैंड में सक्षेप-विस्तार की योग्यता होनी आवश्यक है। उसे धरने ज्ञान और अपनी व्याख्या-शक्ति को हर धारा विद्यार्थियों की योग्यता के अनुसार घटा-बढ़ाकर प्रस्तुत करना पड़ता है। ऐसी ओर भी अगणित कठिनाइयाँ इस मार्ग में रूढ़ करती हैं। फिर भी किसी-किसी को उदात्त भावनाएँ इस कठिन कार्य को भी सहज बनाने तथा सहज मानकर चलने के लिए आगे आती हैं। आचार्यधी उन्हीं उदात्त भावनाओं वाले व्यक्ति हैं। उनमें क्रिया-शाल्य अध्यापन-मुद्रालता से कहीं अधिक वह अस्कार-अन्य प्रतीत होती है।

बहुत से लोग तो अध्यापक बनते हैं, पर वे अध्यापक हैं। बनने की बात तो सब आती है; जब कि होने की बात गौण रह जाती है।

वे तैरापंथ के एकमात्र शास्ता हैं; अतः न केवल अध्यापन का ही; अपितु राध की व्यवस्था, संरक्षा और विकास का सारा उत्तरदायित्व भी उन्हीं पर है। अपने अनुयायियों के धार्मिक संस्कारों का पल्लवन और परिष्करण उनका अपना कार्य है। इन सब कार्यों के साथ-साथ वे जन-साधारण में आध्यात्मिक जागृति और नैतिक उच्चता की स्थापना करना चाहते हैं। अणुब्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन उनके इन्हीं विचारों का मूर्तरूप है। जनता के नैतिक अघोषमन को रोकने का दुर्वह भार जब से उन्होंने अपने ऊपर लिया है, तब से उनकी व्यस्तता और बढ़ गई है। परन्तु साथ ही कार्य-सम्पादन का वेग भी बढ़ गया है, अतः वह व्यस्तता उन्हें अस्त-व्यस्त नहीं कर पाती। उनके कार्य-भार को उनका कार्य-वेग सम्भाले रहता है।

आत्मियता का आकर्षण

वे अपने अनेक कार्यों का सम्यक् सम्पादन करते हुए भी कुछ समय अध्यापन कार्य के लिए निकाल ही लेते हैं। इस कार्य को वे परोपकार ही दृष्टि से नहीं; किन्तु कर्तव्य की दृष्टि से करते रहे हैं। जब वे स्वयं छात्र थे और निरन्तर अध्ययन-रत रहा करते थे; तब भी अनेक शैक्ष साधु उनकी देख-रेख में अध्ययन किया करते थे। छात्रों पर अनुशासन करना उन्हें उस समय भी खूब आता था। पर उनका वह अनुशासन कठोर नहीं; मृदु होता था। वे अपने छात्रों को कभी विरोध उलाहना नहीं दिया करते थे। डाँट-उपट करने पर तो उन्हें विश्वास ही नहीं था। फिर भी शैक्ष साधुओं को वे इतना नियन्त्रण में रख लेते थे कि कोई भी कार्य उनको बिना पूछे नहीं हो पाता था। यह सब इसलिए था कि उनमें आत्मियता की एक ऐसी आकर्षण शक्ति थी कि उससे बाहर जाने का किसी छात्र को साहस ही नहीं होता था। उन दिनों वे अपने विद्यार्थी साधुओं के खान-पान, सोने-झँठने से लेकर

छोटे-से-छोटे कार्य को भी मुख्यवस्तुत्व रखने की चिन्ता रखते थे। विद्यार्थी साधु भी उन्हें केवल अपना अध्यापक ही नहीं, किन्तु सरथक तथा माता-पिता; सब कुछ मानते थे। शिक्षा साधुओं को बड़ी इधर-उधर भटकने न देना, परस्पर बातों में समय-व्यय न करने देना, एक-के-बाद-एक काम में उनका मन लगाये रखना, अपनी मयल वृत्तियों के प्रत्यक्ष उदाहरण से उनकी वृत्तियों को सयतता की ओर प्रेरित करते रहना, इन सबको वे अध्यापन-कार्य का ही अंग मानते रहे हैं।

अपना ही काम है

अपने अध्यापन-कार्य में जैसी उनकी उत्परता थी, वैसी ही शिक्षा साधुओं के अध्यापन-कार्य में भी थी। उस कार्य को भी वे सदा अपना ही कार्य समझकर किया करते थे। दूसरों को अपनाने की ओर दूसरों को अपना स्वत्व सौंपने की उनमें भारी दायता थी। इसीलिए दूसरे भी उनको अपना मानने और निश्चिन्त भाव से अपना स्वत्व सौंप दिया करते थे। साधु-समुदाय में विद्या का अधिक-से-अधिक प्रसार हो, यह आचार्य श्री बालूयणी का दृष्टिकोण था। उसी को अपना ध्येय बनाकर वे चलने लगे थे। मुनिश्री अम्बालालजी (उनके ससार-पत्नीय बड़े भाई) का बार-बार उनको टोकते हुए कहते—“तू दूसरों-ही-दूसरों पर इतना समय लगाता है, अपनी भी कोई चिन्ता है तुझे ?”

इसके उत्तर में वे कहते—“दूसरे क्यों ? यह भी तो अपना ही काम है।” उम समय के हम उदारता-पूर्ण उत्तर के प्रकाश में जब हम वर्तमान को देखते हैं तो लगता है कि सबभूष में वे उम समय अपना ही काम कर रहे थे। उम समय जिन प्रगति की नींव उन्होंने डाली थी, बड़ी तो आज प्रतिफलित होकर सामने आ रही है। समस्त मध्य-वर्ग सामूहिक प्रगति आज उनकी व्यक्तिगत प्रगति बन गई है।

तुलसी डरें तो ऊपरें

जिन विद्यार्थियों को उनके माधिर्य में रहकर विद्यार्जन का मौभाग

प्रातः हुआ था उनमें मे एक भि भी है । हम छात्रों में उनके प्रति जितना स्नेह था उतना ही भय भी था । मे हमारे लिए जिनने कोमल रह करती थे उनसे ही कठोर भी । उनके भाषित्य के प्रति हमारी बाल-बालनाथा का घण्टा नहीं था । एक बार मे और मेरे सहपाठी मुनिभी मध्याह्निकी भाषाचर्यी वासुदेवी की सेवा में बैठे थे । उन्होंने हमें एक दोहा कटका कराया

हर हर गुरु हर गाम हर, हर करणी में सार ।

‘तुलसी’ हर गो ऊपर, गार्हस्थ्य भावे मार ॥

इसके तीसरे पद का अर्थ हमने अपनी बाल-मुनम बालना के अनुसार उस समय यही समझा था कि भगवान् गुरु, जना और अपनी त्रिपा के प्रति भय रचना आवश्यक है, उतना ही ‘तुलसी’ से डरना भी आवश्यक है । उस समय हमारी बालना मे यह ‘तुलसी’ नाम किसी कवि का नहीं, किन्तु अपने अध्यापक का ही नाम था, जिनमे कि हम डरा करते थे । हम समझे थे कि भाषाचर्यदेव हमें बना रहे हैं; तुलसी से डरने रहना ही तुम्हारे लिए ठीक है ।

उस समय तो यह तर्क नहीं उठ सका कि उनके भय क्षान्त क्यों ठीक है ? पर आज उस स्थिति का स्मरण करने हुए जब उस बाल-मुनम अर्थ पर ध्यान देने लगता हूँ, तब मन कहता है कि यह अर्थ ठीक था । जिन विद्यार्थियों मे अपने अध्यापक के प्रति भय न होकर कोरा स्नेह ही होता है, वह अनुशासनहीन बन जाता है । इसी तरह जिसमें स्नेह न होकर कोरा भय ही होता है, वह थका-हीन बन जाता है । सफलता उन दोनों के सम्मिलन मे है । हम लोगों मे उनके प्रति स्नेह से उद्भूत भय था । हमारे लिए उनकी कमान जैसी तनी हुई वक्रीभूत भीहो का भय जितना सुरक्षा का हेतु था; यह उन दिनों नहीं समझते थे; उतना आज समझ रहे हैं ।

उत्साह-दान

विद्यार्थियों का अध्ययन मे उत्साह बनाये रखना भी अध्यापक की एक कुशलता होनी है । एक शिक्ष के लिए उचित अवसर पर दिया गया

उत्साह-दान जीवन-दान के समान ही मूल्यवान् होता है। अपनी अध्यापक-प्रवस्था में आचार्यश्री ने अनेको मे उत्साह जागृत किया था तथा अनेको के उत्साह को बढ़ाया था। मैं इसके लिए अपनी ही बाल्यावस्था का एक उदाहरण देना चाहूंगा। जब हमने अभिधान चिन्तामणि कोश (नाममाला) कण्ठस्थ करना प्रारम्भ किया, तब कुछ दिन तक दो श्लोक कण्ठस्थ करना भी भारी लगता था। मूल बात यह थी कि संस्कृत के कठिन उच्चारण और गौरस पदों ने हमको उबा दिया था। उन्होंने हमारी अल्पमनस्कता को तत्काल भाँप लिया और आगे से प्रतिदिन प्रायः घटा तक हमें अपने साथ उसके श्लोक रटाने लगे, साथ ही अर्थ बताने लगे। उसका प्रभाव यह हुआ कि हमारे लिए कठिन पढ़ने वाले उच्चारण सहज हो गये, गौरसता में भी कमो लगने लगी। थोड़े दिनों बाद हम उसी नाममाला के छत्तीस-छत्तीस श्लोक कण्ठस्थ करने लग गये। मैं मानता हूँ कि यह उनकी कुशलता से ही सम्भव हो सका था, अन्यथा हम उस अध्यायन को कभी का छोड़ चुके होते।

जो अध्यापक अपने विद्यार्थियों की दुविधा को समझता है और उसे दूर करने का मार्ग खोजता है, वह अवश्य ही अपने शिष्यों की श्रद्धा का पात्र बनता है। उनकी श्रद्धा के जहाँ और अनेक कारण थे, वहाँ यह सबसे बड़ा कारण था। आज भी उनकी प्रकृति में यह बात देखी जा सकती है। विद्यार्थियों की अध्यायन-गत अनुविधाओं को मिटाने में आज भी वे उतना ही रस लेते हैं। इतना अन्तर अवश्य है कि उस समय उनका धार्य-श्रेष्ठ कुछ ही छात्रों तक सीमित था, पर आज वह समूचे सप में व्याप्त हो गया है।

अनुशासन-क्षमता

अनुशासन करना एक बात है और उसे कर जानना दूसरी। छात्रों पर अनुशासन करना तो कठिन है ही; पर कर जानना उसमें भी कठिन। वह एक कला है, हर कोई उसे नहीं जान सकता। विद्यार्थी

घरपसी में बँधकर होता है, स्वयंसेवक में मुक्तता, गो प्रकृति में स्वच्छन्द।
 धर्म-विचार-संशुद्धि-संग्रहण-में शक्ति-समुत्पत्ति भी उसे गिनाना ही होता
 है। जो-किसी-सिद्धान्त-में प्रवृत्त है, उसमें बड़प्पा स्वतन्त्रता भी होती
 है। स्वतन्त्रता को घमास मानने वाले घमासवादी धर्मों में अनुगामन के
 प्रति शक्य नहीं, शक्य ही उत्पन्न करने हैं। अनुगामन का भाव छान
 में उत्पन्न न हो जाए; तब तक अनुगामक को अधिक उधार, सावधान
 और महानुभूति-युक्त रहना आवश्यक होता है। भाचार्यश्री की घमास-
 कुशलता इग्निए प्रसिद्ध नहीं है कि उनके पास घनेक छात्र पढ़ा करते
 थे; किन्तु इग्निए है कि वे अनुगामन करना जानते थे। विद्यार्थियों को
 कब कहना और कब गहना; उसकी सीमा उनकी ज्ञान थी।

एक शिकायत; एक कथा

मैं (मुनि बुद्ध मन्त्र) और मुनिश्री नयमयत्री छोटी घबस्पा के ही थे।
 आपके कठोर अनुशासन की शिकायत लेकर एक बार हम दोनों पूर्य
 कालूगणी के पास गये। रात्रि का समय था। भाचार्यदेव सोने की तैयारी
 में थे। हम दोनों ने पास में जाकर बन्दन किया तो भाचार्यदेव ने पूछा—
 बोलो; किसलिए आये हो ?

हमने सकुचाते-सकुचाते साहस बांधकर कहा—तुलसीरामजी स्वामी
 हम पर बहुत कड़ाई करते हैं। हमें परस्पर बात भी नहीं करने देने।

भाचार्यश्री कालूगणी ने पूछा—यह सब तुम्हारी पढ़ाई के लिए ही
 करता है या और किसी कारण से ?

हमने कहा—करते तो पढ़ाई के लिए ही हैं।

भाचार्यदेव बोले—तब फिर क्या शिकायत रह जाती है ? इसमें तो
 वह चाहेगा वैसा ही करेगा। तुम्हारी कोई बात नहीं चलेगी।

हम दोनों ही अवाक् थे। भाचार्यदेव ने एक कहानी सुनाई कि
 राजा का पुत्र गुरुकुल में पढ़ा करता था। पढ़ाई समाप्त होने पर
 भाचार्य उसे राज-सभा में ले जा रहे थे। बाजार में एक दूकान से उन्होंने

सेहूँ लरीदे और पोटाही पु...
 वह अस्वीकार तो नहीं कर सका, पर भिन्न-भिन्न बहाने मित्र हुआ।
 माम में थोड़ी दूर जाकर पोटाही उनुरवा दी गई। धर्म-सूत्र में
 पहुँचे। राजा ने कुमार के ज्ञान की परीक्षा ली। वह सब विषया में
 उत्तीर्ण हुआ। राजा ने प्रसन्न होकर अध्यापक में पूछा—राजकुमार का
 व्यवहार कैसा रहा ?

अध्यापक—बहुत अच्छा, बहुत विनय-युक्त।

राजकुमार में पूछा—आचार्यजी ने तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया ?

राजकुमार—इनने कब तो बहुत अच्छा व्यवहार किया, पर आज
 का व्यवहार उगमे भिन्न था।

राजा—कैसे ?

राजकुमार ने पोटाही की बात सुनाई। राजा भी उगे मुनकर बहुत
 गिन्न हुआ। आचार्य में कारण पूछा तो उत्तर मिला कि वह भी एक
 पाठ ही था। उगरी आभयप्रता अन्य छात्रों को उतनी नहीं थी, जिनकी
 कि राजकुमार को। मैं भावी राजा को यह बनना देना चाहता था कि
 अगर उठाने में विनया बहू होता है। हम बात की ज्ञान जेने पर यह
 आयन गरीबी में रहने वाले और परिश्रम में पेट भरने वाले आभावप्रता
 के धर्म का मुख्य धर्म मानेगा और किसी पर अन्याय नहीं कर सकेगा।

आचार्यदेव ने कहा—अध्यापक तो राजकुमार में भी पोटाही उठका
 मिला है, तो फिर तुम्हारी विनयन कैसे मानी जा सकती है ? उगने तो
 मुझे केवल बात करने में ही रीका है। जाओ पढ़ा करो और बह बने,
 मैंने ही विना करो।

हम आता मेकर मने से और जिराना मेकर बने आते। हमने दिन
 पढ़ने के लिए मने तो यह भव मना रहा था कि ह्यागी बाप का पना
 मग मना तो क्या होता ? हम कई दिनों तक बहुराजे-बहुराजे में रहे,
 पर उठाने पर कभी आराम तक नहीं होने दिना कि विनयन करने
 की बात का उठे पना है।

स्वानुशासन

दूसरों को अनुशासन सिमाने वाले को अपने पर कहीं अधिक अनुशासन करना होता है। छात्रों के अनेक कार्यों को बाल-विलसित मानकर सह लेना होता है। अध्यापक का अपने मन पर का अनुशासन भंग होता है तो उसकी प्रतिक्रिया छात्रों पर भी होती है। इसीलिए अध्यापक को अनुशासन-शमता छात्रों पर पढ़ने वाले रीढ़ से कहीं अधिक; उसके द्वारा अपने-आप पर किये जाने वाले समय और नियन्त्रण से मापी जाती है।

हर पाठ

अध्यापन के कार्य में आचार्यश्री की रचि प्रारम्भ से लेकर अब तक समान रूप में चली आई है। वे इसे बुनियादी कार्य समझते हैं। उनकी दृष्टि में अध्यापन का कार्य भी उतना ही महत्वपूर्ण है; जितना कि सच-सचालन और भ्रान्दोलन-प्रवर्तन। वे अपने चिन्तन के क्षण जिस प्रकार उन कार्यों में लगाते हैं; उसी प्रकार इसमें भी लगाते हैं। छोटे-से-छोटा ग्रन्थ व छोटे-से-छोटा पाठ उनकी अध्यापन-कला से बड़ा बन जाता है। वस्तुतः कोई पाठ छोटा होना ही नहीं, उसका शब्द-कलेवर छोटा होने से चाहे उसे छोटा बहू दिया जाये; परन्तु सारा जीवन-व्यवहार उसी छोटे-छोटे पाठों की भित्ति पर सड़ा हुआ है।

विकास का बीज-मंत्र

वे जब पढ़ाने हैं तो अध्यापन-रस में सराबोर होकर पढ़ाने हैं। नूतन पाठ को तो वे पूर्णतः स्पष्ट करते ही हैं, साथ ही अनेक विभाजन करने भी इन प्रकार में जोड़ देते हैं कि पाठ की क्लिष्टता मधुमयता में बदल जाती है। नव विधाधियों को शब्द-रूप और धानु-रूप पढ़ाने मकर वे जितनी प्रगल्भ-मुद्रा में देगे जाते हैं, उतने ही किसी काव्य या दार्शनिक ग्रन्थ के पाठन में भी दे-दे जा सकते हैं। सामान्यतः उनकी वह प्रणयना ग्रन्थ की साधारणता या असाधारणता को लेकर नहीं होती; धातु इन लिए होती है कि वे किसी के विकास में सहयोग दे रहे हैं। वे अपने निःसं

आवश्यक कार्यों में उसको भी गिनते हैं और पूरी लगन के साथ करते रहते हैं। सच के उदय-हेतु वे शिक्षा को बीज मानकर चलते हैं।

महात्मा गांधी एक बार किसी प्रौढ महिला को वर्णमाला का अभ्यास करा रहे थे। आश्रम में देश के अनेक उच्चकोटि के नेता आये हुए थे। उन्हें गांधीजी से देश की विभिन्न समस्याओं पर विमर्श करना था तथा मार्ग-दर्शन लेना था। बड़ी व्याकुलता लिए वे सब बाहर बैठे हुए अपने निर्धारित समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। अनेक विदेशी भी महात्माजी से मिलने के लिए उत्कण्ठित हो रहे थे। पर महात्माजी सदा की भाँति तल्लीनता के साथ उस महिला को 'क' और 'ख' का भेद समझा रहे थे।

एक परिचित विदेशी ने झुंझलाकर गांधीजी से कहा—बहुत लोग प्रतीक्षा में बैठे हैं। आपके भी महत्त्वपूर्ण कार्यों का चारों ओर ढेर लगा है। ऐसे समय में मह आप क्या कर रहे हैं ?

गांधीजी ने स्मित-भाव से उत्तर देते हुए कहा—मैं सर्वोदय ला रहा हूँ।

प्रश्नकर्ता इस पर और क्या कहते ? चुप होकर बैठ गए। ठीक यही स्थिति आचार्यधी की भी कही जा सकती है। विद्या को वे विकास का बीज-मंत्र मानते हैं।

कहाँ मैं ही गलत न होऊँ

दिल्ली की तृतीय यात्रा वहाँ ठहरने के दृष्टिकोण से तो पिछली दोनों यात्राओं से छोटी थी; पर व्यस्तता के दृष्टिकोण से उन दोनों से बहुत बड़ी थी। देशी और विदेशी व्यक्तियों के आगमन का प्रवाह प्रायः निरन्तर चलू रहता था। प्रतिदिन अनेक स्थानों पर भाषण के आयोजन रहते। आचार्यधी पैदल चलकर वहाँ जाते और भाषण के पश्चात् वापिस आते। यका देने वाला नैऋतिक परिधम चल रहा था। उन दिनों दिन का प्रायः समस्त समय अन्यान्य कार्यों में विभक्त हो गया था। पर आचार्यधी तो अध्यापन-व्यसनी ठहरे ! दिन में समय न मिला तो

स्थानुशासन

दूरगो को अनुशासन मिलाने वाले को घाने पर वहीं अधिक अनुशासन करना होता है । छात्रों के अनेक कार्यों को वान-विनयित मानकर सह मेना होता है । अध्यापक का घाने मन पर वा अनुशासन मंग होता है तो उमकी प्रतिक्रिया छात्रो पर भी होनी है । इमीनिय अध्यापक की अनुशासन-शमता छात्रो पर गडने वाने रीब में वहीं अधिक; उमके ट्राय अघने-घाण पर किये जाने वाले समय और नियन्त्रण से मानी जाती है ।

हर पाठ

अध्यापन के कार्य में आचार्यश्री की रचि प्रारम्भ से लेकर अत्र तक समान रूप में चली आई है । वे इमें बुनियादी कार्य समझते हैं । उनकी दृष्टि में अध्यापन का कार्य भी उतना ही महत्वपूर्ण है; जिनना कि सध-संचालन और आन्दोलन-प्रवर्तन । वे अघने चिन्तन के ढाए जिन प्रकार उन कार्यों में लगाते है, उसी प्रकार इसमें भी लगाते हैं । छोटे-से-छोटा अन्ध व छोटे-से-छोटा पाठ उनकी अध्यापन-कला से बड़ा बन जाता है । वस्तुन. कोई पाठ छोटा होता ही नहीं; उसका शब्द-कलेवर छोटा होने से चाहे उसे छोटा कह दिया जाये; परन्तु सारा जीवन-व्यवहार उन्हीं छोटे-छोटे पाठो की भित्ति पर खडा हुआ है ।

विकास का बीज-मंत्र

वे जब पढ़ाते हैं तो अध्यापन-रस में सराबोर होकर पढ़ाते हैं । मूव पाठ को तो वे पूणतः स्पष्ट करते ही हैं; साथ ही अनेक शिक्षात्मक बातें भी इस प्रकार से जोड देते हैं कि पाठ की क्लिष्टता मधुमयता में बदल जाती है । नव शिक्षाधियों को शब्द-रूप और धातु-रूप पढ़ाते समय वे जितनी प्रसन्न-मुद्रा में देखे जाते है; उतने ही किसी काव्य या दार्शनिक ग्रन्थ के पाठन में भी देखे जा सकते हैं । सामान्यतः उनकी वह प्रमत्ता ग्रन्थ की साधारणता या असाधारणता को लेकर नहीं होती; अपितु इस लिए होती है कि वे किसी के विकास में सहयोग दे रहे हैं । वे अघने निःशं

आवश्यक कार्यों में उसको भी गिनते हैं और पूरी लगन के साथ करते रहते हैं। सध के उदय-हेतु वे शिक्षा को बीज मानकर चलते हैं।

महात्मा गांधी एक बार किसी प्रौढ महिला को वर्णमाला का अभ्यास करा रहे थे। आश्रम में देश के अनेक उच्चकोटि के नेता आये हुए थे। उन्हें गांधीजी से देश की विभिन्न समस्याओं पर विमर्श करना था तथा मार्ग-दर्शन लेना था। बड़ी व्याकुलता लिए वे सब बाहर बैठे हुए अपने निर्धारित समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। अनेक विदेशी भी महात्माजी से मिलने के लिए उत्कण्ठित हो रहे थे। पर महात्माजी सदा की भाँति तल्लीनता के साथ उस महिला की 'क' और 'ख' का भेद समझा रहे थे।

एक परिचित विदेशी ने भुँभुलाकर गांधीजी से कहा—बहुत लोग प्रतीक्षा में बैठे हैं। आपके भी महत्वपूर्ण कार्यों का चारों ओर डेर लगा है। ऐसे समय में यह आप क्या कर रहे हैं ?

गांधीजी ने स्मित-भाव से उत्तर देते हुए कहा—मे सर्वोदय ला रहा हूँ।

प्रश्नकर्ता इस पर और क्या कहते ? चुप होकर बैठ गए। ठीक यही स्थिति आचार्यश्री की भी कही जा सकती है। विद्या को वे विकास का बीज-मंत्र मानते हैं।

कहाँ में ही गलत न होऊँ

दिल्ली की तृतीय यात्रा वहाँ ठहरने के दृष्टिकोण से तो पिछली दोनों यात्राओं से छोटी थी; पर व्यस्तता के दृष्टिकोण से उन दोनों से बहुत बड़ी थी। देशी और विदेशी व्यक्तियों के आगमन का प्रवाह प्रायः निरन्तर चालू रहता था। प्रतिदिन अनेक स्थानों पर भाषण के आयोजन रहते। आचार्यश्री पैदल चलकर वहाँ जाते और भाषण के पश्चात् वापिस आते। थका देने वाला नैरन्तरिक परिश्रम चल रहा था। उन दिनों दिन का प्रायः समस्त समय अन्यान्य कार्यों में विभक्त हो गया था। पर आचार्यश्री तो अघ्यापन-अ्यसनी टहरे ! दिन में समय न मिला तो

स्वानुशासन

दूसरों को अनुशासन सिखाने वाले को अपने पर कहीं अधिक अनुशासन करना होता है। छात्रों के अनेक कार्यों को बाल-विलगित मानकर सह लेना होता है। अध्यापक का अपने मन पर का अनुशासन भंग होता है तो उसकी प्रतिशिक्षा छात्रों पर भी होती है। इसीलिए अध्यापक की अनुशासन-क्षमता छात्रों पर पड़ने वाले रीढ़ से कहीं अधिक; उसके द्वारा अपने-आप पर किये जाने वाले समय और नियन्त्रण से मापी जाती है।

हर पाठ

अध्यापन के कार्य में प्राचार्यश्री की रचि प्रारम्भ से लेकर अब तक समान रूप से चली आई है। वे इसे बुनियादी कार्य समझते हैं। उनकी दृष्टि में अध्यापन का कार्य भी उतना ही महत्वपूर्ण है; जितना कि सभ-संचालन और आन्दोलन-प्रवर्तन। वे अपने चिन्तन के क्षण जिस प्रकार उन कार्यों में लगाते हैं; उसी प्रकार इसमें भी लगाते हैं। छोटे-से-छोटे पन्थ व छोटे-से-छोटा पाठ उनकी अध्यापन-कला से बड़ा बन जाता है। वस्तुतः कोई पाठ छोटा होता ही नहीं, उसका शब्द-कलेवर छोटा होने से चाहे उसे छोटा कह दिया जाये, परन्तु सारा जीवन-व्यवहार उन्हीं छोटे-छोटे पाठों की भित्ति पर मड़ा हुआ है।

विकास का बीज-मंत्र

वे जब पढ़ाते हैं तो अध्यापन-रस में सराबोर होकर पढ़ाते हैं। मूल पाठ को तो वे पूर्णतः स्पष्ट करते ही हैं, साथ ही अनेक शिक्षात्मक बातें भी इस प्रकार से जोड़ देते हैं कि पाठ की चिन्मष्टता मनुष्यता में बढ़प जाती है। नव शिक्षाविदों को शब्द-रस और धानु-रस पढ़ाने समय वे त्रिपती प्रगल्भ-मुग्ध में देने जाते हैं, उगने ही किमी काष्ण या दासनिव दन्ध के पाठन में भी देते जा सकते हैं। सामान्यतः उनकी वह प्रणयना दन्ध की साधारणता या असाधारणता को लेकर नहीं होती, चरित्तु इन चिन्म होती है कि वे किमी के विकास में सहयोग दे रहे हैं। वे अपने निरोग

आवश्यक कार्यों में उसको भी गिनते हैं और पूरी लगन के साथ करते रहते हैं। सभ के उदय-हेतु वे शिक्षा को बीज मानकर चलते हैं।

महात्मा गांधी एक बार किसी प्रौढ़ महिला को वर्णमाला का अभ्यास करा रहे थे। आश्रम में देश के अनेक उच्चकोटि के नेता आये हुए थे। उन्हें गांधीजी से देश की विभिन्न समस्याओं पर विमर्श करना था तथा मार्ग-दर्शन लेना था। बड़ी व्याकुलता लिए वे सब बाहर बैठे हुए अपने निर्धारित समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। अनेक विदेशी भी महात्माजी से मिलने के लिए उत्कण्ठित हो रहे थे। पर महात्माजी सदा की भाँति तल्लीनता के साथ उस महिला को 'क' और 'ख' का भेद समझा रहे थे।

एक परिचित विदेशी ने झुंझलाकर गांधीजी से कहा—बहुत लोग प्रतीक्षा में बैठे हैं। आपके भी महत्त्वपूर्ण कार्यों का चारों ओर ढेर लगा है। ऐसे समय में यह आप क्या कर रहे हैं ?

गांधीजी ने स्मित-भाव से उत्तर देते हुए कहा—मैं सर्वोदय ला रहा हूँ।

प्रश्नकर्ता इस पर और क्या कहते ? चुप होकर बैठ गए। ठीक यही स्थिति आचार्यश्री की भी कही जा सकती है। विद्या को वे विकास का बीज-मंत्र मानते हैं।

कहाँ मैं ही गलत न होऊँ

दिल्ली की मृतीय यात्रा वहाँ ठहरने के दृष्टिकोण से तो पिछली दोनों यात्राओं से छोटी थी; पर व्यस्तता के दृष्टिकोण से उन दोनों से बहुत बड़ी थी। देशी और विदेशी व्यक्तियों के आगमन का प्रवाह प्रायः निरन्तर चालू रहता था। प्रतिदिन अनेक स्थानों पर भाषण के आयोजन रहते। आचार्यश्री पैदल चलकर वहाँ जाते और भाषण के पश्चात् वापिस आते। थका देने वाला नैरन्तरिक परिश्रम चल रहा था। उन दिनों दिन का प्रायः समस्त समय अन्यान्य कार्यों में विभक्त हो गया था। पर आचार्यश्री तो अघ्यापन-व्यसनी टहरे ! दिन में समय न मिला तो

पश्चिम-रात्रि में ही सही। 'शान्तमुधारस' का अर्थ छात्रों को बताया जाने लगा। अर्थ के साथ-साथ शब्दों की व्युत्पत्ति, समास और कारक आदि का विश्लेषण भी चलता रहता।

एक बार आचार्यश्री ने 'शान्तमुधारस' में प्रयुक्त किसी समास के विषय में छात्रों से पूछा। उन्हें नहीं आया; तब उनसे अधिम थोड़ी बालों को बुलाया और उसी समास के विषय में पूछा। उन्हें भी नहीं आया; तब आचार्यश्री ने हम लोगों (मुनि नथमलजी, मुनि नगराजजी और मुनि बुद्धमल्ल) को बुलाया। हमने कुछ निवेदित किया और उसे सिद्ध करने वाला सूत्र भी कहा। आचार्यश्री के ध्यान से वह सूत्र वहाँ के लिए उपयोगी नहीं था। पर वे बोले—'तो कहीं मैं ही गलत न हूँ?' अपनी धारणा वाला सूत्र बतलाते हुए उन्होंने कहा—'बया यह इस सूत्र से सिद्ध होने वाला समास नहीं है?' हम सबको अपनी त्रुटि ध्यान में आ गई और हम बोल पड़े—'सचमुच मैं यही सूत्र समास करने वाला हूँ।'

यद्यपि आचार्यश्री का ज्ञान बहुत परिपक्व और अस्सलित है; परन्तु वे उसका कभी अभिमान नहीं करते। वे हर क्षण अपने शोधन के लिए उद्यत रहते हैं। कठिनता यह है कि जहाँ शोधन की तत्परता होती है; वहाँ बहुधा उसकी आवश्यकता नहीं होती और जहाँ शोधन की तत्परता नहीं होनी, बहुधा वही उसका सबसे अधिक आवश्यकता होनी है।

उदार व्यवहार

शिष्यों की विक्रान्तोन्मुखता में आचार्यश्री असीम उदारता बरतते हैं। विकास के जो क्षिणिक सच के साधु-साध्वियों के लिए खुल नहीं पाये थे; उनकी सोलने और मर्ब-मुल्म बनाने की प्रक्रिया से उन्होंने विकास में एक नया अध्याय जोड़ा है। शिष्यों के विकास को वे अपना विकास मानते हैं और उनकी रक्षा को अपनी रक्षा। अपनी प्रवृत्तियों में तो उन्होंने इस बात को बहुधा पुष्ट किया ही है, पर अपनी काव्य-कल्पनाओं में भी इस भावना का अचन किया है। 'कालू-यज्ञोविद्याम' में वे एक जगह कहते हैं :

वदं शिष्य नी साहिबी, तिम हिम-रितु नी रात ।

तिम तिम ही गुरु नी हुबै, विश्वव्यापिनी क्यार ॥

आचार्यश्री का यह उदार व्यवहार उनके शिष्यवर्ग को जहाँ आगे बढ़ाने का प्रोत्साहन देता है, वहाँ उनके व्यक्तित्व की उदारता का परिचय भी देता है। 'पुत्रादिच्छेत् पराजयम्' अर्थात् पुत्र को अपने से बढ़कर योग्य देखने की इच्छा रखना प्रत्येक पिता का कर्तव्य है। आचार्यश्री इस भारतीय भावना के मूर्तरूप बने जा सकते हैं।

साध्वी-समाज में शिक्षा

साधुओं का प्रशिक्षण आचार्यश्री कालूगणी ने बहुत पहले से ही प्रारम्भ कर दिया था; अतः अनेक साधु उनके जीवन-काल में ही निपुण बन चुके थे; लेकिन साध्वी-समुदाय में ऐसी स्थिति नहीं थी। कोई एक भी साध्वी इतनी निपुण नहीं थी कि उस पर साध्वियों की शिक्षा का भार छोड़ा जा सके। आचार्यश्री कालूगणी स्वयं अधिक समय नहीं दे पाते थे; फिर भी उन्होंने विद्या का बीज-बपन तो कर ही दिया था। कार्य को अधिक तीव्रता से आगे बढ़ाने की आवश्यकता थी। आचार्यश्री कालूगणी ने जब आपको भावी आचार्य के रूप में चुना, तब सध-विकास के जिन कार्यक्रमों का आदेश-निर्देश किया था; उनमें साध्वी-शिक्षा भी एक था। उसी आदेश को ध्यान में रखते हुए आपने आचार्य-पद पर आसीन होते ही इस विषय पर विशेष ध्यान दिया।

एक नवीन आचार्य के लिए अपने पद के उत्तरदायित्व की उलझनें भी बहुत होती हैं, परन्तु आप उन सबको मुलभंगे के साथ ही अध्यापन-कार्य भी चलाते रहे। प्रारम्भ में कुछ साध्वियों को सस्कृत-ध्याकरण कालूकौमुदी पढ़ाकर इस कार्य का प्रारम्भ किया गया और अमल. अनेक विषयों के द्वार उनके लिए उन्मुक्त होते गए। वि०स० १९९३ से यह कार्य प्रारम्भ किया गया था। इसमें अनेक कठिनाइयाँ थीं। अध्ययन निरन्तरता चाहता है; पर यह अन्य कार्यों के बाहुल्य से अन्तरित होना रहा। जब-

जब आचार्यश्री धर्म कार्यों में अधिक लाग्न होंगे, तब-तब सम्पन्न हो सम्पन्न करना पड़ता है। फिर भी निरन्तरता की घोर विमोच माताजी करती गई घोर कायं पाना रहा। उगी का यह कथ है कि माधुषों के समान ही साध्वियों भी धार्मिक-सामर्थ्य तक का सम्पन्न करने में गयी हुई है।

सम्पन्न की एक समस्या

साध्वी-समाज में सम्पन्न की कवि उन्नत कर आचार्यश्री ने यह उनके मानव को जागरूक बना दिया है, वही सम्पन्न-विरक्त एक समस्या भी लड़ी कर ली है। आचार्यश्री के माध-माध विहार करने वाली साध्वियों को तो सम्पन्न का गुणोपम मिन जाता है, परन्तु वे तो सत्त्वा में बहुत धोड़ी ही होगी है। अधिकांश साध्वियों पृथक् विहार करती हैं। उनकी सम्पन्न-विद्या को शान्त करने की समस्या धार्मिक विचारणीय ही है।

साध्वियों को विदुषी बनाने का बहुत बड़ा कार्य अभी अवशिष्ट है। इस विषय में आचार्यश्री बहुत विन्तन करते रहते हैं। तैराय-दिग्गजों के अवसर पर उन्होंने यह घोषणा भी की है कि हर प्रशिक्षणों को उचित अवसर प्रदान किया जायेगा; परन्तु उक्त घोषणा को कार्यरूप में परिणित करने का कार्य अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही कहा जा सकता है। साधुओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था तो सहजतया ही की जा सकती है; पर साध्वियों के लिए बैसा कर पाना मुगम नहीं है। किसी विदुषी साध्वी की देख-रेख में प्रतिवर्ष कोई विद्या-केन्द्र स्थापित करने का विचार एक परीक्षाणात्मक रूप में सामने आया है; परन्तु अभी इस समस्या का कोई स्थायी हल निकालना अवशिष्ट है। जो सीखना चाहता है; उसकी व्यवस्था करना आचार्यश्री अपना कर्तव्य मानते हैं। इसीलिए वे इसका कोई-न-कोई समुचित समाधान निकालने के लिए समुत्सुक हैं। उनकी उत्सुकता का अर्थ है कि निकट भविष्य में यह समस्या सुलभने वाली ही है।

पाठ्यक्रम का निर्धारण

अनेक वर्षों के अध्यापन-कार्य ने अध्यायन-विषयक व्यवस्थित श्रमिकता की आवश्यकता अनुभव कराई। व्यवस्थित श्रमिकता के अभाव में साधारण बुद्धि वाले विद्यार्थियों का प्रयास निष्फल ही चला जाता है। इस बात के अनेक उदाहरण उस समय उपस्थित थे। सम्पूर्ण चन्द्रिका अथवा कालुकौमुदी कण्ठस्थ कर लेने तथा उनकी साधनिका कर लेने पर भी कई व्यक्तियों का कोई विकास नहीं हो पाया था। इसकी जड़ में एक कारण यह था कि उस समय प्रायः संस्कृत इसलिए पढ़ी जाती थी कि उससे आगमों की टीकाओं का अध्ययन सुलभ हो जाता है। स्वयं टीका बनाने का सामर्थ्य तथा बोलने या लिखने की योग्यता अर्जित करने का लक्ष्य सामने नहीं था। इसीलिए व्याकरण कण्ठस्थ करने और उसकी साधनिका करने पर ही बल दिया जाता था। उसके व्यावहारिक प्रयोग की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। उस समय तक संस्कृत समझ लेना ही अध्यायन की पर्याप्तता मानी जाती थी। धीरे-धीरे उस भावना में परिवर्तन आया और कुछ छुट-पुट रचनाएँ होने लगीं; पर यह सब अध्यायन के बाद की प्रक्रियाएँ थीं। अध्यायन श्रम क्या हो; यह निर्धारण बहुत बाद में हुआ।

आचार्यश्री ने साष्ठी-समाज की प्रशिक्षण देना प्रारम्भ किया; तब उनके विकास की गति को त्वरता प्रदान करने के उपाय सोचे जाने लगे। एक बार आचार्यश्री पत्रिका देख रहे थे। उसमें किसी संस्था-विशेष का पाठ्यक्रम छपा हुआ था। उनकी ग्रहणशील बुद्धि ने तत्काल उस बात को पकड़ा और निश्चय किया कि अपने यहाँ भी एक पाठ्य-प्रणाली होनी चाहिए। उनके निश्चय और कार्य-भारिणति में लम्बी दूरी नहीं होती। आगम कहते हैं कि देवता के मन और भाषा की पर्याप्तियाँ साथ ही गिनी जाती हैं। आचार्यश्री के लिए मन, भाषा और कार्य का ऐक्य माना जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं मानी जायेगी। वे सोचते हैं, बतलते हैं और कर

वागने है। उनके कार्य की गति पूरी चक्रिया रही है। वाङ्मय के लिए हम का विचार उदा. शिक्षा में नहीं की गई, अतः हमें उन्हें जो उमे मायु कर दिया गया। यह वि० सं० २००२ साक्षात् की बात है। हमारे वर्ष वि० सं० २००६ के माघ में लगभग ३० व्यक्तियों ने परिभाषा दी।

हम वाङ्मय में शिक्षा का वाङ्मयी बनाने की आवश्यकता को पूरा किया और विचारों के वाङ्मयी विभाग का मार्ग मिला। विचारों का विभाग ही जीवन का विभाग होता है। तभी उसके लिए मार्ग प्रशस्त होता है, वही जीवन-विभाग की कल्पना ही नहीं की जा सकती। तैरापथ के शिक्षा-क्षेत्र में वाङ्मयपूर्ण परिष्करण करने वाली हम वाङ्मय-प्रणाली का नाम दिया गया 'साध्यात्मिक शिक्षा-क्रम'।

इस शिक्षा-क्रम के निर्धारण में उन विद्वानों की आवश्यकता को ध्यान में रखा गया कि जो महागुरुओं शिक्षा देने की ओर उन्मुख हों। इसके तीन विभाग हैं— योग, योग्यता और योग्यता। मध्य में इन शिक्षा-क्रम का महत्त्वपूर्ण प्रयोग सामूहिक है। अनेक माधु-माधुओं ने इस क्रम में परीक्षा देकर इसकी उपयोगिता को सिद्ध कर दिया है।

एक दूसरी वाङ्मय-प्रणाली 'साध्यात्मिक शिक्षा-क्रम' के नाम से निर्धारित की गई। हमारी आवश्यकता उन व्यक्तियों के लिए थी; जो अनेक विषयों में निष्णात बनने की क्षमता नहीं रखते हो; वे धारम-भार में अपनी पूरी क्षमता लगाकर क्रम-क्रम-क्रम उन एक विषय में पारंगत हो सके। इन शिक्षा-क्रमों में अनेक परिवर्तन भी हुए हैं और शायद आगे भी होते रहे। परिमार्जन के लिए यह आवश्यक भी है; परन्तु यह निश्चिन्त है कि हर परिवर्तन पिछले की ओर अधिक उपयोगी बन सके; यह ध्यान रखा जाता है।

आचार्यश्री वाङ्मयी ने सध में विद्या-विषयक जो कल्पना की थी; उसे मूर्तरूप देने का अवसर आचार्यश्री को मिला। उन्होंने उस कार्य

को इस प्रकार पूरा किया है कि आज तेरापथ युग-भङ्गना को समझ सकता है और भावश्यकता होने पर उसे नया मोड़ देने का सामर्थ्य भी रखता है। एक अध्यापक के रूप में आचार्यजी के जीवन का यह कोई साधारण कौशल नहीं है।



अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक

समय की मांग

अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात जिन परिस्थितियों में हुआ; उन सबके अनुशीलन पर ऐसा लगता है जैसे कि वह समय की एक मांग थी। वह ऐसा समय था; जब कि द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद क्षत-विक्षत मानवता के घावों से रक्तस्राव हो रहा था। उस महायुद्ध का सबसे अधिक भीषण अभिशाप था—अनैतिकता। हर महायुद्ध का दुष्परिणाम प्रायः यही हुआ करता है। भारत महायुद्ध के अभिशापो से मुक्त होता; उससे पूर्व ही स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ होने वाले जातीय सघर्षों ने उसे भा दबाया। भीषण क्रूरता के साथ चारों ओर विनाश-लीला का घट्टहास सुनाई देने लगा। उसमें जनता की आध्यात्मिक और नैतिक भावनाओं का बहुत भयंकरना से पतन हुआ। ज्यों-त्यों करके जब वह वातावरण घान्त हुआ, सब लोग अपनी-अपनी कठिनाइयों का हल खोजने में जुटने लगे। देश के वर्णधारों ने आधिक और सामाजिक उन्नयन की अनेक योजनाएँ बनाईं और देश को मष्टद बनाने का संकल्प किया। कार्य शानू हुआ और अपनी मजिल की ओर बढ़ने लगा।

उम समय देश में अध्यात्म-भाव और नैतिकता के ह्रास की जो एक ज्वलन्त समस्या थी, उम ओर प्रायः न किसी जननेता का और न किसी अन्य व्यक्ति का ही ध्यान गया। आचार्यजी तुलसी ही वे प्रथम व्यक्ति थे; जिन्होंने उम कमी को महसूस किया और उम ओर सब का ध्यान घाट्ट करने का प्रयास किया।

आत्मा की भूल

निःश्रेयस् को भूलकर केवल अण्डुदय में लग जाना कभी खतरे में खाली नहीं होता । उससे मानवीय उन्नति का क्षेत्र सीमित तो होता ही है; साथ ही अस्वाभाविक भी । मनुष्य जब नहीं है; अतः भौतिक उन्नति उसकी स्वयं की उन्नति कैसे हो सकती है? मनुष्य की वास्तविक उन्नति तो आत्मगुणों की अभिवृद्धि से ही सम्भव है । आत्मगुण, अर्थात् आत्मा के सहज-भाव । आगम-भाषा में जिन्हें सत्य, अहिंसा आदि कहा जाता है ।

मनुष्य शरीर और आत्मा का एक सम्मिलन है । न वह केवल शरीर है और न केवल आत्मा । उसके शरीर को भी भूल लगती है और आत्मा को भी । अण्डुदय शारीरिक भूल को परितृप्ति देता है और निःश्रेयस् आत्मिक भूल को । आत्मा परितृप्त हो और शरीर भूया हो तो स्वचित् मनुष्य निभा भी लेता है, परन्तु शरीर परितृप्त हो और आत्मा भूया; तब तो किसी भी प्रकार से नहीं निभ सकता । वहाँ पतन अवश्यम्भावी हो जाता है । देश में उस समय जो योत्रनाएँ बनीं, वे सब मनुष्य को केवल शारीरिक परितृप्ति देने वाली ही थीं । आत्म-परितृप्ति के लिए उनमें कोई स्थान नहीं था ।

उपेक्षित क्षेत्र में

आचार्यश्री ने इस उपेक्षित क्षेत्र में काम किया । अणुव्रत-ग्रान्दोलन के माध्यम से उन्होंने जनता को आत्म-तृप्ति देने का मार्ग चुना । देश के वर्णधारों का भी इस और ध्यान आकृष्ट करने में वे सफल हुए । उनकी योजनाओं, कार्यक्रमों और विचारों का बही प्रत्यक्ष तो नहीं अप्रत्यक्ष प्रायः सर्वत्र प्रभाव हुआ ही है । आध्यात्मिक और नैतिक उत्थान के योग को प्रबल करने में आचार्यश्री के साथ उन सभी व्यक्तियों का स्वर भी मयवेत हुआ है जो इस क्षेत्र में अपना चिन्तन करने हैं ।

देश की प्रथम दो पंचवर्षीय योजनाओं में जहाँ नैतिकता या सदाचार-

सम्बन्धी कोई बिन्ना नहीं की गई, वही मृतीय गोरना उममे बिन्नु रिता नहीं रही जा सकतो । यह देश के वर्गधारी के बढते हुए विचा का ही तो परिचाय है । इन विचारो को बदलने में अन्य अनेक कारो हो सकते हैं, पर उममें बुद्ध-न-बुद्ध भाग अगुत्रन-मान्दीपन तथा उम द्वारा देश में उत्पन्न विचे धानावर्णन का भी रजा जा गाना है ।

अपेक्षाकृत पहले

आचार्यश्री ने जनता की इस भूम को अन्य ध्यक्तियों की अज्ञा पहले अनुभव किया, इमलिए वे किगी की प्रतीक्षा विचे बिना इस कां में जुट गए । अन्य जन अब अनुभव करने लगे हैं तो उन्हें अब इस अज्ञा त्वरता मे आगे आना चाहिए । पण्डित नेहरू के विचार भी इन दिनों में बहुत परिवर्तित हो गए हैं । वे अब मनुष्य की इस अद्वितीय भूम को पहचानने लगे हे । 'ब्लिट्ज' के सम्पादक श्री आर० के० करजिया के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने अपने में यह परिवर्तन स्वीकार भी किया है ।

करजिया ने पूछा था—“आपके बुद्ध वक्तव्यो मे यह चर्चा है कि देश की समस्याओं के लिए नैतिक एव आध्यात्मिक समाधानो की भी सहायता लेनी चाहिए । क्या हम समझे कि जीवन के सान्ध्य में नेहरू बदल गया है ?”

उत्तर देते हुए श्री नेहरू ने कहा—“इस बात को यदि आप प्रश्न के रूप मे रखना चाहते हैं तो मैं 'हाँ' मे ही उत्तर दूंगा । मैं बस्तुतः बदल गया हूँ । मेरे वक्तव्यो मे नैतिक एव आध्यात्मिक समाधानों की चर्चा अतर्गल या केवल औपचारिक नहीं होती । बहुत सोच-विचार कर ही मैं उन पर बल देता हूँ । बहुत चिन्तन के बाद मे इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि आज के मानव की आत्मा असान्त और भूमी है । यदि भौतिक उन्नति के साथ मनुष्य की आत्मा भूमी रहेगी तो तसार का

समस्त भौतिक बंधन भी उस भूल को नहीं मिटा सकेगा ।”

आन्दोलन का उत्स

अणुव्रत-आन्दोलन का प्रारम्भ एक बहुत ही साधारण सी घटना से हुआ । बड़ी-से-बड़ी नदी का भी उत्स प्रायः साधारण ही होता है । वि० सं० २००५ में आचार्यश्री ने अपना वर्षाकालीन प्रवास छापरे में किया था । एक दिन वहाँ उनके पास बैठे हुए कुछ व्यक्ति नैतिकता के विषय में परस्पर बात कर रहे थे । उनमें से एक ने निराशा व्यक्त करते हुए बड़ा जोर देकर कहा कि इस युग में नैतिकता कोई रख ही नहीं सकता । यद्यपि आचार्यश्री उस बातचीत में भाग नहीं ले रहे थे; किन्तु उस भाई के इन शब्दों ने उनका ध्यान आकृष्ट कर लिया । वे उस समय कुछ भी नहीं बोले; किन्तु उनके मन में एक उबल-पुथल अवश्य मच गई ।

नैतिकता के प्रति अभिव्यक्त उस निराशा से आचार्यश्री को एक प्रेरणा मिली । वे वहाँ से उठकर प्रभात-कालीन प्रवचन के लिए सभा

1. Is not that unlike the Jawaharlal of yesterday Mr. Nehru, to talk in terms of ethical and spiritual solutions? What you say raises visions of Mr. Nehru in search of God in the evening of his life?

Ans. If you put it that way, my answer is yes, I have changed. The emphasis on ethical and spiritual solutions is not unconscious. It is deliberate, quite deliberate. There are good reasons for it. First of all, apart from material development that is imperative, I believe that the human mind is hungry for something deeper in term of moral and spiritual development, without which all the material advance may not be worth while.

—The Mind of Mr. Nehru p. 31

में गये । जो बात उनके मन्त्रिक में घूम रही थी; वही प्रबन्ध में जन-दान धारा बनकर फूट पड़ी । उन्होंने नैतिकता को पुष्ट करने हुए मेष-मन्द्र स्वर में पञ्चीम ऐसे व्यक्तियों की माँग की जो नैतिकता के विरुद्ध अपनी सक्ति लगा सके और हर सम्भावित गन्दे को भेज सकें । उन माँग के साथ ही यातावरण में एक गम्भीरता छा गई । उपस्थित व्यक्ति आचार्यश्री के आह्वान और अपने धारम-बल को तोड़ने लगे । मनो-मन्यन का वह एक अद्भुत दृश्य था । सत्रगा सभा में से कुछ व्यक्ति खड़े हुए और उन्होंने अपने नाम प्रस्तुत किये । यातावरण उत्थान में भर गया । एक-एक कर पञ्चीम नाम आचार्यश्री के पास आ गये । समाप्त-समाप्ति के अनन्तर भी वह ध्वनि लोगों के मन में गूँजती रही । राजस्थान के 'छापर' नामक उस छोटे-से कस्बे का घर-घर उस दिन चर्चा-स्थल बन गया । उस दिन की वह छोटी-सी घटना ही अणुब्रह्म-आन्दोलन की नींव के लिए प्रथम ईंट बन गई ।

रूपरेखा

उस समय यह कल्पना भी नहीं की गई थी कि यह घटना आगे चलकर एक आन्दोलन का रूप ले लेगी और जनता द्वारा उसका इतना स्वागत होगा । प्रारम्भ में केवल यही भावना थी कि जो लोग प्रतिदिन सम्पर्क में आते हैं, उनका नैतिकता के प्रति दृष्टिकोण बदले । वे धर्म को केवल उपासना का तत्त्व ही न मानें, उसे जीवन-शोधक के रूप में स्वीकार करें । जिन व्यक्तियों ने अपने नाम प्रस्तुत किये थे; उनके लिए नियम-संहिता बनाने के लिए सोचा गया । उसके स्वरूप-निर्धारण के लिए परस्पर चर्चाएँ चलने लगी । आचार्यश्री ने मुनिश्री नगराजजी को यह कार्य सौंपा । उन्होंने प्रतीकों की रूपरेखा बनाई और आचार्यश्री के सम्मुख प्रस्तुत की । राजलक्ष्मी में मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर 'आदर्श-भावक-सभ' के रूप में यह योजना जनता के सम्मुख रखी गई ।

चिन्तन फिर आगे बढ़ा और कल्पना हुई कि अनैतिकता की समस्या केवल श्रावक-वर्ग में ही नहीं है। वह तो हर धर्म के व्यक्तियों में समायी हुई है। क्यों न इस योजना के लक्ष्य को विस्तृत कर सबके लिए एक सामान्य नियम-संहिता प्रस्तुत की जाये। आखिर उस चिन्तन के आधार पर नियमावली को फिर विकसित किया गया। फलस्वरूप सर्वसाधारण के लिए एक रूपरेखा निर्धारित हुई और वि०स० २००५ में फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को सरदारशहर (राजस्थान) में आचार्यश्री ने अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन किया।

पूर्व-भूमिका

आन्दोलन-प्रवर्तन से पूर्व भी आचार्यश्री नैतिकता के विषय में अनेक प्रयोग करते रहे थे, परन्तु उस समय तक उनका लक्ष्य केवल श्रावक-वर्ग ही था। 'नव सूत्री योजना' और 'तेरह सूत्री योजना' के द्वारा

१. (१) आत्म-हत्या करने का त्याग (२) मद्य आदि मादक वस्तुओं के सेवन का त्याग (३) मांस और शय्या खाने का त्याग (४) बर्फी चोरी करने का त्याग (५) जूया खेलने का त्याग (६) पर-स्त्री गमन और अप्राकृतिक मैथुन का त्याग (७) झूठा मामला और असत्य साक्षी का त्याग (८) मिलावट का व नकली को धसली बताकर बेचने का त्याग (९) तौल-माप में कमी-बेरी करने का त्याग।
२. (१) निरपराध चलते-फिरते जीवों को जान-बूझकर न मारना (२) आत्म-हत्या न करना (३) मद्य न पीना (४) मांस न खाना (५) चोरी न करना (६) जूया न खेलना (७) झूठी साक्षी न देना (८) द्वेष या लोभवश आग न लगाना (९) पर-स्त्री गमन और अप्राकृतिक मैथुन न करना (१०) बेरिया-गमन न करना (११) धूम्र-पान व नशा न करना (१२) रात्रि-भोजन न करना (१३) साधु के निमित्त भोजन न बनाना।

लगभग तीस हज़ार धर्मियों को नैतिक उद्दीपन मिल चुका था। उन धर्मियों ने उन योत्रनाथों के शर्तों का स्वीकार कर अगुत्रत-आन्दोलन के लिए एक गुदुङ्ग भूमिका तैयार कर दी थी।

नामकरण

प्रारम्भ में अगुत्रत-आन्दोलन का नाम 'अगुत्रती-संघ' रखा गया था। 'अगुत्रत' शब्द जैन परम्परा में लिया गया है। मनुष्य के जागरित विवेक का निर्णय जब गवत्या का रूप ग्रहण करता है; तब वह ब्रत बहलाता है। वह अपनी पूर्णता की गीमा में महाप्रत बहलाना है और अगुत्रत की स्थिति में अगुत्रत। एक गवम की उच्चतम स्थिति है; तो दूसरी न्यूनतम। पूर्ण गवम में रहना कठिन साधना है; तो पूर्ण अनवम में रहना सर्वथा अहितकर। दोनों धर्मियों के मध्य का मार्ग है—अगुत्रत। अगुत्रत नियमों का पालन करने वाले व्यक्तियों के संगठन का नाम रखा गया—'अगुत्रती-संघ'।

जनता ने इस आन्दोलन का अचछा स्वागत किया। हज़ारों व्यक्ति अगुत्रती बने, लाखों ने उसका समर्थन किया और उसकी आवाज तो करोड़ों तक पहुँची। बम्बई में हुए पंचम अधिवेशन तक अगुत्रतियों के नाम की सूची रखी जाती रही, परन्तु फिर क्रमशः बढ़ती हुई संख्या की सुव्यवस्था रखने में शक्ति लगाने का विचार छोड़ दिया गया। संख्या का लोभ पहले भी नहीं रखा गया था, केवल भावना-प्रसार के रूप में ही जनता उसमें भाग ले; यही अभीष्ट माना गया। वहाँ अनेक नियमों में परिवर्तन किया गया। नाम के विषय में भी सुझाव आया कि 'संघ' शब्द सीमा को सकुचित करता है; जबकि 'आन्दोलन' शब्द अपेक्षाकृत मुक्त भावना का द्योतक है। सुझाव ठीक ही था; अतः मान लिया गया। तभी से इसका नाम 'अगुत्रत-आन्दोलन' कर दिया गया।

शर्तों का स्वरूप-निर्णय

आन्दोलन के प्रारम्भिक समय तक आचार्यश्री तथा मुनिजन बहुतायत

में राजस्वयान के सम्पर्क में ही रहे थे। नियमावली बनाने समय बड़ी के मुला-दोष स्पष्ट रूप से सामने धा सके, इन बहों की जीवन-यापन पद्धति की आधार मानकर ही उनों का स्वरूप-निर्धारण किया गया था। पहले-पहल बहों की समस्या खीरानी थी। मान्दोलन की ज्यों-ज्यों व्यापकता होगी गई, त्यों-त्यों देश तथा विदेश के व्यक्तियों की प्रतिनियोग सामने धाने लगी।

मुप्रसिद्ध विचारक भाई विश्वेश्वरान मधुवालाने मान्दोलन के प्रयोग की प्रसमनीय बनाने हल कुछ बातों की धीर ध्यान धारुष्ट किया। उन्हे सधा कि अन्य इन लों अगाम्यदायिक है, परन्तु अहिमा-वन पर पथ की पूरी धार है। उन्हेने उदाहरण के रूप में मासाहार धीर रेसमी-बन्धों के विषय में लिखा है कि जैनों धीर बेंगलियों की एक छोटी-नी समस्या के अतिरिक्त देश या विदेश के अतिरिक्त व्यक्तित मासाहार के नियम निभाने की श्पति में नहीं होने। इसी प्रकार रेसम के लिए इन बना, तो मोती के लिए क्यों नहीं बना ? रेसम के समान उनमें भी छोटे जीवों की हिमा होती है।^१

इस पर विन्तन जरा लो यह निष्कर्ष सामने धाया कि मासाहार यद्यपि मानव-जानि में बहुत व्यापक रूप में प्रथलित है, किन् भी यह विषय पुनर्विचार की अशा लना है। जैनों धीर बेंगलियों ने इसका बहुत समय पूर्व में अहितकार कर रखा है, परन्तु आज यह बंधन अतिरिक्त प्रबल ही नहीं रह गया है। उसमें बहुत सारे अज्ञानिक लक्ष्य भी है। शरीर-आम्बिकों की मान्यता भी यही बननी जा रही है कि मांस मनुष्य के लिए शाठ नहीं है। मासाहार का समर्थन करने वाले व्यक्तित आज प्राय हर देश में मिल जाने हैं, इन इसमें किसी पथ के दृष्टिकोण को महत्व देने या न देने का प्रबल नहीं है। आचारधंधी का विन्तन रहा है कि निरामिषता का अमिष विवाम होना चाहिए। मांस ही अमिष-धोत्रियों को अल्पुष्य में रवान न हो, यह भी अमिष नहीं माना गया,

अतः प्रवेशक-अणुव्रती के व्रतों में वह व्रत न रखकर मूल अणुव्रतियों के व्रतों में रत्न दिया गया। इससे उनकी साधना को क्रमिक विकास का अवसर मिलेगा।

मोती में यद्यपि रेशम के समान ही हिंसा सन्निहित है; फिर भी उसका उपयोग रेशम के समान व्याप्त नहीं है। स्वल्प जनों से सम्बद्ध होने के कारण फिलहाल एतद्विषयक नियम को आगे के चिन्तन पर छोड़ दिया गया।

सत्य-अणुव्रत के विषय में आचार्य विनोबा का अभिमत था कि सत्य अखण्ड होता है; अहिंसा की तरह उसका अणुव्रत नहीं बनाया जा सकता। इस पर भी आचार्यश्री ने चिन्तन किया। लगा कि सत्य की दृष्टि से सत्य जितना अखण्ड है; उतनी ही अहिंसा भी। परन्तु साधक की साधना में जब तक पूर्णता का समावेश नहीं हो जाता; तब तक अहिंसा की पूर्णता आ पाती है और न सत्य की। सत्य और अहिंसा अभिन्न हैं। जहाँ हिंसा है, वहाँ सत्य नहीं हो सकता। स्वरूप की दृष्टि से इनकी अखण्डता को मान्य करते हुए भी आचार-शक्यता के क्रमिक विकास की दृष्टि से इनके खण्ड भी आवश्यक माने गए हैं।

जापान के कुछ व्यक्तियों की प्रतिश्रिया थी कि इनमें से कुछ नियमों को छोड़कर शेष नियमों का हमारे देश के लिए कोई उपयोग नहीं। वे सब भारतीय जीवन की दृष्टि में रखकर ही बनाये गये प्रतीत होते हैं। उन लोगों की यह बात कुछ धंसा में ठीक ही थी; क्योंकि स्थानीय परिस्थितियों का प्रभाव रहना स्वाभाविक ही है। पर आचार्यश्री को देशी और विदेशी का कोई भेद अभीष्ट नहीं रहा है।

इस प्रकार की अनेक प्रतिक्रियाओं तथा सुझावों के प्रकाश में निर्या-वर्षी को टिटर में संशोधित करने का निश्चय किया गया। इस बार के संशोधनों में यह बात मुख्यता से ध्यान में रखी गई कि समय की मूल प्रवृत्तियाँ सर्वत्र समान होती हैं; उपभेदों में भेद ही अन्तर आता है। इसलिए निर्यावर्षी मूल प्रवृत्तियों पर नियंत्रण स्थापित करने के

लिए ही बनाई गई। शेष नियम देश-कालानुसार स्वयं निर्धारित करने के लिए छोड़ दिये गए। इस क्रम से नियमों की संख्या घटकर केवल चमालीस रह गई।

तीन श्रेणियाँ

प्रथम रूप-रेखा में अणुव्रतियों की कोई श्रेणी नहीं थी। सशोधन के फलस्वरूप उनकी तीन श्रेणियाँ निश्चित की गईं—(१) प्रवेशक अणुव्रती, (२) अणुव्रती और (३) विशिष्ट अणुव्रती। ये श्रेणियाँ किसी पद की प्रतीक नहीं हैं; अपितु क्रमिक अभ्यास की प्रगति-सूचक सीढ़ियाँ हैं। प्रवेशक अणुव्रती के लिए ग्यारह नियम अथवा वर्गीय नियम हैं। अणुव्रती के लिए चमालीस और विशिष्ट अणुव्रती के लिए उन चमालीस नियमों के साथ-साथ छह नियम और हैं। इस प्रकार व्रतों के स्वरूप और श्रेणियों का जो निर्णय किया गया, वह कई परिवर्तनों के बाद की स्थिति है।

असाम्प्रदायिक रूप

भ्रान्दोलन का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही असाम्प्रदायिक रहा है। यह विगूढ़ रूप से चरित्र-विकास की दृष्टि लेकर चला है और इसी उद्देश्य की पूर्ति में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देना चाहता है। सब धर्मों की समान भूमिका पर रहकर कार्य करते रहना ही इसने अपना श्रेयोमार्ग चुना है। परन्तु प्रारम्भ में लोगों को यह विश्वास नहीं हो पा रहा था कि सम्प्रदाय-विशेष का एक आचार्य इतना उदार बनकर सब धर्मों की समन्वयात्मकता के आधार पर कोई भ्रान्दोलन चला सकता है। उस समय यह प्रश्न बार-बार आचार्यश्री के सामने आता रहता था कि अणुव्रती बनने पर क्या हमें आपको धर्म गुरु मानना होगा? दिल्ली में एक भाई ने यही प्रश्न सभा में सड़े होकर पूछा था। आचार्यश्री ने कहा—“यह कोई आवश्यक नहीं है; आपके लिए केवल भ्रान्दोलन के व्रतों का पालन करना ही आवश्यक है। कौनसे धर्म को मानते हैं,

विश्वको धर्म का मानने हैं, भयवा किसी धर्म को मानने भी है या नहीं, इन सब बातों में घाने विचार और प्रवृत्ति को दयागर्भ करने में भाग रखना है। आन्दोलन उगमे बापक नहीं बनता।”

जनता ज्या-ज्यों मजबूत में आती गई, त्यो-त्यो साम्प्रदायिकता का भय घटने-घाट दूर होता गया। भीरे-भीरे उगमें सभी तबकों के मनु सम्मिलित होने लगे। हिन्दू, सिख, मुसलमान और ईसाई आदि मधमों को इगमें अपने ही गिद्वान्त प्रतिविम्बित हुए लगने लगे।

सर्वदलीय

भाचार्यथी ने इन आन्दोलन में राजनैतिक मज्जदायों का भी समन्व किया है। वे इसे किसी भी राजनैतिक पार्टी को कठपुतली नहीं बना देना चाहते। समय-समय पर प्रायः अनेक राजनैतिक दलों के लोग आन्दोलन के कार्यक्रमों में सम्मिलित होने रहे हैं। उनके पारस्परिक मतभेद कुछ भी क्यों न रहने हो, किन्तु चरित्र-विशुद्धि की भावश्यकता तो वे सब समान रूप से ही समझते हैं।

सन् १९५६ में चुनावों की तैयारियाँ हो रही थी; तब भाचार्यथी भी दिल्ली में ही थे। आम चुनावों में जनैतिक और अनुचित प्रवृत्तियों का समावेश न हो; इस लक्ष्य से भाचार्यथी के सान्निध्य में एक सभा का आयोजन किया गया। उसमें चुनाव-मुख्यामुक्त श्री सुकुमार नेन, वरिष्ठ अध्यापक श्री उ० न० डेबर, साम्यवादी नेता श्री अ० क० गोपावन, प्रजा समाजवादी नेता श्री जी० भ० कृपलानी आदि देश के प्रमुख राजनीतिज्ञ सम्मिलित हुए थे। सभी ने आन्दोलन के दलों को क्रियान्वित करने का विश्वास दिलाया था। इस भूमिका में आन्दोलन को निर्दलीय यथवा सर्वदलीय कहा जा सकता है।

सहयोगी भाव

असम्प्रदाय-भावना ने अगुवत-आन्दोलन को सबके साथ मिलकर

तथा सबका सहयोग लेकर सामूहिक रूप से कार्य करने का सामर्थ्य प्रदान किया है। व्यक्ति अकेला किसी ऐसी बुराई का; जो सर्व-साधारण में अव्याहत रूप से फैल चुकी हो; सामग्रा करने में अपने-भाप को असमर्थ पाता है। परन्तु जब समान उद्देश्य के अनेक व्यक्ति उस बुराई के विरुद्ध खड़े होते हैं तो उसमें भाग लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपने में एक विशेष सामर्थ्य का अनुभव होने लगता है। जब बुराई अनेक व्यक्तियों का सामूहिक सहयोग पाकर प्रबल बन जाती है तो अच्छाई को भी अनेक व्यक्तियों के सामूहिक सहयोग से प्रबल बनाना चाहिए। एक अच्छा व्यक्ति अनेक बुरे व्यक्तियों से श्रेष्ठ भवद्य होता है, पर जीवन-व्यवहार में निभ तभी सकता है; जबकि अनेक अच्छे व्यक्ति उसकी जीवन-यापन-पद्धति के पोषक तथा सहायक हो।

आचार्यश्री सभी दलों तथा व्यक्तियों का सहयोग इसीलिए अभीष्ट मानते हैं कि उससे धार्मिक तथा नैतिक जीवन व्यतीत करने की कामना रखने वाले व्यक्तियों को एकरूपता प्रदान की जा सके और उससे अधार्मिकता और अनैतिकता के वर्तमान प्रभाव को नष्ट किया जा सके। आचार्यश्री ने एक बार कहा था कि जब चोर आदि दुर्गुणी व्यक्ति सम्मिलित होकर काम कर सकते हैं तो अच्छा उद्देश्य रखने वाले दल सम्मिलित होकर काम क्यों नहीं कर सकते? इस कथन से सर्वोदयी नेता जयप्रकाश नारायण बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने कहा—“मैं सर्वोदय-कार्यकर्ताओं के सम्मुख चर्चा करूँगा कि ऐसे समान उद्देश्यों के कार्यों में परस्पर सहयोगी बनें।”

प्रथम अधिवेशन

अष्टवत-भान्दोलन का प्रथम वार्षिक अधिवेशन भारत की राजधानी दिल्ली में हुआ था। यद्यपि भान्दोलन-प्रसार की दिशाएँ जयपुर से ही उन्मुक्त होने लगी थीं; पर सार्वजनिक रूप उसे दिल्ली में मिला। वह आचार्यश्री का दिल्ली में प्रथम बार पदार्पण था। भान्दोलन नया-

मया ही था। परिस्थितियाँ कोई अधिक अनुभूत नहीं थीं। परिणाम, सन्देह और विरोध की गिनी-जुमी भावनाओं का सामना करना पड़ रहा था। फिर भी आचार्यश्री ने धानी बान पूरे बल के साथ जतना में रणी। पहले-पहल शिक्षित-वर्ग ने उनकी बातों की उपेक्षा व उदाहरण की दृष्टि से देखा, पर उनकी आवाज समय की आवाज थी। उनकी उपेक्षा की नहीं जा सकती थी। उनकी बातों ने धीरे धीरे जनता के मन को गुमा और आन्दोलन के प्रति आकर्षण बढ़ाने लगा।

कुछ दिन बाद वार्षिक अधिवेशन का आयोजन हुआ। दिल्ली-नगर-पालिका-भवन के पीछे के मैदान में हजारों व्यक्ति एकत्रित हुए। वातावरण में एक उत्साह था। दिल्ली के नागरिकों ने एक भाषा भरे दृष्टिकोण से अधिवेशन की कार्यवाही को देखा। नगर के सार्वजनिक कार्यकर्ता, साहित्यकार तथा पत्रकार आदि भी अच्छी संख्या में उपस्थित थे।

कार्य प्रारम्भ हुआ। कुछ भाषण हुए। प्रथम वर्ष की रिपोर्ट सुनाई गई। उसके पश्चात् व्रत स्वीकार कराये गए। आन्दोलन के प्रारम्भिक दिनों में जहाँ पिचहत्तर व्यक्ति थे; वहाँ प्रथम अधिवेशन के समय छ-सौपच्चीस व्यक्तियों ने व्रत ग्रहण किये। उपस्थित जनता के लिए वह एक अपूर्व बात थी। अधिवेशन का वही सबसे बड़ा आकर्षण था। उससे देश में नैतिक ज्ञान्ति के बीज प्रकुरित होने का स्वप्न आकार ग्रहण करता हुआ दिखाई देने लगा। चारों ओर चलने वाली अनैतिकता में खड़े होकर कुछ व्यक्ति यह सकल्प करें कि वे किसी प्रकार का अनैतिक कार्य नहीं करेंगे; तो वह एक अपठनीय घटना ही लग सकती है। अनैतिक वातावरण में मनुष्य जहाँ स्वार्थ को ही प्रमुख मानकर चलता है, परमार्थ को भूलकर भी याद नहीं करता; वहाँ कुछ व्यक्तियों का अशुभ्रती बनना एक नया उन्मेष था।

पत्रों की प्रतिक्रिया

पत्रकारों पर उस घटना का बहुत ही अनुकूल प्रभाव हुआ। देश

के प्रायः सभी दैनिक पत्रों ने बड़े-बड़े शीर्षकों से उन समाचारों को प्रकाशित किया। अनेक दैनिक पत्रों में एतद्-विषयक सम्पादकीय लेख भी लिखे गए। हिन्दुस्तान टाइम्स (नई दिल्ली) ने अपने साप्ताहिक-संस्करण में लिखा—“बमत्कार का युग अभी समाप्त नहीं हुआ, एक किरण दीख पड़ी है। जब अनुचित रूप से कमाये गये पैसे पर फूलने-फलने वाले व्यापारी एकत्रित होकर सच्चाई से जीवन बिताने का आन्दोलन शुरू करते हैं; तब कौन उनसे प्रभावित नहीं होगा।” उन्होंने यह सद्प्रतिज्ञा आचार्यश्री तुलसी के सामने अणुव्रती-संघ के पहले वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर ग्रहण की है। आचार्य तुलसी जो कि इस संगठन या आन्दोलन के दिमाग हैं, राजपूताना के रेतीले मैदानों को पार करके दिल्ली की पक्की सड़कों पर आये हैं।”

हिन्दुस्तान स्टैंडर्ड (कलकत्ता) ने २ मई, ५० को अणुव्रती संघ का स्वागत करते हुए लिखा था—“ इस देश में व्यापार-व्यवसाय में मिथ्या जोरों पर है। यह भय है कि कहीं उससे समाज के जीवन का सारा नैतिक ढांचा ही नष्ट न हो जाये, इसलिए कुछ व्यापारियों का यह आन्दोलन कि वे व्यापार-व्यवसाय में मिथ्या आचार न करेंगे, देश में स्वस्थ व्यापार-व्यवसाय को जन्म दे सकेगा। इस दिशा में अणुव्रती-संघ के आचार्यश्री तुलसी ने जो पहल की है; उसके लिए वे बधाई के अधिकारी हैं।”

कलकत्ता के सुप्रसिद्ध बंगला दैनिक आनन्द बाजार पत्रिका ने ‘नूतन सतयुग’ शीर्षक से लिखा था—“तो क्या कलियुग का अवसान हो गया है! क्या सतयुग प्रकट होने को है? नई दिल्ली, ३० अप्रैल का एक समाचार है कि मारवाड़ी समाज के कितने ही लखपति और करोड़पति लोगों ने यह प्रतिज्ञा की है कि वे कभी चोरबाजारी नहीं करेंगे। इसके प्रेरक हैं आचार्यश्री तुलसी; जिन्होंने मानव-जाति की समस्त बुराइयों को दूर करने के लिए एक आन्दोलन प्रारम्भ किया है। उसी के समर्थन में ये प्रतिज्ञाएँ की गई हैं। हम आचार्यश्री तुलसी से सदिनय अनुरोध करना चाहते हैं कि वे कलकत्ता नगरी में पधारने की रूपा करें।”

'हरिजन-सेवक' के हिन्दी, अंग्रेजी व गुजराती-संस्करणों में श्री किशोरलाल मश्रुवाला ने सधू के वृत्तों की विवेचना करते हुए सम्पादकीय में लिखा—अधुना अंग्रेजी का अर्थ है—प्रत्येक व्रत का अणु से लेकर क्रमशः बढ़ता हुआ पालन । उदाहरण के लिए, कोई आदमी जो अहिंसा और अवरिग्रह में विश्वास तो रखता है, लेकिन उनके अनुसार चलने की ताकत अपने में नहीं पाता, वह इस पद्धति का आश्रय लेकर किसी विशेष हिंसा से दूर रहने या एक हृद के बाहर और किसी साम्रंज से मझ न करने का सकल्य करेगा और धीरे-धीरे अपने सद्य की घोर बढ़ेगा । ऐसे व्रत अणुव्रत कहलाते हैं ।”

इस प्रकार आन्दोलन की प्रनिध्वनि गमस्त देश में हुई । वक्त्रिन् विदेशी पत्रों में भी इस विषय में लिखा गया । न्यूयार्क के सुप्रसिद्ध साप्ताहिक 'टाइम' (१५ मई १९५०) में यह मवाद प्रकाशित हुआ—
“अन्य अनेक स्थानों के वृद्ध व्यक्तियों की तरह एक दुबला-पतला, टिण्डा, चमकती आंखों वाला भारतीय मसगर की वर्तमान स्थिति के प्रति अत्यन्त चिन्तित है । चौबीस वरग की आयु का वह आचार्य तुलसी है, जो जैन नेरगध-ममाज का आचार्य है । वह अहिंसा में विश्वास करने वाला धार्मिक ममुदाय है । आचार्य तुलसी ने १९४६ में अणुव्रती-मध की स्थापना की थी । त्रय ममस्त भारत को व्रती बना चुकेंगे; तब दोष ममगर को व्रती बनाने की उत्तरी योजना है ।”

देशी और विदेशी पत्रों में होने वाली उम प्रनिध्विगा में ऐसा मगा है कि मानों तेने स्त्री आन्दोलन के लिए मानव-ममाज भूगा और प्यासा बँटा था । प्रथम अधिदेशन पर उमका वह स्वागत आगाती और बल्पनाशील था ।

आगावादी दृष्टिगाँ

आन्दोलन का मसन परिव्र है, कार्य निष्काम है, अत उमगे अणुव्रती की महमनि ही हा मरनी है । तब देश के मगरियों की मरण-

राकित जागृत होती है; तब मन ~~में मधुर आनन्द का एक मकर अस्तित्व~~ होता है। आन्दोलन के सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के उद्गार इस बात के साक्षी हैं। उनमें से कुछ ऐसे व्यक्तियों के उद्गार यहाँ दिये जा रहे हैं; जिनका राष्ट्रव्यापी प्रभाव है तथा जो किसी भी प्रकार के दबाव से अप्रभावित रहकर चिन्तन करने की क्षमता रखते हैं।

राष्ट्रपति-भवन में एक विशेष समारोह पर बोलते हुए राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने कहा है—“पिछले कई वर्षों से अणुव्रत-आन्दोलन के साथ मेरा परिचय रहा है। शुरुआत में जब कार्य थोड़ा आगे बढ़ा था; मैंने इसका स्वागत किया और अपने विचार बतलाये। जो काम आज तक हुआ है; वह सराहनीय है। मैं चाहूँगा इसका काम देश के सभी वर्गों में फैले, जिससे सब इससे लाभान्वित हो सकें। इस आन्दोलन से हम दूसरों की भलाई करते हैं, इतना ही नहीं, अपने जीवन को भी शुद्ध करते हैं, अपने जीवन को बनाते हैं। समय की जिन्दगी सबसे अच्छी जिन्दगी है। इसीलिए हम चाहते हैं कि सब वर्गों में इसका प्रचार हो। सबको इसके लिए प्रोत्साहन दिया जाये।”

उपराष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् ने अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में लिखा है—“हम ऐसे युग में रह रहे हैं; जब हमारा जीवात्मा सोया हुआ है। आत्म-बल का अकाल है और प्रभाव का राज्य है। हमारे मुक्क तेजी से भौतिकवाद की ओर झुकते चले जा रहे हैं। इस समय किसी भी ऐसे आन्दोलन का स्वागत हो सकता है, जो आत्म-बल की ओर ले जाने वाला हो। इस समय हमारे देश में अणुव्रत-आन्दोलन ही एक ऐसा आन्दोलन है, जो इस कार्य को कर रहा है। यह काम ऐसा है कि इसको सब तरफ से बढ़ावा मिलना चाहिए।”

प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा है—“हमें अपने देश का

मजान बनाना है। उसकी बुनियाद गहरी होनी चाहिए। बुनियाद यदि रेत की होगी तो ज्यों ही रेत बह जायेगी; मजान भी बह जायेगा। गहरी बुनियाद जरूरत की होती है। देन में जो काम हमें करने हैं; वे बहुत लम्बे-थोड़े हैं। इन सबकी बुनियाद जरूरत है। इसे लेकर बहुत श्रद्धा काम अणुव्रत-मान्दोलन में हो रहा है। मैं मानता हूँ, इस काम की जितनी तरक्की हो; उतना ही श्रद्धा है। इसलिए मैं अणुव्रत-मान्दोलन की पूरी तरक्की चाहता हूँ।”

अणुव्रत-मेमिनार में उद्घाटन-भाषण करते हुए यूनेस्को के डायरेक्टर-जनरल डॉ० सुधर इवान्स ने कहा—“हम लोग यूनेस्को के द्वारा शान्ति के अनुकूल वातावरण बनाने की चेष्टा कर रहे हैं। इधर अणुव्रत-मान्दोलन भी प्रशंसनीय काम कर रहा है। यह बड़ी खुशी की बात है। मैं इसकी सफलता चाहता हूँ। आपका यह सत्कार्य सत्कार में फँसे और शान्ति का मार्ग-दर्शन करें।”

राष्ट्र के सुप्रसिद्ध विचारक कारा कालेलकर ने कहा है—“श्रमण और भिक्षु शान्ति-सेना के सैनिक हैं। नैतिक प्रचार और प्रसार के लिए उन्होंने जीवन को अगाया है, यह उचित है। अणुव्रत-मान्दोलन में नैतिक विचार-शान्ति के साथ-साथ बौद्धिक श्रद्धा पर भी बल दिया गया है। यह इसकी अपनी विशेषता है।”

श्री राजगोपालाचार्य ने अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—“भेरी राय में यह जनता के नैतिक एवं सांस्कृतिक उद्धार की दिशा में पहला कदम है।”

भाचार्य जे० बी० कृपलानी ने अणुव्रत-मान्दोलन के विषय में अपने भाव यों व्यक्त किये हैं—“ मैं मानता हूँ कि प्रतों के बिना दुनिया

1. अणुव्रत जीवन-दर्शन

2. नव निर्माण की पुकार, पृ० ३४

3. नव निर्माण की पुकार, पृ० २०

चल नहीं सकती। व्रतों को त्यागने से सर्वनाश हो जाता है। मैं व्यक्ति-सुधार में विश्वास नहीं रखता। सामूहिक सुधार को सत्य मानकर चलता हूँ। व्यक्ति-सुधार की प्रक्रिया में वह बेग और उत्साह नहीं रहता; जितना सामूहिक सुधार में रहता है। इसके तात्कालिक परिणाम भी लोगों को भावुक कर लेते हैं। अणुव्रत-धान्दोलन इस दिशा में मार्गसूचक बने; ऐसी मेरी भावना है।”

हिन्दी-जगत् के सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमार के विचार इस प्रकार हैं—“सिद्धान्त की कसौटी व्यवहार है, जो व्यवहार पर सरा सिद्ध नहीं होता; वह सिद्धान्त कैसा? मुझे यह कहते प्रसन्नता है कि महाव्रत का मार्ग जगत् से एकदम निरपेक्ष नहीं है, अणुव्रत उसका उदाहरण है। व्रत जीवन में किनारे जैसे है। यदि नदी के किनारे न हो; तो उसका पानी रेगिस्तान में मूल जाये। किनारे नदी को बाँधने-वाले नहीं होने चाहिए, वे उसको मर्यादा में रखने वाले होने चाहिए। ऐसे ही वे किनारे जीवन-व्यंतन्य को विकास देने वाले और दिशा देने वाले हो सकते हैं।”

प्रसिद्ध भारतीय कांग्रेस कमेटी के भूतपूर्व महामंत्री श्री श्रीमन्नारायण ने अपनी भावना यों व्यक्त की है—“अणुव्रत-धान्दोलन की जब से मुझे जानकारी हुई है; तभी से मैं इसका प्रशंसक रहा हूँ। इसके सम्बन्ध में मेरा भावपूर्ण इसलिए हुआ कि यह धान्दोलन जीवन की छोटी-छोटी बातों पर भी विशेष ध्यान देता है। बड़ी बातें करने वाले बहुत हैं; किन्तु छोटी बातों को महत्त्व देने वाले कम होते हैं।

यह धान्दोलन नमिक विकास को महत्त्व देता है; यह इसकी विशेषता है। एक साथ लक्ष्य पर नहीं पहुँचा जा सकता, एक-एक कदम भाने बढ़ा जा सकता है।”

१. नव निर्माण की पुकार, पृ० ४२

२. नव निर्माण की पुकार, पृ० २२

३. नव निर्माण की पुकार, पृ० २१

संसद्-सदस्या श्रीमती सुचेता कृपलानी ने कहा है—“अणुव्रत-आन्दोलन जीवन-सुद्धि का आन्दोलन है। जब कार्य और कारण दोनों शुद्ध होते हैं, तब परिणाम भी शुद्ध होता है। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक का व उनके साथी साधुओं का जीवन शुद्ध है। अणुव्रतों का कार्यक्रम भी पवित्र है, इसलिए इनके कहने का असर पड़ता है।

अणुव्रत-आन्दोलन के व्रत सार्वजनीन हैं। प्रत्येक वर्ग के लिए इसमें व्रत रखे गए हैं। यह इसकी अपनी विशेषता है। व्रतों की भाषा सरल व स्वाभाविक है। अहिंसा आदि व्रतों का विवेचन सामयिक व युगानुकूल है। अहिंसा की व्याख्या व व्रतों में शब्दों का सकलन मुझे बहुत ही भावोत्पादक लगा। कहा गया है—जीव को मारना या पीडा पहुँचाना तो हिंसा है ही, किन्तु मानसिक असहिष्णुता भी हिंसा है। अधिकांश का दुरुपयोग भी हिंसा है। कम पैसों से अधिक धन लेना भी हिंसा है, आदि-आदि। इसी प्रकार सभी व्रत जीवन को सूने हैं। अणु-श्रिया का जीवन हमका प्रत्यक्ष प्रमाण है। मुझ पर आन्दोलन का काफी असर है। आचार्यजी का सत्-प्रयास सफल हो; यह मेरी कामना है।’

उपरोक्त व्यक्तियों के अनिश्चल भी बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं; जो अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में बहुत श्रद्धालु और आशावादी हैं। उन सबके उद्गारा का सकलन एक पुथक् पुस्तक का विषय हो सकता है। यही उन सबका उल्लेख सम्भव नहीं है।

सन्देह और समाधान

आन्दोलन के विषय में जहाँ घने व्यक्ति आशावादी हैं; वहाँ कुछ व्यक्तियों का अल्प-विषयक नाना सन्देह भी है। किसी भी विषय में सन्देहों का हाना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। वास्तु. के अल्प को अधिक गहराई में गानने की प्रेरणा ही देने हैं। समाधान भी करने

है। यहाँ भ्रान्दोलन के विषय में किये जाने वाले कुछ सन्देहों का प्रश्नोत्तर रूप से संक्षेप में समाधान प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. प्रश्न—भगवान् महावीर, भगवान् बुद्ध और महात्मा गांधी जैसे व्यक्ति भी जब विश्व को नैतिकता के ढाँचे में नहीं ढाल सके तो आचार्यश्री वह कार्य कैसे कर सकेंगे ?

उत्तर—समूचे विश्व को नैतिक बना देना किसी के लिए सम्भव नहीं है। नैतिकता का इतिहास जितना पुराना है, उतना ही अनैतिकता का भी। हर युग में इन दोनों का परस्पर संघर्ष चलता रहा है। मसार के रग-मच पर कभी एक की प्रमुखता होती रही है तो कभी दूसरे की; पर सम्पूर्ण रूप से न कभी नैतिकता मिटी है और न ही अनैतिकता। जब-जब मानव-समाज में नैतिकता की प्रबलता रही है, तब-तब उसका उत्थान हुआ है और जब-जब अनैतिकता की प्रबलता हुई है; तब-तब पतन। एक न्याय, मैत्री और साम्य की सवाहक बनकर शान्ति का साम्राज्य स्थापित करती है तो दूसरी अन्याय, विद्वेष और विषमता की संवाहक बनकर अशान्ति का दावानल प्रज्वलित करती है। सभी महा-पुरुषों का विचार रहा है कि विश्व नैतिक और आध्यात्मिक बने; किन्तु वे सब यह भी जानते रहे हैं कि यह सम्भव नहीं है। इसलिए वे फल की ओर से निश्चिन्त होकर केवल कार्य पर लगे रहे। उससे समाज में आध्यात्मिकता और नैतिकता का प्रामुख्य स्थापित हुआ। आचार्यश्री भी अपना पुरोपार्थ इसी दिशा में लगा रहे हैं। कितना क्या कुछ बनेगा; इसकी चिन्ता न वे करते हैं और न उन्हें करनी ही चाहिए।

२. प्रश्न—सारा ससार ही जब भ्रष्टाचार और दुर्व्यसनो में फँसा है; तब बन्द मनुष्य अणुब्रती बनकर अपना सत्य कैसे निभा सकते हैं ?

उत्तर—सत्य आत्मा का धर्म है। उसके लिए दूसरे का सहारा नितान्त अपेक्षित नहीं है। सफलता सख्या पर नहीं; भावना पर निर्भर है। ससार के प्रायः सभी सुधार थोड़े व्यक्तियों से ही प्रारम्भ हुए हैं। अधिक व्यक्ति तो उसके विरोध में रहे हैं; क्योंकि विचारशील और

स्वार्थ त्यागी मनुष्य अपेक्षाकृत स्वल्प ही मिलते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अणुव्रतियो कि मर्यादा स्वल्प ही रहनी चाहिए; किन्तु यह है कि संख्या को सफलता का मापक यत्र नहीं मानना चाहिए। अधिक व्यक्ति जिस मार्ग का चुनते हैं, वह सच्चा ही हो, यह आवश्यक नहीं है। अतः सत्य-सेवी के लिए बहुमत का महत्त्व अधिक नहीं रह जाता। उसे अपने आत्म-बल पर विश्वास रखते हुए बहु-जन-मान्य अनैतिक विषयों का सामना ही नहीं, अपितु उन पर प्रहार करने को भी उद्यत रहना चाहिए। इस प्रकार वह अपने सत्य को तो निभा ही लेता है; साथ-साथ उन अनेक व्यक्तियों को सत्य-मार्ग के लिए प्रेरित भी कर देता है; जो साथी के अभाव में अपने बल पर आगे बढ़ने से घबराते हैं।

३. प्रश्न—जिस गति से लोग अणुव्रती बन रहे हैं; वह बहुत धीमी है। इस गति से यहाँ का नैतिक दुर्भ्रंश मिट नहीं सकता। प्रतिवर्ष एक सहस्र व्यक्ति अणुव्रती बनते रहे तो भी अकेले भारत की चालीस करोड़ जनता को नैतिक बनाते लाखों वर्ष लग जायेंगे; तब आन्दोलन के पाम इस समस्या का क्या हल है ?

उत्तर—यह स्वीकार किया जा सकता है कि गति बहुत धीमी है। उसे तेज करना चाहिए, किन्तु आन्दोलन गुण की निष्ठा लेकर चलना है। संख्या का महत्त्व उसमें गौण है। यदि गुण का आधिपत्य हो तो औपधि की अल्प मात्रा भी जिस तरह प्रभूत परिणाम ला सकती है; उसी तरह अल्पसंख्यक गुणी व्यक्ति भी सारे समाज को प्रभावित कर सकते हैं। यह मानवीय भावना का प्रश्न है। इसे साधारण गणित के आधार पर समाहित नहीं किया जा सकता। मानवीय भावना गणित के फारमूलों से बंधकर नहीं चला करती।

हजारों व्यक्तियों की सम्मिलित भावना का जब कहीं एक स्थान पर तीव्र विस्फोट होता है, तब वह हमारी गणित की प्रक्रिया में एक के रूप में सम्मिलित किया जाता है। अवशिष्ट व्यक्ति गणना-क्षेत्र से बाहर रह जाते हैं। अणुव्रत-भावना को भी इसी आधार पर यों समझा जा

सकता है कि जब हजारों व्यक्तियों के मन पर अनीति के विरुद्ध नीति का प्रभाव होता है; तब उनमें से हीनतर या तीव्रतम प्रभाव वाला व्यक्ति; जो कि उन सहस्रों की भावना का एक प्रतीक समझा जा सकता है; प्रतिज्ञाबद्ध होता है। अणुवत-भावना से प्रभावित होते हुए भी भव-शिष्ट व्यक्ति उस सख्या से बाहर रह जाते हैं। इसलिए अणुवतियों की सख्या को ही अणुवत-भावना का विकास-क्षेत्र नहीं मान लेना चाहिए।

भारत के स्वातन्त्र्य-संग्राम के अहिंसक सैनिक इस बात की सत्यता के लिए प्रमाणभूत माने जा सकते हैं। सारे भारतवासी तो क्या, पर शतांश भी उस सख्या के सदस्य नहीं थे। पर क्या इससे यह माना जा सकता है कि जितने उस सख्या के सदस्य थे; केवल उतने ही स्वतन्त्रता के पुजारी थे? अवशिष्ट व्यक्तियों को स्वतन्त्रता-संग्राम से कोई सम्बन्ध नहीं था?

इसके अतिरिक्त सारे भारत की बात सोचने से पहले यह तो हर एक व्यक्ति को मान्य होगा ही कि अभाव से तो स्वल्प-भाव अर्थात् ही होता है। स्वल्प-भाव को सर्व-भाव की ओर बढ़ने में अपनी गति तीव्र करनी चाहिए; इसमें स्वयं अणुवत-आन्दोलन सहमत है, परन्तु सर्व-भाव न हो, तब तक के लिए अभाव ही रहना चाहिए, स्वल्प-भाव की कोई आवश्यकता नहीं है, इस बात से वह सहमत नहीं हो सकता।

४. प्रश्न—अणुवतों की रचना में मुख्यतः निषेधात्मक दृष्टि ही क्यों अपनाई गई है; जब कि जीवन-निर्माण में विधि-प्रधान पद्धति की आवश्यकता होती है।

उत्तर—यों तो विधि में निषेध और निषेध में विधि स्वतः गभित रहती ही है; फिर भी मनुष्य की आचार-संहिता में विधेय अधिक होते हैं और हेय कम। इसीलिए अपनी मर्यादा में रहकर मनुष्य को क्या-क्या करना चाहिए; इसकी लम्बी सूची बनाने से अधिक सुगम यह होता है कि उसे क्या-क्या नहीं करना चाहिए; यह बतलाया जाये।

गीमा या मर्पादा का भावात्मक धर्म निषेध ही तो होता है। माना, पिना या गूट अपने शान्त को निषिद्ध वस्तु की मर्पादा ही बनाने हैं। 'बिजली का मन सुपा करो' यह कहकर वे उमकी जो मुरगा कर सकते हैं, क्या वही 'कमरे की ये-ये वस्तुएं सुपा करो' कहकर कर सकते हैं? सरकार भी विदेश से जिन-जिन ब्यागरों का निषेध करना चाहती है, उन्हीं का नाम-निर्देश करती है; किन्तु जो-जो मँगाया जा सकता है, उमका सूची-पत्र प्रसारित नहीं करती। सरलता भी इसी में है।

५. धरन—हर कार्य की उपनधि सामने घाने पर ही उम पर विश्वास जमला है। अणुवत-आन्दोलन की कोई उपनधि दृष्टिगत क्यों नहीं हो रही है?

उत्तर—भौतिक समृद्धि के लिए किये जाने वाले कार्यों से जो स्थूल उपलब्धियाँ होती हैं, वे प्रत्यक्ष देखी जा सकती हैं। परन्तु यह आन्दोलन उन कार्यों से सर्वथा भिन्न है। इसकी उपनधि किसी स्थूल पदार्थ के रूप में प्रत्यक्ष नहीं देखी जा सकती। अन्न, वस्त्र या फलों के ढेर की तरह आध्यात्मिकता, नैतिकता या हृदय-परिवर्तन का ढेर नहीं लगाया जा सकता। भौतिक और अभौतिक वस्तुओं को एक तुला पर तोलने की तो बात ही क्या की जा सकती है, जबकि भौतिक वस्तुओं में भी परस्पर अनुलोम्य अन्तर होता है। पत्थर और हीरे को क्या कभी एक तराजू पर तोला जा सकता है? अणुवत-आन्दोलन की उपलब्धि प्रत्यक्ष नहीं हो सकती, फिर भी उसने क्या कुछ किया है, इस बात का पता लगाने के लिए कुछ कार्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं। आन्दोलन का ध्येय हृदय-परिवर्तन के द्वारा जनता के चारित्रिक उत्थान कर रहा है। अतः उसने भ्रष्टाचार, मिलावट, भूठा तौल-माप, दहेज और रिश्वत आदि के विरुद्ध अनेक अभियान चलाये हैं। मद्यपान और धूम्रपान के विरुद्ध भी धातावरण तैयार करने का प्रयास किया है। हजारों व्यक्तियों को उपर्युक्त दुर्गुणों से दूर कर देना धात्म-शुद्धि के क्षेत्र में जहाँ एक महत्त्वपूर्ण कार्य है; वहाँ जन-सामान्य की दृष्टि में घाने वाली आन्दोलन की एक

महत्त्वपूर्ण उपलब्धि भी है। परन्तु भान्दोलन इस उपलब्धि की अपेक्षा उस मूलम उपलब्धि को अधिक महत्त्व देना है; जिनसे कि जन-मानस में भ्रष्टात्म का बीज-वपन होता है।

भान्दोलन की धावाज

धरुवत-भान्दोलन की धावाज तासाब में उठने वाली उस लहर की तरह है, जो कि धीरे-धीरे आगे बढ़ती और फैलती जाती है। धावाज जितने व्यक्ति इसमें परिचित है, वे सब धीरे-धीरे ही इसके सम्पर्क में आये हैं। प्रारम्भ काल में बहुत से लोग इसे एक साम्प्रदायिक भान्दोलन मानते रहे थे। धावायंधी को अनेक बार एन्ड-विषयक स्पष्टीकरण करना पड़ता था। फिर भी सबके मस्तिष्क में यह बात कठिनता से ही बैठ पा रही थी। धावायंधी यथाशीघ्र इस भ्रष्टाचरणीय स्थिति को मिटा देना चाहते थे। वे यह अन्वी तरह से जानते थे कि जब तक यह स्थिति मिट नहीं जाती; तब तक भान्दोलन गति नहीं पकड़ सकता।

वे इस विषय में दूसरों के सुभाव लेने में भी उदार रहे हैं। जयपुर में डॉ० राजेन्द्रप्रसाद धावायंधी के सम्पर्क में आये। वे उन दिनों भारतीय विधान-परिषद् के अध्यक्ष थे। धावायंधी ने उनके सामने धरुवत-भान्दोलन की रूपरेखा और कार्ययोजना रखा तो उन्होंने बड़ा क्रि देय को ऐसे भान्दोलन की इस समय बहुत आवश्यकता है। इसका प्रचार तीव्र गति से होना चाहिए।

धावायंधी ने तब निम्नोक्त भाव से अपनी समझाए रखते हुए कहा था कि हम भी यही चाहते हैं, परन्तु इसमें बाधा यह है कि लोग अन्वी तक इसको साम्प्रदायिक दृष्टि से देखते हैं। इससे प्रचार होने में बहुत बाधाएँ आती हैं।

डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने कहा कि भान्दोलन यदि साम्प्रदायिक भाव से कार्य करता रहेगा तो ज्यों-ज्यों लोग सम्पर्क में आयेंगे; त्यों-त्यों यह दृष्टिकोण अपने आप मिट जायेगा। बाधा भी यही हुई। धावाज मात्र सभी

व्यक्ति यह जानने लगे है कि अणुवत्-आन्दोलन का मार्ग सम्प्रदाय-भाव में प्रभावित नहीं है। राष्ट्रपति बनने के बाद डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने आन्दोलन की इस गहनता को महत्त्वपूर्ण मानते हुए किया था—“मुझे सबसे अधिक प्रगल्भता तो इस बात में है कि देश में इस आन्दोलन में सार्वजनिक रूप से किया है। मैं समझता हूँ कि अणुवत्-आन्दोलन में वे भावनाएँ नहीं रह गई हैं कि यह कोई साम्प्रदायिक आन्दोलन है। इस आन्दोलन का एक सार्वजनिक रूप ही उसके गुणहरे भविष्य का सूचक है।”

इतना होने पर भी अणुवत् कुछ व्यक्ति आन्दोलन को किसी पक्ष या विपक्ष का मानने की भूल कर जाते हैं। डॉ० राममनोहर लोहिया तथा एन० सी० कटारिया आदि कुछ व्यक्तियों ने ऐसा अनुभव किया कि आचार्यश्री द्वारा कांग्रेस की नींव गढ़ी की जा रही है। इस प्रकार के कई आक्षेप सम्मुख आये। आचार्यश्री का इस विषय में यही स्पष्टीकरण रहा कि आन्दोलन किसी भी राजनैतिक दल से सम्बद्ध नहीं है; पर साथ ही यह भी उतना ही सत्य है कि वह किसी भी दल से सम्बद्ध रहना भी नहीं चाहता। मानव-मात्र के लिये किये जाने वाले आन्दोलन को न किसी पक्ष विशेष से बंधना ही चाहिए और न किसी पक्ष-विरोध को उपेक्षित ही करना चाहिए। दो विरोधी पक्षों में भी उनके समन्वय की खोज करना आवश्यक होता है। इसी धारणा पर चलते रहने के कारण आज अणुवत्-आन्दोलन को सभी दलों का स्नेह प्राप्त है। वह भी अपनी आवाज सभी दलों तक पहुँचाना चाहता है। समन्वय के क्षेत्र में दल, जाति, धर्म आदि का भेद स्वयं ही अभेद में परिणत हो जाता है। आन्दोलन का कार्य किसी की दुर्बलता को समर्थन देना नहीं है; वह तो हर एक को सबल बनाता चाहता है।

आन्दोलन का मुख्य दल जनता है। उसी के आधार पर इसकी प्रगति निर्भर है। जो सभी दलों तथा सरकारों का ध्यान इस ओर

आकृष्ट हुआ है। सबकी शुभकामनाएँ तथा सहानुभूति उसने चाही है और वे उसे हर क्षेत्र से पर्याप्त मात्रा में मिलती रही है। जन-मानस की सहानुभूति ही उसकी भावाज को गाँवों से लेकर शहरों तक तथा किसान से लेकर राष्ट्रपति तक पहुँचाने में सहायक हुई है। भ्रान्दोलन ने न कभी राज्याश्रय प्राप्त करने की कामना की है और न उसे इसकी आवश्यकता ही है।

राज्य सभा में

भारत की राज्य-सभा में सन् ५७ में जब अणुव्रत-भ्रान्दोलन विप-यक प्रश्नोत्तर चले थे; तब उसका उत्तर देते हुए गृहमन्त्रालय के मन्त्री श्री बी० एन० दातार ने कहा था—“इस भ्रान्दोलन को राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री नेहरू की शुभ कामना प्राप्त है।” भ्रान्दोलन के मन्तर्गत चल रहे भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा था—“यह कार्य सिर्फ भाषणों तक ही सीमित नहीं रहेगा, अपितु साधु-जन घर-घर जाकर स्वतन्त्र रूप से उच्चाधिकारियों व कर्मचारियों को भ्रष्टाचार से बचने की प्रेरणा देंगे।” यह कथन सरकार की ओर से उसके संचालकों की शुभकामना का सूचक ही है। भ्रान्दोलन के कार्य-कर्ता आर्थिक सहयोग के लिए सरकार की ओर कभी नहीं भुके हैं। यही भ्रान्दोलन की शक्ति है और इसी के आधार पर वह सबका मुक्त सहयोग पा सका है।

विधान परिषद् में

इसी प्रकार सन् ५६ की फरवरी में उत्तर-प्रदेश की विधान परिषद् में विधायक श्री मुगनचन्द्र द्वारा एक प्रस्ताव रखा गया; जिस पर अन्य सत्ताईस विधायकों के भी हस्ताक्षर थे। उनमें कहा गया था—“यह सदन निश्चय करता है कि उत्तर प्रदेशीय सरकार देश में आचार्यश्री

तुलसी द्वारा चलाये गये आन्दोलन में यथोचित सहयोग तथा सहायता दे^१।”

इस प्रस्ताव से कुछ विधायकों को अवश्य ऐसा सन्देह हुआ था कि अणुव्रत-आन्दोलन के लिए आर्थिक सहायता मांगी जा रही है। किन्तु बहस के अवसर पर जब यह प्रदन उठा; तब अनेक विधायकों ने उनका समुचित खण्डन कर दिया। चर्चा काफी लम्बी चली थी; पर यहाँ कुछ व्यक्तियों के ही कथनों को उद्धृत किया जा रहा है। विधायक श्री ललिताप्रसाद सोनकर ने विषय को स्पष्ट करते हुए कहा—“यह प्रस्ताव सरकार से धन की मांग नहीं करता है और न किसी अन्य बन्धु की मांग करता है, लेकिन यह प्रस्ताव सरकार से यही चाहता है कि उसके शासन में रहने वाले लोगों की नैतिक और भ्रष्टात्म-सम्बन्धी या चरित्र-सम्बन्धी बातों में सुधार हो^२।”

विधायक श्री शिवनारायण ने कहा—“सरकार से सहयोग का मतलब यह है कि सरकार की सहायता प्राप्त हो। आज हर एक आदमी सहयोग का मारा लगा रहा है। सहयोग का मतलब है कि नीचे से सेक्टर ऊपर तक सभी इस काम में जुट जायें। . . . पैसे की कमी नहीं। मान्यवर ! पैसा माँगना कौन है^३ ?”

शामाजिक सुरक्षा तथा समाज-कल्याण राज्य-मन्त्री श्री लक्ष्मीराम शाचार्य ने कहा—“जहाँ तक सहायता का सम्बन्ध है और सहयोग तथा सहायता के शब्द प्रयोग किये गए हैं; शायद उसके माने यह है कि सरकार यह कह दे कि अणुव्रत-आन्दोलन एक ठीक आन्दोलन है। . . . लेकिन यह सहायता रुपये-पैसे की नहीं है; मैं ऐसा समझता हूँ। जहाँ तक इन चीजों का सम्बन्ध है, श्रीमन् मुझे सरकार की तरफ से यह करने में

१. जैन भारती, १२ नवम्बर, १९५६

२. जैन भारती, २० दिसम्बर, १९५६

३. जैन भारती, २० दिसम्बर, १९५६

सकोच नहीं है कि अणुव्रत-अन्दोलन को सरकार गलत नहीं समझती है और ऐसा भी ख्याल करती है कि अणुव्रत-अन्दोलन कोई रिट्रोग्रेडिव स्टेप नहीं है और न कोई प्रतिक्रियावादी शक्तियों की जजीर है। यह धर्म की स्थापना का नया तरीका है।”

उपरोक्त चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि अणुव्रत-अन्दोलन के समर्थकों ने जो सहयोग चाहा, वह आर्थिक न होकर वैचारिक तथा चारित्रिक है। इसी सहयोग के आधार पर अन्दोलन की आवाज व्यापक प्रसार पा सकती है। ऐसे अन्दोलनों में वैचारिक तथा आचारिक सहयोग से बढ़कर अन्य कोई सहयोग नहीं हो सकता। आर्थिक प्रधानता तो ऐसे अन्दोलनों को तप्ट करने वाली ही हो सकती है। अन्दोलन की आवाज को आगे बढ़ाने में सरकार से लेकर किसान तक का सहयोग इसलिए उन्मुक्त है कि वह आर्थिक या राजनैतिक सहानुभूति की अपेक्षा को कभी मुख्यता प्रदान नहीं करता।

जन-जन में

इस आवाज को जन-जन तक पहुँचाने के लिए आचार्यश्री ने इन बारह वर्षों में अनेक लम्बी यात्राएँ की और भारत के अनेक प्रान्तों में पहुँचे। लाखों व्यक्तियों से साक्षात्कार हुआ। शहरों और गाँवों के व्यक्तियों से अन्दोलन-विषयक चर्चा करने में ही उनका बहुत-सा समय खपता रहा है। पैदल चलना, मार्गस्थ गाँवों में थोड़ा-थोड़ा ठहरकर जनता को उद्बोध देना और फिर आगे चल पठना। यह एक ऐसी ढका देने वाली प्रक्रिया है कि दुःख निश्चय के बिना लगातार ऐसा सम्भव नहीं हो सकता। अपनी दाढ़ को शिक्षितों में किस तरह रखना चाहिए और अशिक्षितों में किस तरह रखना चाहिए, इसे वे बहुत अच्छी तरह जानते हैं। वे जितना विद्वानों को प्रभावित करते हैं; उतना ही अशिक्षित ग्रामीणों को भी प्रभावित कर लेते हैं।

घनेकों का श्रम

घाचापंथी के सिद्धान्त में भी इस कार्य में बहुत परिश्रम किया है। घनेक क्षेत्रों में उनके श्रम ने ही घान्दोवन के मूच को सुदृढ़ किया है। दिल्ली जैसे व्यस्त तथा राजनैतिक हलचलों से भरे शहरों में घान्दोवन की आवाज को घर-घर में पहुँचाने का काम, यद्यपि बहुत कठिन है; फिर भी अणुग्रह विभाग के परामर्शक मुनिश्री नगराजजी के निर्देश में रहते हुए मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने इस दुष्माध्यम कार्य को महत्त्व बना दिया। मुनिश्री नगराजजी की सूझ-बूझ तथा विद्वत्ता और मुनि महेन्द्रकुमारजी की श्रमशीलता का योग घान्दोवन के लिए बड़ा ही दुष्कारणी हुआ है। दिल्ली में रहने का अवसर मुझे भी घनेक बार मिला है। उस समय मेरे सहयोगी मुनि मोहनलालजी 'शादू'स' ने भी वहाँ इस कार्य के लिए अपने शरीर से ऊपर होकर परिश्रम किया है। वहाँ साहित्यकारों और पत्रकारों में उन्होंने जो विशिष्ट सम्पर्क स्थापित किया; वह घान्दोवन के लिए अतिशय गुणकारी सिद्ध हुआ। मेरा विश्वास है कि घान्दोवन की आवाज का भारत की राजधानी ने जैसा स्वागत किया है वह प्रथम ही है। अन्य विभिन्न क्षेत्रों में मुनि गणेशमतजी, मुनि जसकृष्णजी, मुनि छत्रमलजी, मुनि मीठालालजी, मुनि धनराजजी, मुनि मगनमलजी, मुनि राकेशजी आदि साधुओं तथा कस्तूरजी आदि साध्वियों का परिश्रम भी इस दिशा में उल्लेखनीय रहा है।

नये उन्मेष

बीज जब तक धरती में उप्त नहीं किया जाता; तब तक वह अपनी सुषुप्त-अवस्था में रहता है, किन्तु जब उसे अनुकूल परिस्थितियों में उप्त कर दिया जाता है; तो वह अकुरित होकर नये-नये उन्मेष करता हुआ फल तक विकसित हो जाता है। विचारों का भी कुछ ऐसा ही क्रम होता है; वे या तो सुषुप्त रहते हैं या फिर जागृत होकर नये-नये उन्मेष प्राप्त करते हुए फल-निष्पत्तिकी ओर अग्रसर होते हैं। अणुग्रह-घान्दो-

तन का प्रारम्भ हुआ तब साधारण आचार-संहिता के रूप में उसका बीज विचार-क्षेत्र से निकलकर कार्य-क्षेत्र में उप्त हुआ। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया; त्यों-त्यों उसमें अनेक नये-नये उन्मेष होते गये।

हर उत्थान अनेक उत्थानों को साथ लेकर आता है और हर पतन अनेक पतनों को। भारतीय जीवन में जब पुराकाल में आचरणों के प्रति सावधानी हुई; तब उसका विकास यहाँ तक हुआ कि माल से भरी दूकानों में भी ताला लगाने की आवश्यकता नहीं रही। लिखी हुई बात का तो कहना ही क्या, किन्तु नहीं हुई या यो ही सहज भाव से मुँह से निकली बात को निभाने के लिए प्राणोत्सर्ग तक भी कोई बड़ी बात नहीं रही; परन्तु जब उसी भारत में दूसरा दौर प्रारम्भ हुआ तो नैतिकता या सदाचार से जैसे विश्वास ही उठ गया। जब में पड़ी चीजें भी गायब हीने लगी। लिखी हुई बात भी विश्वासनीय नहीं रही। परमार्थ की वृत्ति में अग्रणी भारतीय आकण्ठ स्वार्थ में निमग्न हो गये। साहित्य द्वारा

ऐसी स्थिति में आचार्यश्री ने पुनः आचरण-परिशीलन की बात प्रारम्भ की तो उसके साथ अनेक प्रकार के परिशीलनों की ओर सहज ही दृष्टि जाने लगी। विचार-क्रान्ति को परिपुष्ट करने के लिए अणुव्रत-साहित्य का सिखसिला प्रारम्भ हुआ। यह आन्दोलन का प्रथम नवोन्मेष था। जो बातें शत-शत बार के कथन से हृदयगम नहीं हो पाती; वे साहित्य के द्वारा सहज ही हृदयगम हो जाती हैं। अणुव्रत-साहित्य ने जीवन-परिशीलन की जो प्रेरणाएँ दी, वे अन्याया मुलम नहीं हो सकती थी।

गोष्ठियाँ आदि

विचार-प्रसार के लिए समय-समय पर विचार-परिशीलन, गोष्ठियों, प्रवचनों तथा सार्वजनिक भाषणों का क्रम प्रचलित किया गया। यह भी आन्दोलन की प्रवृत्तियों में एक नवोन्मेष ही था।

त्रिविध अभियान

कार्य-शेख में भी त्रिविध उन्मेष हुई। दशक-विरोधी अभियान, छात्राई-आन्दोलन, मध्य-विरोधी तथा शिक्षण-विरोधी कार्यक्रम, ये सब छात्रोद्योग के कार्य-शेख को घोर अक्षिप्त त्रिविध करने में सहायक हुए। यही कम कुछ विकसित होकर वर्गीय विद्यार्थी के आधार पर विचार-प्रकार का माध्यम बना।

विद्यार्थी-परिषद्

विद्यार्थी की परिचरता को सुरक्षित रखने के लिए विद्यार्थियों को विशेष-रूप में उचित गात्र समझा गया। आन्दोलन ने उन पर विशेष ध्यान दिया। अध्यापकों को विद्यार्थियों के द्वारा बहुत सख्त विद्यार्थी-परिषदों की स्थापना हुई। दिम्नी में यह कार्य विशेष रूप से सगठित हुआ। सगठन गणम शायर मेहनती स्त्रियों में सगठन विद्यार्थी परिषद् स्थापित हुई। उन गणको एक मूत्र में अक्षिप्त करने के लिए प्रत्येक स्कूल के प्रतिनिधियों के आधार पर केन्द्रीय सगठन-विद्यार्थी परिषद् बनी। इस परिषद् ने दिम्नी में अनेक बार दशक-विरोधी कार्य प्रम सम्पन्न किये। भाषण-प्रतियोगिता, वाद-विवाद-प्रतियोगिता आदि आयोजनों द्वारा छात्रों की सुरक्षा को जागृत करने का प्रयत्न किया।

केन्द्रीय सगठन-समिति

केन्द्रीय सगठन-समिति की स्थापना भी आन्दोलन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान रखती है। उसकी स्थापना आन्दोलन के कार्यों को व्यवस्थित गति देने के लिए हुई थी। साहित्य-प्रकाशन तथा 'सगठन' नामक पत्र का प्रकाशन भी समिति ने किया। सगठन-अधिवेशन के रूप में प्रतिवर्ष विचारों का आदान-प्रदान तथा एकसूत्रता का वातावरण बनाये रखने के लिए वह सदा प्रयत्न करती रही है।

स्थानीय समितियाँ

भ्रान्दोलन के प्रसारार्थं आचार्यश्री तथा मुनिजनो का बिहार-क्षेत्र ज्यो-ज्यो विरुसित हुआ; त्यो-त्योँ स्थानीय अणुव्रत-समितियों की भी काफी सख्या में स्थापना हुई। उन्होंने अपने स्थानीय आधार पर बहुत-कुछ काम किया है। उनमें कुछ का स्थायित्व तो काफी प्रशंसनीय रहा है; परन्तु कुछ बहुत ही स्वल्पकालिक निकली।

कमजोर पक्ष

अणुव्रत-भ्रान्दोलन का यह एक बहुत कमजोर पक्ष भी रहा है कि आचार्यश्री तथा मुनिजन कार्य को जहाँ आगे बढ़ाते रहे हैं; वहाँ पीछे से उसको सार-सँभाल बहुत ही कम हो सकी है। इस शिथिलता के कारण बिहार तथा उत्तर-प्रदेश के अनेक स्थानों में स्थापित अणुव्रत-समितियों से आज कोई विशेष सम्पर्क नहीं रह पाया है। यदि केन्द्रीय समिति इस कार्य को व्यवस्थित रूप दे सकती तो भ्रान्दोलन की प्रगति को अधिक स्थायित्व मिलता और तब 'परिश्रम अधिक और फल कम' की बात कहने का किसी को अवसर नहीं मिलता।

सामूहिक सुधार

अणुव्रत-भ्रान्दोलन व्यक्ति-सुधार की दृष्टि से कार्य करता रहा है; किन्तु वह सामूहिक सुधार में भी दिलचस्पी रखता है। आचार्यश्री ने एक बार भ्रान्दोलन का प्रगला कदम परिवार-सुधार को बतलाते हुए कहा था—“यद्यपि हमें व्यक्ति से समष्टि की ओर अग्रसर होना है। परिवार-सुधार सामूहिक सुधार की दिशा में ही एक कदम है। आचार्यश्री उस घोषणा के पश्चात् क्रमशः उस ओर भ्रान्दोलन को प्रगति देते रहे हैं।

उन्हीं दिनों में (मुनि बुद्धमल्ल) दिल्ली में था। वहाँ राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद से मिलने के लिए १८ जुलाई १९५६ का दिन निश्चित

हुआ था। यथासमय में उनसे मिला। बानचीत के मिलसिले में उन्होंने कहा—“अब समय आ गया है जब कि अणुव्रत-आन्दोलन को सामूहिक सुधार की दिशा में काम करना चाहिए।”

मैंने तब आचार्यश्री द्वारा घोषित सामूहिक सुधार की योजना उन के सामने रखी और कहा कि दो चिन्ताओं के मन में एक ही प्रकार के विचार कार्य कर रहे हैं, यह आन्दोलन के लिए बहुत शुभ है।

राष्ट्रपति ने उस योजना में बड़ी दिलचस्पी ली और अपने अनेक सुभाव भी दिये।

नया मोड़

परिवार-सुधार की उस योजना को विकसित कर आचार्यश्री ने कुछ समय पश्चात् नये मोड़ के रूप में समाज के सम्मुख कुछ बातें रखीं। उनमें प्राचीन रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों के विरुद्ध जन-मानस को तैयार करने का उपक्रम किया गया। समाज के ऐसे बहुत से कार्य हैं; जो कि चालू परम्परा में किये जाते हैं, परन्तु आज उनका मूल्य बदल गया है। समाज के धनी-मानी लोग नये मूल्यों के अनुसार नये कार्य तो प्रारम्भ कर देते हैं, किन्तु प्राचीन कार्यों को सहमा छोड़ नहीं पाते। मध्यम वर्ग के लोग उन्हें छोड़ना चाहते हुए भी इज्जत का प्रश्न बना लेते हैं और छोड़ने के बजाय उनमें चिमट कर रह जाते हैं। उनकी गति साँघड़-गून्धर जैसी बन जाती है।

आचार्यश्री एक लम्बे समय से सामाजिक अभिशापों की बातें सुनते रहे हैं। उनके विषय में कुछ कहते भी रहे हैं। समाज में जन्म, विवाह और मृत्यु के समय किये जाने वाले संस्कार इतने विचित्र और इतने अधिक हैं कि उन सबको यथाविधि करने वाला तो शायद मिनना ही बटिन है, परन्तु प्रायः हर व्यक्ति कुछ पुराने संस्कार छोड़ देता है तो कुछ नये धरना लेता है; यों वह बराबर अपना ही भार बोधे चलता है। दक्षिण के राजा रामदेव के मंत्री आचार्य हेमाद्रि ने अपने ‘शुद्ध

चिन्तामणि' ग्रन्थ में तथा उसी समय के काशी के पण्डित नीलकण्ठ, कमलाकर भट्ट आदि ने अपने ग्रन्थों में हिन्दुओं के क्रिया-काण्डों का विशद विवेचन किया है। उनके अनुसार प्रत्येक नैष्ठिक हिन्दू को प्रति-वर्ष दो हजार के लगभग क्रियानुष्ठान करने आवश्यक होते हैं, अर्थात् प्रतिदिन ५-६ अनुष्ठान। आजकल उन अनुष्ठानों में से बहुत से तो केवल पुस्तकों में ही रह गये हैं; फिर भी जो अवशिष्ट हैं तथा नये-नये प्रचलित किये जा रहे हैं; वे भी इतने हैं कि साधारण व्यक्ति उनके भार में दबा जा रहा है। आचार्यश्री अनुभव कर रहे हैं कि अब तक सामाजिक जीवन में सादगी को महत्त्व नहीं दिया जायेगा; तब तक अणुव्रत-भावना के प्रसारण धर्म की अनुकूलता नहीं हो सकेगी। इसलिए वे नये भौंड पर इतना जोर देते हैं और चाहते हैं कि हर गाँव में सामाजिक स्तर पर कुछ नियम बनाये जायें और उनमें सादगी को प्रमुखता दी जाये।

अनेक स्थानों पर इस भावना के अनुरूप नियम बने हैं। जहाँ अभी तक नहीं बने हैं; वहाँ के लिए प्रयास चालू है। प्रायः हर गाँव में ऐसे व्यक्ति मिल जाते हैं जो सादगी को पसन्द करते हैं; परन्तु इस कार्य में बाधाएँ भी बहुत हैं। पुराने विश्वासों के स्थान पर नये विश्वासों को जमाना प्रायः सहज नहीं होता। यदि अणुव्रत-आन्दोलन यह कर देता है तो वह अपने लक्ष्य में से एक बहुत कर लेता है।

हुआ था। यथासमय मैं उनसे मिला। बातचीत के सिलसिले में उन्होंने कहा—“भव समय आ गया है जब कि अणुव्रत-आन्दोलन को सामूहिक सुधार की दिशा में काम करना चाहिए।”

मैंने तब आचार्यश्री द्वारा घोषित सामूहिक सुधार की योजना उन के सामने रखी और कहा कि दो चिन्तकों के मन में एक ही प्रकार के विचार कार्य कर रहे हैं, यह आन्दोलन के लिए बहुत शुभ है।

राष्ट्रपति ने उस योजना में बड़ी दिलचस्पी ली और अपने अनेक सुझाव भी दिये।

नया मोड़

परिवार-सुधार की उस योजना को विकसित कर आचार्यश्री ने कुछ समय पश्चात् नये मोड़ के रूप में समाज के सम्मुख कुछ बातें रखीं। अपने प्राचीन रूढ़ियों तथा अन्धविश्वासों के विरुद्ध जन-मानस को तैयार करने का उपक्रम किया गया। समाज के ऐसे बहुत से कार्य हैं; जो कि चानू परम्परा से किये जाते हैं, परन्तु आज उनका मूल्य बदल गया है। समाज के धनी-भानी लोग नये मूल्यों के अनुसार नये कार्य तो प्रारम्भ कर देते हैं, चिन्तु प्राचीन कार्यों को सहमा छोड़ नहीं पाते। मध्यम वर्ग के लोग उन्हें छोड़ना चाहते हुए भी दृज्जत का प्रदत्त बना लेते हैं और छोड़ने के बजाय उनसे चिमट कर रह जाते हैं। उनकी गति साँ-छट्टन्दर जैसी बन जाती है।

आचार्यश्री एक सम्बन्धे समय से सामाजिक अभियानों की बातें सुनते रहे हैं। उनके विषय में कुछ कहने भी रहे हैं। समाज में जन्म, विवाह और मृत्यु के समय किये जाने वाले संस्कार इतने विविध और इतने अधिक हैं कि उन सबको यथाविधि करने वाला तो शायद मिलना ही कठिन है; परन्तु शायद हर व्यक्ति कुछ पुराने संस्कार छोड़ देता है जो कुछ नये धरना लेता है; यों वह बराबर उनका ही भार ढोये बनता है। दक्षिण के राजा रामदेव के मंत्री आचार्य हेमाद्रि ने अपने 'कृत्यों'

चिन्तामणि' ग्रन्थ में तथा उसी समय के नासी के पण्डित भीलकण्ठ, कामलाकर भट्ट आदि ने अपने ग्रन्थों में हिन्दुओं के क्रिया-काण्डों का विशद विवेचन किया है। उनके अनुसार प्रत्येक मंडिष्क हिन्दू को प्रति-वर्ष दो हजार के लगभग क्रियानुष्ठान करने आवश्यक होते हैं, अर्थात् प्रतिदिन ५-६ अनुष्ठान। आत्रकाल उन अनुष्ठानों में से बचन से तो केवल पुस्तकों में ही रह गये हैं; फिर भी जो अवशिष्ट है तथा नये-नये प्रचलित क्रिये जा रहे हैं; वे भी इतने हैं कि साधारण व्यक्ति उनके भार से दबा जा रहा है। आचार्यश्री अनुभव कर रहे हैं कि जब तक सामाजिक जीवन में सादगी को महत्त्व नहीं दिया जायेगा, तब तक अणुव्रत-भावना के प्रसारार्थं क्षेत्र की अनुकूलता नहीं हो सकेगी। इसलिए वे नये मोड़ पर इतना जोर देते हैं और चाहते हैं कि हर गाँव में सामाजिक स्तर पर कुछ नियम बनाये जायें और उनमें सादगी को प्रमुखता दी जाये।

अनेक स्थानों पर इस भावना के अनुरूप नियम बने हैं। जहाँ अभी तक नहीं बने हैं, वहाँ के लिए प्रयास चालू है। प्रायः हर गाँव में ऐसे व्यक्ति मिल जाते हैं जो सादगी को पसन्द करते हैं; परन्तु इन कार्य में बाधाएँ भी बहुत हैं। पुराने विश्वासों के स्थान पर नये विश्वासों की जगह प्रायः सहज नहीं होता। यदि अणुव्रत-प्रान्दोलन यह कर देता है तो वह अपने लक्ष्य में से एक बहुत बड़े कार्य की पूर्ति कर लेता है।

प्रकाश-स्तम्भ

आना ही न पड़ता

अणुव्रत-प्रान्दोलन के माध्यम से जो कार्य हुआ है, वह परिणाम में भले ही बहुत कम हो; किन्तु मात्रा में काफी महत्वपूर्ण हुआ है। हृदय-परिवर्तन के ऐसे अनेक उदाहरण सामने आये हैं जो कि किरले ही मिल सकते हैं। एक बार दिल्ली सेंट्रल जेल में आचार्यश्री का भाषण हुआ। उसके कुछ ही दिन बाद एक सिपाही एक बन्दी को लिए हुए जा रहा था। एक अणुव्रती भाई भी उस तरफ ही जा रहा था। मार्ग में उस

मैंट घा गया । एक अणुव्रती होने के नाते उमने उसे नदी में बहा दिया । यदि वह चाहता तो जैसे आया था; वैसे श्वा भी मरना था । पर हज़ारों रुपयों का नुकसान उठाकर भी उमने ऐसा नहीं किया ।

यह मुझे मंजूर नहीं

एक अणुव्रती ने दोसौ रुपये का अधिक इन्कमटैक्स लगा देने पर मुकदमा लडा । सोगो ने कहा—“मुकदमा लडने पर तो दोसौ की जगह कही दो हजार राबं होने की सम्भावना होती है; तब फिर ये दोसौ ही क्यों नहीं दे देते ?” उमने कहा—“दोसौ रुपये भी दूँ और चोर भी बनूँ, यह मुझे मंजूर नहीं ।”

रिश्वत या जेल

इनके अनिश्चित ऐंमे भी अनेक उदाहरण सामने आये हैं जिनसे अनैतिकता का सामना करने की भावना को बढ़ाने में आन्दोलन की सतत जागरूकता का परिचय मिलता है । उदाहरण-स्वरूप उड़ीसा प्रांतीय कांग्रेस कमेटी तथा ग्राम-पंचायत के सदस्य एक अणुव्रती की घटना दी जा सकती है । एक बार उसके गाँव में सवर्ण तथा अस्तवर्ण हिन्दुओं का परस्पर भगडा हो गया । उमने एक ब्राह्मण-दम्पती की हत्या कर दी गई । पुलिस अफसर ने पंचायत वालो द्वारा जोर डालने पर भी न जाने क्यों; उस मामले पर विशेष ध्यान नहीं दिया । उन्हीं दिनों सम्बलपुर में नेहरूजी आने वाले थे । उस अवसर पर टिटलागड़ सब-डिवीजन के प्रतिनिधि के रूप में उपर्युक्त अणुव्रती भाई वहाँ कांग्रेस-कमेटी में भाग लेने वाले थे । सयोगवस उसने पुलिस अफसर से कह दिया कि मैं यहाँ की सारी घटना सम्बलपुर-कांग्रेस-कमेटी में कहूँगा । उस; फिर क्या था, पुलिस ने भूटा गवाह तैयार करके उसे फासा और ॥ में गिरफ्तार कर लिया । जब वह हिरासत में था; पुलिस वालो अपने टग से उसे यह जतला दिया कि कुछ देकर वह इस भ्रष्ट से

बच सकता है। किन्तु उसने रिश्तत देकर छूटने से साफ इन्कार कर दिया। भास्विर मुकदमा खला और सोलह महीने के बाद वह निर्दोष होकर छूटा। उसका कहना है कि राज्य की ग्वाय-व्यवस्था तथा पुलिस पर भात्रोश के भाव तो मन में अवश्य उभरे, पर इस बात का सन्तोष है कि कृष्ट सहकर भी मैंने रिश्तत देने की भ्रष्ट पद्धति का अवलम्बन नहीं लिया।

ब्लैक स्वीकार नहीं

एक व्यापारी को अपने साथी दूसरे व्यापारी के साथ प्लास्टिक चूर्ण का एक बड़ा कोटा मिला हुआ था। उस समय की ब्लैक-दर से उसमें लगभग तीन लाख का मुनाफा होता था; किन्तु उस भाई को अणुव्रती होने के नाते ब्लैक करना स्वीकार नहीं था, भल. उसे वह व्यापार ही छोड़ देना पड़ा।

गुड की चाय

भासाम के एक व्यवसायी अणुव्रती होने के बाद कोई भी वस्तु ब्लैक से नहीं खरीदते थे। ब्लैक से खरीदे बिना उस समय चीनी प्राप्त कर लेना कठिन ही नहीं; किन्तु असम्भव प्रायः ही था। वे भाई अपने नियम में पक्के रहे और गुड की चाय पीने लगे। एक बार उनके किसी सम्बन्धी के यहाँ कुछ भ्रतिथि घाये। उन भ्रतिथियों में एक टैक्सटाइन मुपरिप्टेण्डेन्ट भी थे। चायपार्टी में वह अणुव्रती भाई भी सम्मिलित हुआ। किन्तु घीरो के लिए जहाँ चीनी की चाय घाई, वहाँ उसके लिए गुड की चाय भंगाई गई। भ्रतिथि उनके उस विभिन्न व्यवहार से बड़े षडित हुए; किन्तु जब उन्हें कारण से अवगत किया गया तो वे बहुत प्रभावित हुए। समागत अफसर ने तभी में ऐसा प्रवचन कर दिया कि उन्हें प्रति-अप्लाह दाई मेर चीनी नियन्त्रित भावों में मिलनी रहे।

साथ की शक्ति

एक मन्साई-रूकं को उसके अफसर ने बुलाकर कहा—“स्टोर में

सीमेट कम है और माँग अधिक है। जान-पहचान के कुछ व्यक्तियों को सीमेण्ट दिलाना है; अतः आप अपनी रिपोर्ट में अन्य व्यक्तियों की दरखास्त पर स्टॉक में सीमेण्ट न होना लिख देना।”

बलकं ने कहा—“श्रीमन् ! माफ़ करें। मैं तो गलत रिपोर्ट नहीं दे सकता। आपको ऐसा ही करना है तो मुझसे रिपोर्ट न माँगें। मैंने ही दिलाना चाहे; उनकी दरखास्त पर आर्डर लिख दें; मैं परमिट बना दूंगा।

उस अफसर पर उस बात का इतना प्रभाव पड़ा कि उसके पत्रवाले के उसके द्वारा पेश किये गए कागजों पर बिना किसी सहाय के हस्ताक्षर कर देने लगे। यहाँ तक कि कभी-कभी तो दूसरे विभागों के कागजात भी उसके पास भेजकर कह देने के कि इन पर आर्डर लिख देना; मैं हस्ताक्षर कर दूंगा। इन्हीं सब बातों को देखते हुए उस भाई का विश्वास है कि सत्य में काफी शक्ति होती है। पर उसकी परीक्षा में डटे रहना ही सबसे अधिक शक्ति है।

दुकानों की पगड़ी

हिन्दी में एक भाई ने नया मकान बनवाया। उसमें घाउ दुकानें किराये पर देने की थी। शहर में दुकानों की प्रायः कमी होती है, अतः लोग किराये के अनिश्चित पगड़ी के रूप में भी हजारों रुपये पहले दे कर तैयार रहते हैं। उस भाई की दुकानों के लिए भी पाँच-पाँच हजार रुपये की पगड़ी देने वाले कई व्यक्ति आये। इस प्रकार घनायास ही घाउ दुकानों का चाहीय हज़ार रुपया पगड़ी के रूप में मुग्न ही मिल रहा था। परन्तु घण्टी होने के जाने उसने वह पैसा स्वीकार नहीं किया और अपनी सभी दुकानें केवल उचित किराये पर ही दे दी।

एक धुमन

एक घण्टी की भाई की दुकान पर सेल्स-ईंग इन्वेन्टर आया। उसने कुछ बरतना करके आया; परन्तु जो बरतना वह चाहता था; वह नहीं

ही स्टेशन-मास्टर द्वारा खरीदा जा चुका था । पैसा और कपड़ा दूकान में था नहीं । दूकानदार ने कहा—“आप दूसरा चाहे जो कपड़ा खरीद लें; पर वह खरीदा हुआ कपड़ा मैं आपको कैसे दे सकता हूँ ?”

इन्स्पेक्टर कुछ गर्म हुआ और चला गया; परन्तु उसके मन में उस बात की चुभन हो गई । एक बार सेल्स-टैक्स ऑफीसर को उस दूकानदार ने हर वर्ष की तरह अपने बही-खाता दिखाये । वह उस पर फौसला निलने ही वाला था कि इतने में वह इन्स्पेक्टर वहाँ आ गया और बोला—“मैं इस फर्म की इन्वॉयरी कहूँगा ।” ऑफीसर ने कह दिया; कर लो । तब से उस दूकानदार का मामला सेल्स-टैक्स ऑफीसर से हटकर इन्स्पेक्टर के हाथ में आ गया ।

वह उसे धीरे दिन तय करने लगा । समय-प्रसमय बुला लेता और तरह-तरह के प्रश्न करता रहता । वह एक प्रकार से बैर लेने की कृति में काम कर रहा था । उसे फौजाने के लिए उसने उन सब तारीखों को गुप्त रूप से समूहीत कर रखा था; जिनमें कि विभिन्न स्थानों से उसकी दूकान पर माल आया था । उसके पास इनका भी पूरा-पूरा ध्यौरा था कि म्युनिसिपल बमेट्री का टरमिनल टैक्स बच दिया और बितना दिया । बहुत दिनों तक वह उसके बहीखाते भी देखता रहा । धागिर कही भी पकड़ वाली बात हाथ न लगी; तब वह स्वयं ही अपने कार्य के प्रति सज्जित हुआ । दूकानदार के प्रति उसका हृदय भी बदला । धागिर उसने अपनी इन्वॉयरी की समाप्ति इन शब्दों में लिख कर की—“मैंने फर्म के बही-खाते बड़ी सावधानी से देखे हैं । इनमें कही भी गोलमाल नहीं मिला ।”

इस प्रकार के धीरे भी बहुत से उदाहरण हैं; जो कि आन्दोलन के द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्य के प्रति मन में निष्ठा उत्पन्न करते

१. इस प्रकार के अन्य बहुत सारे प्रेरणाप्रद संस्मरण अनुभव विभाग के परामर्शक मुनिभी नगराजजी द्वारा 'प्रेरणादीप' नामक पुस्तक में सङ्कलित किये गये हैं ।

हैं और दूसरों को यह प्रेरणा भी देते हैं कि सकल्प करने पर हर कोई बंग बन सकता है। वस्तुतः शुभ सकल्प करना इतना कठिन नहीं होता; जितना कि बाद में प्रतिक्षण उस पर डटे रहना। किन्तु ऐसा किये बिना समाज में न आध्यात्मिकता पनप सकती है और न नैतिकता। उपर्युक्त उदाहरण हर एक व्यक्ति के लिए प्रकाश-स्तम्भ के समान हैं। कठिनाईयाँ पृथक्-पृथक् हो सकती हैं; परन्तु उन सबको हल करने का एकमात्र यही तरीका हो सकता है कि वह अपने-आपको इतना दृढ़ बनाये उस पर असत्य का नाग फन मार-मारकर भले ही मर जाये; पर उस उसके विषय का कोई प्रभाव न हो सके।



विहार-चर्या

प्रशस्त चर्या

‘विहार चर्या इतिषण पसत्या’ इस आगम-वाक्य में ऋषियों के लिए विहार-चर्या को ही प्रशस्त बनाया गया है। भारतवर्ष में प्रायः हर सन्ध्यासी के लिए यादावरता को अत्यन्त आवश्यक माना गया है। जीवन की गति-शीलता के साथ पैरों की गतिशीलता का अवश्य ही कोई अदृश्य सम्बन्ध रहा है। यहाँ के नीतिकारों ने देशाटन को चातुर्य का एक कारण माना है। उपनिषत्कारों ने ‘चरंवेति-चरंवेति’ सूत्र से केवल भावात्मक गति-शीलता को ही नहीं, अपितु देशाटन—यादावरता को भी विभिन्न उपलब्धियों का हेतु माना है।

जैन मुनियों के लिए तो यह चर्या मुनि जीवन के साथ ही सहज स्वीकृत होती है। आज जब कि वाहनों के विकास ने क्षेत्र की दूरी को सकुचिन कर दिया है, जल, स्थल और आकाश की अगम्यता धीरे-धीरे गम्यता में परिणत हो गई है, तब भी जैन मुनि उसी प्राचीन परिपाटीके अनुसार पाद-चार से ग्रामानुशाम विहरण करते हुए देखे जा सकते हैं।

सम्पर्क के लिए

विहार-चर्या जन-सम्पर्क की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। गाँवों और शहरों में हर प्रकार के व्यक्तियों तक पहुँचने के लिए एक मात्र सफल उपाय यही हो सकता है। तेज वाहनों पर चलने से वह सम्पर्क सम्भव नहीं हो सकता। मुनि-जीवन के लिए जिस साधारणीकरण की आवश्यक-

कता होती है, वह हम चर्चा के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। विनिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वीकृत यह आदर्श धारण-ध्यानमें जन-समूहों की अद्वितीय शक्तता मजबूत हुए है।

राजघाट पर आचार्यश्री मुनगी और विनोबाजी का निम्न हुआ। विनोबाजी ने कहा—“मैंने भी जैन मुनियों की तरह पंडित बनने का निश्चय किया है।” उनके इस कथन से मुझे लगा कि जन-समूहों के लिए विनोबाजी ने भी इसे सर्वोत्तम मापन माना है। हिन्दु दोनों की स्थितियों में अन्तर है। विनोबाजी की पदयात्रा उनका वन नहीं है; जब कि आचार्यश्री की पदयात्रा उनका वन है।

प्रचण्ड जिगमिषा

यों तो प्रत्येक जैन मुनि दीक्षा-ग्रहण के साथ ही आजीवन के लिए पदयात्री बन जाता है; परन्तु आचार्यश्री की पदयात्राएँ अपने साथ एक विशेष कार्यक्रम लिए हुए हैं। वे मात्र तक जितना घूम चुके हैं; उन्ने कहीं अधिक घूमना उनके लिए अवशिष्ट है। उनकी गति की स्वभाव यही बतलाती है कि अभी उनके लिए बहुत काम अवशिष्ट है, विविध गति से उसकी पूर्ति नहीं की जा सकती। वे लगभग सोलह-सत्रह हजार मील चल चुके हैं, परन्तु अब भी उनका चलने का उत्साह विनकुप गया बना हुआ है।

एक यात्रा समाप्त करते हैं, उससे पहले ही अन्य यात्राओं की भूमिका बाँध लेते हैं। गुजरात यात्रा के अवसर पर वे 'बाब' गये थे; परन्तु उससे बहुत पहले वहाँ जाने की स्वीकृति दे चुके थे। मेवाड़ में थली में आने से पूर्व ही वापिस मेवाड़ और उदयपुर पहुँचने की अन्तिम तिथि का निर्धारण उन्होंने कर दिया। दक्षिण-यात्रा का विचार उनके मन में एक अपूरे स्वप्न की तरह सदैव अपनी पूर्ति की माँग करता रहता है। वस्तुतः यात्रा में वे अपने-आप को अपेक्षाकृत अधिक तपस्वी और प्रसन्न अनुभव करते हैं। नवीनता से वे चिर-बन्धन करके आये हैं।

एक स्थिति में या एक क्षेत्र में ठहरना उनके मन ने कभी स्वीकार नहीं किया है। वे गति चाहते हैं; अपने लिए भी और दूसरों के लिए भी। एक प्रचण्ड जिगमिषा उन्हें अज्ञान रूप से सतत प्रेरित करती रहती है।

दैनिक गति

घाट-दम मील चलने को घब्र वे बहुत साधारण गिनते हैं। चौदह-पन्द्रह मील चलने पर उन्हें कहीं विहार करने का मनस्तोष मिल पाता है। घब्रयवता होने पर बीस-बाईस मील चल लेना भी उन्हें कोई अधिक कठिन कार्य नहीं लगता। वि० सं० २०१३ में सरदारसाहूर से दिल्ली पहुँचे तो प्रायः प्रतिदिन बीस मील के लगभग चले। कलकत्ता से धली में भाये तो प्रायः प्रतिदिन पन्द्रह-सोलह मील चले। बीच-बीच में; क्वचित् उससे अधिक भी चले। उन्हें मानो गति में थकान नहीं आती, स्थिति में घानी है। अपने भाचार्य-काल के प्रथम बारह वर्षों में वे बहुत कम घूमे। उस समय उनकी गतिविधि केवल धली (बीकानेर डिवीजन) तक ही सीमित रही। परन्तु घगने बारह वर्षों में वे इतने घूमे कि पूर्व-काल में कम घूमने की बाल अविश्वसनीय-सी बन गई।

शादघत यात्री

अणुशत-मान्दोलन की स्थापना और मुद्दर यात्राएँ प्रायः साध-भाष ही प्रारम्भ हुईं। राजस्थान, दिल्ली, पञ्जाब, उत्तरप्रदेश, विहार, बंगाल, मध्यभारत, गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रान्त उनके चरण-स्पर्श का लाभ प्राप्त कर चुके हैं। भारत के अधिसिद्ध प्रान्त उत्तुशतपूर्वक उनकी प्रतीक्षा में हैं। आगामी यात्राओं का उनका क्या कार्यक्रम है; यह तो वे ही जानें; परन्तु पिछली यात्राओं को देखने हुए यह कहा जा सकता है कि उनकी यात्राओं का कम अल्परूप से चानू रहेगा। जन-मानस को प्रेरित करने के लिए ऐसी यात्राएँ बहुत ही उपयोगी होती हैं।

उनकी यात्राओं को चार भागों में बाँटा जा सकता है—दिल्ली-

पञ्चाव-यात्रा, सुत्रराज-महाशब्द-मध्यभाष्य-यात्रा, उत्तरप्रदेश-विहार-बंगाल-यात्रा और राजस्थान-यात्रा । यद्यपि उनके इन भ्रमण के लिए 'यात्रा' शब्द उनना अनुकूल नहीं बैठता, क्योंकि यानी किसी एक निर्णय स्थान में चटना है और जब पुन घाने स्थान पर पहुँच जाता है, तब उमकी एक यात्रा समाप्त मानी जाती है । परन्तु शाचार्यश्री के लिए घपना कोई स्थान नहीं है । यों मभी स्थानों को वे घपना ही मानते हैं, परादा उनके लिए कोई नहीं है । तब फिर कहीं में दात्रा का प्रारम्भ हो और कहीं घग्न ? वे सादकत यात्री हैं और उनकी यात्रा भी सादकत है । वह उनके जीवन की एक अभिन्न चर्या है । इमीनिए ऐमी यात्रा को घागम 'विहार-चर्या' के नाम में पुकारते हैं । केवल जन-प्रचलित भाषा-प्रयोग की निकटता के लिए ही यहीं मने 'यात्रा' शब्द का प्रयोग कर लिया है ।

प्रथम यात्रा

चरत भिक्खवे

आज में लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व जब कि अध्यात्म-प्राण भारत-भूमि में हिंसा, जातीयता, कामुकता, शोषण और मशहू आदि की प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ रही थी, तब गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों को बुलाकर कहा था :

चरत भिक्खवे चारिकां, चरत भिक्खवे चारिकां

बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय

"हे भिक्षुओ ! बहुत जनो के हित और मुख के लिए तुम पाद-विहार करो ।" भिक्षुओ ने पूछा—“मदन्त ! मजात प्रदेश में जाकर हम लोगों से क्या कहे ?” बुद्ध ने कहा :

पाथी न हत्थो,

अदिम्म न दातव्वं,

कामेभु मुच्छा न चरितव्वा,
मृया न भासितव्वा,
मज्जं न पातव्व ।

“प्राणियों की हिंसा मत करो, चोरी मत करो, कामासक्त मत बनो, मृया मत बोलो और मय मत पीयो । उन्हें इस पचशील का सन्देश दो ।” अपने शास्त्रा की भांजा को शिरोधार्य कर भिक्षु चल पड़े । उस छोटी-सी घटना ने बहू विस्तार पाया कि एक दिन समस्त एशिया मूखण्ड में पचशील का घोष फैल गया ।

अगुव्रत-आन्दोलन का प्रारम्भ भी उसी प्रकार की स्थितियों में हुआ । स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ भारत में हिंसा, जातीयता, गरीबी और शोषण आदि का दुश्चक्र बहुत तेजी से घूमने लगा । लम्बी पराधीनता के कारण जनता का चरित्र-बल धूमना के आसपास ही पहुँच चुका था । देश को सर्वाधिक तात्कालिक आवश्यकता चरित्र-निर्माण की थी । उस समय आचार्यश्री ने अपने शिष्यों से कहा—“साधुओं १ स्व-पर-बल्याण के लिए बिहार करो और गाँवों तथा नगरों में पहुँचकर चरित्र-उत्थान का सन्देश दो ।” उन्होंने उन सबको पचशील के स्थान पर पच अगुव्रतों की व्यवस्थित रूप-रेखा दी । वे पाँच अगुव्रत ये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और और अपरिग्रह ।

उन्होंने कहा—“अहिंसा आदि की पूर्णता तक पहुँचना जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिए और उनको अगु रूप में प्रारम्भ कर अधिकाधिक जीवन-व्यवहार में उतारते जाना प्रतिदिन का काम होना चाहिए । अतः तुम ससार को अगु से पूर्ण की ओर बढ़ने का सन्देश दो ।” मुनि-जन अपने नियामक के निर्देश को घर-घर पहुँचाने में जुट गए । उत्तर में शिमला से लेकर दक्षिण में मद्रास तक तथा पूर्व में बंगाल से लेकर पश्चिम में बम्बई-महाराष्ट्र तक पद-यात्राओं का एक सिलसिला प्रारम्भ हो गया । अगुव्रतों के घोष से वायुमण्डल मुखरित हो उठा । जनता के मुप्त मानस में पुनः एक हलचल प्रारम्भ हुई ।

जयपुर में

आचार्यभी स्वयं भी इग उद्देश्य की पूर्ति के लिए आनी ऐतिहासिक पदयात्राओं के लिए आ गये । मरवापुर (राजस्थान) में अणुअणु-आन्दोलन का सूत्रागत कर के राजस्थान ने अणु पार्यों में बह मन्देज देने हुए यहाँ की राजधानी जयपुर में पहुँचे । यहाँ अणुअणु-आन्दोलन को प्राथमिक बन मिला । पत्र-पत्रिकाओं में उमड़ी चर्चा हुई । प्रारम्भ काय था, अतः विविध मन्देजों के आदय भी थिरे । प्रकाश-विरणु को सर्वथा अस्तित्वहीन कर देने का सामर्थ्य आदनों में नहीं होता । वे कुछ समय के लिए उमकी धूमिल या मन्द कर सकते हैं, परन्तु आगिर उन्हें हटना ही पडता है । विरोधों और अरगोषों के आदरूद आन्दोलन का प्रकाश फैला, जनता आकृष्ट हुई, चारों ओर से ऐसे कार्यक्रमों की आवरणता स्वीकार की जाने लगी । आचार्यभी का अपने कार्य की उपयोगिता पर और अधिक दृढ़ता से विश्वास करने का अवसर मिला ।

दिल्ली में

यहाँ से वे आगे बढ़े और अलवर, भरतपुर, आगरा व मथुरा जैसे देश के प्रसिद्ध नगरों तथा मार्ग के देहातों की पदयात्रा करते हुये भारत की राजधानी दिल्ली में पधारे । दिल्ली में तेरापय के आचार्यों का बह सर्व प्रथम पदार्पण था । यहाँ उन्होंने अपने प्रथम भाषण में ही यह घोषणा की—“मैं अपने साथ की अक्ति को राष्ट्र की नैतिक सेवा व नैतिक उत्थान के लिए अर्पित करने राजधानी में आया हूँ ।”

उस घोषणा को कुछ ने आश्चर्य की दृष्टि से व कुछ ने उपहास और उपेक्षा की दृष्टि से देखा । दिल्ली जैसे हलचल से भरे और आधुनिकता में पगे शहर के नागरिकों को उस समय यह विश्वास होना भी कठिन हो रहा था कि आधुनिक साधन-सामग्री से सर्वथा विहीन यह पैदल चलने वाला व्यक्ति विश्व-हित की भावना लेकर देश को कोई सन्देश दे सकेगा ? किन्तु धीरे-धीरे उनका वह भ्रम दूर हो गया । आचार्य-

श्री की यात्रा को वहाँ वह बल मिला; जिसकी कि सारे देश तथा विदेशों में प्रतिक्रिया हुई।

दूसरी बार

वहाँ से हरियाणा तथा पंजाब के विभिन्न स्थानों पर अपना सन्देश देते हुए आचार्यश्री अर्पणास करने के लिए पुनः दिल्ली पधारे। वह उनकी देश के चारित्रिक उत्थान के लिए की गई प्रथम यात्रा कही जा सकती है। उसमें उन्होंने जन-साधारण से लेकर राष्ट्र के कर्णधारों तक अणुव्रत-आन्दोलन की विचारधारा को पहुँचाया।

उसी यात्रा में उनका राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद, प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू तथा आचार्य विनोबा भावे आदि के साथ आन्दोलन तथा राष्ट्र की नैतिक और चारित्रिक स्थितियों के विषय में प्रथम विचार-विमर्श हुआ। आचार्यश्री की उस प्रथम यात्रा का महत्त्व यदि अति सक्षिप्त शब्दों में कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि उनकी उस यात्रा ने भारतीय जन-मानस को यह विश्वास करा दिया कि आध्यात्मिक दुर्मिक्षता के भवसर पर आचार्यश्री तुलसी अणुव्रत-आन्दोलन के रूप में एक जीवनदायी वरदान लेकर आये हैं।

तीसरी बार

उस यात्रा के लगभग पाँच वर्ष बाद आचार्यश्री तीसरी बार दिल्ली में फिर गये। प्रथम यात्रा की तुलना में उस समय बहुत बड़ा अन्तर आ गया था। पहले-पहल जहाँ आचार्यश्री तथा अणुव्रत-आन्दोलन को प्रचण्ड विरोध सहना पड़ा था, तरह-तरह की आशंकाओं का सामना करना पड़ा था, साम्प्रदायिक संकीर्णता, धार्मिक गुटबन्दी तथा पूँजीपतियों का राजनैतिक सृष्ट होने के आरोप भेलने पड़े थे; वहाँ तीसरी बार की यात्रा में उनका आशातीत स्वागत और कल्याणतीत समर्थन दिया गया। प्रथम बार ही आचार्यश्री की वाणी ने राजधानी के आध्यात्मिक व

राजधानी के अनेक विशिष्ट नेता तथा कार्यकर्ता आचार्यश्री के सम्मुख यह अनुरोध करते रहे थे कि वि०स० २०१३ का वर्षा-काल वे दिल्लीमें ही बितायें। किन्तु अनेक कारणों से आचार्यश्री उस अनुरोध को स्वीकार नहीं कर सके और उन्होंने वह वर्षा-काल सरदारसहर में बिताया। वहाँ उन लोगों का यह निवेदन रहा कि वर्षा-काल समाप्त के तत्काल बाद यदि आचार्यश्री दिल्ली पहुँच आयें तो उन सभी सांस्कृतिक कार्यक्रमों तथा जन-सम्पर्क का सहज प्राप्य लाभ अगुवत-प्रान्दोलन के लिए विशेष उपयोगी हो सकता है।

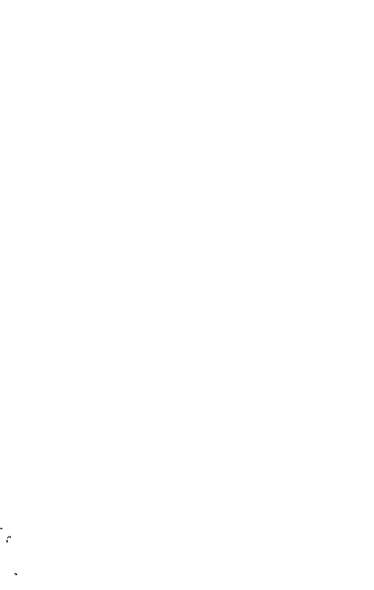
भ्यारह दिनों में

आचार्यश्री को उन लोगों का मुभाव उपयुक्त लगा। वे दिल्ली की तीसरी यात्रा का आतावरण बनाने लगे। उन्होंने इस विषय में मुनिजनों से आवश्यक विचार-विनिमय किया और दिल्ली-यात्रा की घोषणा कर दी। चातुर्मास समाप्त होते ही उन्होंने वहाँ से प्रस्थान कर दिया। अपने एक प्रवचन में उन्होंने दिल्ली-यात्रा के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा था—“मेरा वहाँ जाने का उद्देश्य देश-विदेश से आये लोगों से सम्पर्क करना और दिल्लीवासियों की प्रायना पूरी करना है। वहाँ के नेताओं का भी स्याल है कि मेरा वहाँ जाना उपकारक हो सकता है।”

आचार्यश्री को वहाँ जिन कार्यक्रमों में भाग लेना था, उनकी तिथियाँ काफी पहले से निश्चिन्त हो चुकी थीं। उनमें परिवर्तन की गुजायश नहीं थी। समय बहुत कम था और मार्ग बहुत लम्बा। सरदारसहर से दिल्ली लगभग दो-सौ मील है। आचार्यश्री लम्बे विहार करने हुए सिर्फ भ्यारह दिनों में वहाँ पहुँच गए।

विभिन्न सम्पर्क

जिस उद्देश्य को लेकर वे दिल्ली गये थे; वह आसानीत रूप से



भाचार्यश्री के प्रवचन मुख्यतः अणुव्रत-विचार-प्रसार के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुए। 'अणुव्रत-मेमिनार' का उद्घाटन अन्तर्राष्ट्रीय स्वान-नामा विद्वान् डॉ० मूषर इषान्त ने, मंत्री-दिवस का उद्घाटन राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद ने तथा चरित्र-निर्माण सप्ताह का उद्घाटन प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने किया था।

जीत लिया

दिल्ली के वे चालीस दिन भाचार्यश्री ने इतनी व्यस्तता में बिनाये थे कि उनके पास प्रायः अतिरिक्त समय बच ही नहीं पाता था, फिर भी वे वहाँ के नागरिकों की आध्यात्मिक और नैतिक भूख को पूरा नहीं कर सके। उन्होंने मर्यादा-महोत्सव की स्वीकृति सरदारसाहब के लिए पढ़ने ही दे दी थी, अतः उनसे अधिक टहरना वहाँ सम्भव नहीं था। वह स्वतन्त्राधीन प्रवास सभी दृष्टियों से इतना प्रभावक रहा कि मुप्रसिद्ध पत्रकार श्रीमत्यदेव विशालकार ने उसकी तुलना रोम-सम्राट् जूलियस सीजर की मिथ-विजय पर प्रस्तुत की गई रिपोर्ट के शब्दों में की है। जूलियस सीजर ने अपनी बान को घनि शोष में या कहा था— 'मैं गया, मैंने देगा और मैंने जीत लिया।' सत्यदेवजी कहते हैं— 'जूलियस सीजर के शब्दों को कुछ बदल कर हम भाचार्यश्री की धर्मयात्राओं का विवरण इन शब्दों में देने का साहम कर रहे हैं— 'वे आये, उन्होंने देगा और जीत लिया'।'

षोषी बार

उम यात्रा के बाद भाचार्यश्री षोषी बार दिल्ली में तब गये जब कि वे बनारस में राजस्थान आ रहे थे। परन्तु उम समय वे वहाँ केवल बार दिन ही टहरे थे। वह प्रवास दिल्ली के लिए नहीं था, फिर भी पत्रकार-सम्बन्धन, विचार-परिषद् तथा राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री आदि

से हुई मुलाकातों से वह प्रति स्वल्पकालीन प्रवास भी काफी महत्व का हो गया। दिल्ली की ये सभी यात्राएँ अपने-अपने प्रकार का पुष्क-पुष्क महत्त्व रखती हैं। इन सबमें अणुवत-ग्रान्दोलन के कार्यक्रम को बहुत बल मिला है।

द्वितीय यात्रा

गुजरात की ओर

आचार्यश्री की द्वितीय यात्रा वि० स० २०१० के राणावास मर्बादा-महोत्सव के बाद प्रारम्भ हुई। कुछ दिन काँटे के गाँवों में विचर कर वे आबू के मार्ग से गुजरात में प्रविष्ट हुए। आबू में रुघनायत्री के मन्दिर में ठहरे। वहाँ से दूसरे दिन देववाड़ा के प्रसिद्ध जैन-मन्दिरों में गये। प्राचीन काल के गौरव-मण्डित जैन-इतिहास के साक्षी बनकर खड़े ये मन्दिर अपनी अपूर्व भव्यता से मन को आकृष्ट करने हैं। शान्त और म्निग्य वातावरण में प्रगल्भ मुद्रामीन मूर्तियाँ भगवान् की साधना की अनायाम ही स्मृति-पटल पर जा देती हैं। देववाड़ा मार्ग में नहीं था। टेढ़े मार्ग में जाना पड़ा था, अन्त वापिस आबू ही आ गये। आबू राज-स्थानियों की ओर से दी गई विदाई और गुजरातियों की ओर से दिये गये स्वागत का मधिस्थल बन गया।

बाव में

गुजरात में प्रवेश हुआ, उस समय तक गर्मी काफी तेज पड़ने लगी थी। सूर्ये भुनसाये डालनी थी; तो सूर्य की किरणों का ताप शरीर को पिघाल-पिघाल डालता था। फिर भी मजिल पर मजिल कटती गई और आचार्यश्री बाव पहुँच गये। बाव अब धराद 'सब-डिबीडन' का प्रमुख नगर है, परन्तु पहले भूनपूवं राजा राणा हरिसिंह की राजधानी था। राणा आचार्यश्री के प्रति बहूत श्रद्धा रखते रहे हैं। दूर-दूर तक आकर दर्शन भी करते रहे हैं। पाँच-छ. वर्ष पूर्व बाव के बावणों तथा

राणा ने आचार्यश्री के दर्शन किये थे । तब बाब-यदापंण के लिए काफी प्रार्थना की थी । वह प्रार्थना इतनी प्रभावशाली मिट्ट हुई कि आचार्यश्री ने उसी समय यह स्वीकृति दे दी थी कि उधर आयेंगे, तब यथावसर बाब भी धाने का विचार रखेंगे । इतने लम्बे समय के बाद अब वह बचन पूर्ण हुआ ।

सौराष्ट्र की प्रार्थना

वहाँ में आचार्यश्री अहमदाबाद पधार गए । वह क्षेत्र कच्छ, सौराष्ट्र तथा गुजरात—तीनों के ही लिए अनुकूल पड़ सकता है, अतः वर्षाकाल वहाँ स्थानीय करने की प्रार्थना की गई, पर वह स्वीकृत नहीं हुई । सौराष्ट्र के तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री देवर भाई की सौराष्ट्र-यदापंण के लिए काफी आग्रह-भरी प्रार्थना थी, पर वह भी स्वीकृत नहीं हुई । आचार्यश्री ने पहले से ही अपने मन में निर्णय कर रखा था, उसी के अनुसार उन्होंने मूरत की ओर प्रस्थान कर दिया ।

मूरत में

गुजरात में तेरापय के प्रतिष्ठान में मूरत प्रमुख रूप से बायें करने वाला क्षेत्र रहा है । धर्म-प्रसार में जी-जान लगाते वाले मुप्रमिद थावरक मगन भाई वही के थे । वहाँ केवल तीन दिन टहरना हुआ । सम्भवतः वहाँ घोर अधिका विराजते, किन्तु उम क्षेत्र की वर्षा ऋतु के वम को देखते हुए सीधे ही बम्बई पहुँच जाना आवश्यक था ।

बम्बई की ओर

बम्बई की ओर विहार करने हुए आचार्यश्री प्रतिदिन प्रायः पन्द्रह-सोन्ह भील चला करते; फिर भी मार्ग में वर्षा शुरू हो गई । उससे गर्भों की तीव्रता से तो कुछ छुटकारा मिला, पर दूसरी ओरके दुर्बिचारों पैदा हो गई । वर्षा के कारण विहार का समय बिलकुल अतिरिक्त हो गया । कभी समय पर विहार हो जाता और कभी नहीं । मार्ग

काटना या घात करनी सम्भवतः से घोर करनी सम्भवतः बनना पड़ता। मदी जाया से बनने के लिए मेम की लुपती का मार्ग लिया गया, जिन्से यहाँ ककशा के मार्ग पर चलनी ही जाये। नीचे चलने से यहाँ से भीगी हुई बिजनी मिट्टी पैरा से इतनी माया से चिमटा जाती कि उगला भार सहस्य होने लगता। इसी प्रकार की घनेक कठिनाइयों को पार करने हुए शाचायंथी बम्बई के एक जननगर 'बोरीबोरी' पहुँच गई। तब तक ये लगभग एक हजार भीत बन चुके थे। उनकी उद्विग्न यात्रा का बर्णन एक शरण ग्रन्थ हो गया।

नौ महीने

शासुर्मासिक काम से पूर्व तथा सम्भवतः बम्बई के विभिन्न जननगरों में रहना हुआ। बर्सा-जान मिश्रजानगर में बिनाया। मर्यादा-महोत्सव के लिए भी पुन मिश्रजानगर घाये। लगभग नौ महीने का यह प्रवास हुआ। उम प्रवास-काम के प्रारम्भिक महीनों में ज्यों-ज्यों कार्य बढ़ा, त्यों-त्यों एक घोर तो जनता घाहृष्ट हुई, पर दूसरी घोर कुछ व्यक्तियों द्वारा विरोध भी हुआ। वहाँ के कुछ दैनिक पत्र ऐसे व्यक्तियों के हाथ में थे; जो शाचायंथी तथा उनके मिशन से विरोध करने थे। धीरे-धीरे उन लोगों को यह पता लग गया कि शाचायंथी का विरोध कर के जन-दृष्टि में घटने पत्र के ही महत्त्व को गिरा रहे हैं। फलतः विद्वाने महीनों में विरोध की तीव्रता मन्द हो गई।

मर्यादा-महोत्सव के बाद शाचायंथी ने उस यात्रा का दूसरा वर्ष प्रारम्भ किया। उस समय उन्हें चौपाटी पर विदाई दी गई। एक घोर चौपाटी का विशाल समुद्र था तथा दूसरी घोर जन-समुद्र था। उस समय दोनों ही उद्वेलित थे। एक वायु से तो दूसरा विदाई के वातावरण से। लोकमान्य तिलक की मानवाकार पाषाण-मूर्ति उन दोनों की ही समस्याओं को समझने का प्रयत्न करती हुई-सी पास में खड़ी थी। लोगों के मन में उस समय एक घोर कृतज्ञता के भाव तथा दूसरी घोर

विहह के भाव उमड़ रहे थे, किन्तु आचार्यथी उन दोनों से अलिप्त रहकर आगे बढ़ने को उद्यत हुए ।

पूना में

वे पूना पधारे । पूना को दक्षिण भारत की काशी कहा जा सकता है । वहाँ सस्कृत के धुरीण विद्वान् काफी संख्या में हैं । वहाँ के विद्याभ्यसनी क्रुद्ध व्यक्तियों ने तो अपना जीवन ही इस कार्य में भोक दिया है । आचार्यथी के पदार्पण से वहाँ का सांस्कृतिक तथा साहित्यिक क्षेत्र मानो एक सुगन्ध से महक उठा । यद्यपि वहाँ का प्रवास-काल अति संक्षिप्त था, फिर भी स्थानीय विद्वानों से परिचय की दृष्टि से वह बहुत महत्त्वपूर्ण रहा ।

एलोरा और अजन्ता में

वहाँ से महाराष्ट्र के विभिन्न गाँवों में विहार करते हुए आचार्यथी एलोरा तथा अजन्ता की सुप्रसिद्ध गुफाओं में पधारे । ये दोनों ही स्थल प्राकृतिक दृष्टि से अत्यन्त रमणीय हैं । ये गुफाएँ वहाँ उस पहाड़ को उत्कीर्ण करके ही बनाई गई हैं । वहाँ की उत्कीर्ण मूर्तियाँ बहुत ही कलापूर्ण और सजीव हैं । उन्हें प्राचीन स्थापत्य का उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है । एलोरा में जहाँ जैन, बौद्ध और वैदिक—तीनों ही संस्कृतियों की गुफाएँ तथा मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं; वहाँ अजन्ता में केवल बौद्ध मूर्तियाँ ही हैं । उनमें बुद्ध के जीवन-सम्बन्धी अनेक घटनाएँ तथा जातक कथाएँ अलिखित तथा उत्कीर्ण हैं । अलिखित चित्रों का रंग बहुत प्राचीन होने पर भी मकीन-सा लगता है । कई मूर्तियाँ इस प्रकार के कौशल से उत्कीर्ण की गई हैं कि उन्हें विभिन्न तीनों कोणों से देखने पर तीन विभिन्न आकृतियाँ दिखाई पड़ती हैं । वहाँ के कई स्तम्भ ऐसे हैं कि उन्हें हाथ से बजाने पर तबले की-सी ध्वनि उठती है । वहाँ मनुष्यों तथा पशुओं की तो अनेक भावपूर्ण मुद्राएँ अंकित की गई हैं; किन्तु देव-

जन-सम्पर्क हुआ; वहाँ छोटे-छोटे गाँवों में भी वह कम नहीं हुआ। पर मानस-सम्पर्क की जहाँ तक बात है; वहाँ शहरों की अपेक्षा गाँव मर्दब्राह्मणे रहे हैं। शहरों की जनता जहाँ सम्यता, शिष्टता और भारी-भरकम शब्दों के त्रिक विधि-विधानों के माध्यम से बात करती है; वहाँ ग्रामीण जनता सीधे मन से सम्बद्ध सरल और आडम्बरहीन क्रम से बात करना पसन्द करती है। ग्रामवासियों का व्यवहार यद्यपि असम्य और अशिष्ट नहीं होना, परन्तु वह सम्यता और शिष्टता की भाषा में भी नहीं बघना। वह कुछ अपने ही प्रकार का विलक्षण भाव होता है। उसे नजदीक से पहचानने के लिए यदि कोई शब्द प्रस्तुत करना ही हो तो उसे 'सहज भाव' कहा जा सकता है। आर्थिक दृष्टि में ग्रामीण जन अवश्य ही गरीब होते हैं, परन्तु सहजता और नम्रता के तो इतने धनी होने हैं कि उन जैसा धनी शहर में विराग लेकर खोजने पर भी मिलना कठिन है। आचार्यश्री के सम्पर्क में दोनों ही प्रकार के व्यक्ति आने रहे हैं। वे उनकी प्रकृति-भिन्नता से बहुत अच्छी तरह परिचित हैं। दोनों की विभिन्न समस्याओं का भी उन्हें पता है। वे उन दोनों के लिए मार्ग-दर्शन देने हैं, अतः दोनों के लिए ही समान रूप से श्रद्धा-भाजन बन गये हैं।

बिहार में

शान्ति-समाप्ति के पश्चात् आचार्यश्री कानपुर से चले। बंगाल पहुँचने का पथ सामने था। बिहार मार्ग में पड़ता था। चरण बंद चले। बिहार-भूमि में प्रविष्ट हुए। वह भगवान् महावीर की जन्म-भूमि और निर्वाण-भूमि होने के साथ उनकी मुख्य तपोभूमि भी रही है।

तीर्थ स्थानों में

बड़ी आचार्यश्री पटना, पावा, नागन्दा, राजगृह आदि ऐतिहासिक क्षेत्रों में भी गए। नागन्दा में सरकार द्वारा स्थापित 'नव नागन्दा पर-विहार' एक महत्त्वपूर्ण विद्या-संस्थान है। पानी भाषा के अध्यापनार्थ

वह एक तीर्थ का रूप लेता जा रहा है। गाम्भी में बीड़ तैयार जैन विद्वानों द्वारा आचार्यश्री का बड़ा भावभीना स्वागत किया गया। राजगृह में जैन सरस्वति-सम्मेलन रखा गया। उसमें घनेज विद्वानों ने भाग लिया। दोनों श्रमण-परम्पराओं के ये दोनों विभिन्न तीर्थ-स्थान परस्पर बहुत समीप हैं।

भय और आघह

शहरों की स्थिति से बहो गरीबों की स्थिति भिन्न थी। गरीबों में जैन साधुओं को बहुत कम लोग जानते हैं, प्रायः नहीं ही जानते, घन टहरने के लिए स्थान आदि भी बड़ी दिक्कतें रहतीं। डाकुओं का आतंक होने के कारण बड़ी-बड़ी आचार्यश्री के साथ चलने वाले शक्ति के भी उसी सन्देह की दृष्टि से देखा जाता। बड़ी-बड़ी घर भय भी स्थान देने में बाधक बनता कि इनके व्यक्तियों को कभी भाजन करना न पड जाये ? परन्तु उन लोगों का वह भय तब निर्मूलन मिटता जाता, जबकि आचार्यश्री के साथ चलने वाले गुरुश्रमण आगो गरीब घर पकाने। उन लोगों का शीघ्र घर सिंगी प्रचार घर बार्ड भार नहीं होता। घन को आचार्यश्री उपदेश देने, भजन सुनाने, मत्प की प्रेरणा देने और दुर्घसन छोड़ने की उत्साहित करने। लोगों को तब अपने पूर्वजन्म व्यवहार पर परमावा होता। जो लोग घरमें दिन स्थान देना तब नहीं चाहते, वे ही हमारे दिन अधिच टहरने का आघह करने लगते।

बंगाल में

बिहार को घर घर आचार्यश्री बंगाल में प्रविष्ट हुए। मैदिना में सर्वांग-सहोत्साह किया। बंगाल में राजघरान के जैन लोग बहुत बड़ी मर्यादा में रहते हैं। उनमें अधिकांश आचार्यश्री को बहुत धडा की दृष्टि से देखते हैं। बहो के बारी लोग टेंड बान्तपुर में ही आचार्यश्री के साथ थे।

कलकत्ता में

भारत की महानगरी कलकत्ता के लोगों का प्रारम्भ में ही यह भाव था कि भाचार्यश्री का वहाँ पदार्पण हो। उनकी प्रार्थना को मान्य करते हुए भाचार्यश्री ने जब कलकत्ता में प्रवेग किया, तब वहाँ के जन-समुदाय का हृदय देखने योग्य था। प्रवेग के समय भाया हुआ जन-समुद्र सचमुच ही भगाव समुद्र के समान बन गया था।

कलकत्ता पहुंचने पर वे कुछ दिनों तक विभिन्न उपनगरों में रहे और बाद में बर्षा-काल व्यतीत करने के लिये 'बड़ा बाजार' क्षेत्र में गए। तैरापथी महासभा-भवन में ठहरे। प्रवचन वहाँ से कुछ ही दूर बनाये गए विशाल भगुवत-मण्डल में हुआ करता था।

उपस्थिति

प्रतिदिन के प्रवचन में उपस्थिति प्रायः सात-आठ हजार व्यक्तियों की हो जाया करती थी। रविवार को इससे भी अधिक होती थी। कलकत्ता जैसे व्यस्त व्यापारिक क्षेत्र से आर्थिक विषय के अनिश्चित अन्य किसी भी विषय में अधिक उत्साह कम ही देखने को मिलता है, किन्तु वहाँ वह पर्याप्त देखा जा सकता था। जन-जागृतिमूलक कार्य भी वहाँ बड़े उत्साह से सम्पन्न किये जाते रहे। वहाँ के निम्न-वर्ग से लेकर आभिजात्य-वर्ग तक के लोग भाचार्यश्री के सम्पर्क में आये। जन-सम्पर्क तथा उससे मिलने वाले श्रेयोभाग ने अनेक व्यक्तियों को ईर्ष्यापु भी बनाया। ऐसे व्यक्तियों ने अपनी शक्ति का उपयोग भाचार्यश्री के विरुद्ध वातावरण बनाने में किया। परन्तु उससे भाचार्यश्री क्यों डर-राते? वे अपना काम करते रहे और भाचार्यश्री अपना।

चातुर्मास-समाप्ति के बाद भाचार्यश्री वहाँ से वापिस चले; तो बिहार, उत्तरप्रदेश, दिल्ली होते हुए हाँसी में आकर मर्यादा-महोत्सव किया। वहाँ उस प्रलम्ब यात्रा की समाप्ति समझी जा सकती है।

चतुर्थ यात्रा

अन्तर-काल

इन विशिष्ट यात्राओं के अतिरिक्त आचार्यश्री ने जो परिव्रजन किया है, उसे मैंने चतुर्थ यात्रा के रूप में मान लिया है। उपर्युक्त तीनों यात्राओं से पूर्व आचार्यश्री लगभग बारह वर्ष तक राजस्थान के बीकानेर डिवीजन में विचरते रहे। यह समय उन्होंने मुख्यतः संघ के विद्या-विक्रम पर ही लगाया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपनी हर एक यात्रा राजस्थान से ही प्रारम्भ की है, अतः एक यात्रा से दूसरी यात्रा का अन्तर-काल राजस्थान के विहार का ही काल रहा है। काल-व्यवधान को गौण रखकर यहाँ उनकी इस यात्रा को एक रूप में ही देखा गया है।

राजस्थान में

राजस्थान को प्रकृति ने विभिन्न परिस्थितियाँ प्रदान की हैं। कहीं वह बालू-प्रधान है, कहीं पर्वत-प्रधान और कहीं समतल। कहीं ऐसा रेगिस्तान है कि हरियाली देखने को भी कठिनाई से ही मिलती है; तो कहीं खूब हरा-भरा भी है। आचार्यश्री का पाद-विहार वहाँ के बीकानेर, जोधपुर, भजमेर, उदयपुर और अजमेर डिवीजनों में ही बहुधा होता रहा है।

अज्ञान-स्रोत

इस प्रकार उनकी यात्रा का स्रोत अज्ञान चानू है। एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तथा एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में वे उसी महत्त्व भाव से जाते-घाने रहते हैं; जैसे कि कोई व्यक्ति अपने मकान के एक कमरे से दूसरे कमरे में जाना-आता रहता है। कोई दिक्कत, धनभावन या परायाण नहीं। कोई खजान नहीं; तो कोई समाप्ति भी नहीं।

जन-सम्पर्क

तीन विभाग

आचार्यश्री का जन-सम्पर्क व्यापक है। "जहा पुण्यस्य कथं तदा तुच्छस्य कथं" अर्थात् -- "किमी बडे आदमी को जो मार्ग बतनाये वही एक गरीब आदमी को भी" इस आगम-वाक्य को वे अपना प्रकाश-स्तम्भ बनाकर चलते हैं। आध्यात्मिकता और नैतिकता के मार्ग का लक्ष्य सभी के लिए एक है। कौन कितना अपना सकता है या किमको कितनी साधना की आवश्यकता है, यह प्रत्येक व्यक्तिगत स्थितियों पर निर्भर कर सकता है। आचार्यश्री के सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों की विभिन्न स्थितियों के आधार पर उनके जन-सम्पर्क को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है १. साधारण जन-सम्पर्क, २. विशिष्ट जन-सम्पर्क और ३. प्रश्नोत्तर। 'साधारण जन-सम्पर्क' से तात्पर्य है— बहुधा सम्पर्क में आते रहने वाले जन-समुदाय का सम्पर्क। इसी प्रकार 'विशिष्ट जन सम्पर्क' से तात्पर्य है—जिनका समाज में विशिष्ट स्थान है और जो क्वचित् ही सम्पर्क में आ सकते हैं, उनका सम्पर्क। 'प्रश्नोत्तर' में देशी विदेशी जिज्ञानुओं के प्रत्यक्ष या पत्रादि के माध्यम से किये गये प्रश्न और आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त उत्तर हैं।

साधारण जन-सम्पर्क

निष्काम वृत्ति से

आदिवासी से लेकर राजनेता तक उनके सम्पर्क में आते हैं, अपनी

बाल बहने हैं और मार्ग-दर्शन भी पाते हैं। पारिवारिक बलह से लेकर सामाजिक बलह तक की समस्याएँ उनके सामने आती हैं। न्यायालयों में क्यों तक जो बलह नहीं निपटने से कुछ ही समय में आचार्यश्री के मार्ग-दर्शन से निपटने देखे गए हैं। कहीं न भी निपटे, तो आचार्यश्री को उमका कोई क्षोभ नहीं होना, बलह-निवारण का प्रयास करना से अपना कर्तव्य मानने हैं। पँसला हो जाये तो उन्हें उन लोगों से कोई पारिधमिक या भेंट लेनी नहीं है और न हो तो उनके पास से कुछ जाता नहीं है। निष्काम वृत्ति में जिनना होना है या किया जा सकता है, उमी में से आत्म-मुक्ति का अनुभव करने हैं। यहाँ उनके माधारण जन-सम्पर्क की कुछ घटनाएँ उद्घृत की जाती हैं।

एक पुकार

मेवाड़ में भीत जाति के लोग काफी बड़ी मकदा में रहते हैं। वे अपने-आपको भीत के स्थान पर 'गमेनी' कहना अधिक पसन्द करते हैं। मेवाड़ के महाजनो ने गरीब तथा भोले लोगों को शूल आदि से काफी दबा रखा है। तरह-तरह में वे लोग उन पर अन्याय भी करते रहते हैं। आचार्यश्री जब वि० स० २०१७ में मेवाड़ गये तब 'शक्तिना' के धाम-धाम के समंदियों ने अपनी दसा को आचार्यश्री के सम्मुख रखा था। वे अपनी दसा और महाजनो के अत्याचारों के विषय में बार पृष्ठ का एक पत्र भी लिख कर लाये थे। उसे उन्होंने प्रस्तुत किया। आचार्यश्री ने उस विषय में महाजनो को कहा भी तथा कुछ मन्त्रों को एतद्-विषयक लोगों वशों की पूरी जानकारी में लिए बहाँ छोड़ा भी। उस पत्र के कुछ अंश इस प्रकार हैं—“थी थी १००० थी थी थी माराज चम्पीगहरी पुत्रनीच माराज, क्या री धरनी बापा माराजकी पुत्रनी माराज से बुवा (दुनियाँ) की पुकार

तरन बंगला, धरन नाच माराज पुत्रनीचकी कर मकेदा गरीब जाति से हेनो ऊपर मुकेगा, माराज (दिलार) लो वेगा। अमाराज से

भरोसा है। गमेती जनता री हाथ जोड़कर के धरत्र है के मारी गरीब जाती बोट दुम्नी है।" कुछ महाजनों के नाम देकर आगे लिया है—'फररी जुटा-जुटा सत मांडकर गरीबां रे पाग मे जमी ले सीदी है और गायां, भंसां, बकर्या बी ले सीदी है। बडा भारी जुलम कीदा है, जुटा-जुटा दावा करके कुरकी करावे ने जोर-जबरदस्ती करने वमूनी करे है। गरीबां ने ५) रुपया देने ५००) रुपया रा सन मांडे। सो मारा सब पेमा (पंचो) री राय है, के जलदी सूँ जलदी पद मंगाकर देवाया जावे, जनरी सूँ जलदी फंसला दिया जावे।

द० दलीग सब जन्ता (जनता) रा केवा सुँ
२०१७ जेठ मुद सातम^१

इस पत्र का भाचार्य है—“भाचार्यश्री से दु.गियों की पुकार-हमें विश्वास है कि आप हम गरीबों की पुकार अवश्य मुँगे, ओ! फंसला कर हमे उचित न्याय देंगे। गमेती जनता बहुत दुखी है अमुक-अमुक व्यक्तियों ने झूठे सत लिखकर हमारे सत से लिये है पशु भी ले लिये हैं। झूठे दावे कुर्की करा दी जाती है और फिर बन पूर्वक उसको बसूला जाता है। पाँच रुपये देकर पाँचसौ लिख लिदे जाते हैं, अतः हमारे पंचो की राय है कि आप हमारा फंसला करें।

हस्ताक्षर—‘दलीग’ सब जनता के बहने से
दि० स० २०१७ ज्येष्ठ शुक्ला सप्तमी^१

हरिजनों का पत्र

मारवाड के काणाना गाँव मे भेषवाल जाति के हरिजन व्यक्तियों द्वारा भी ऐसा ही एक पत्र भाचार्यश्री के चरणों में प्रस्तुत किया गया। उसमें कुछ महाजनो के व्यक्तिगत नाम लिखकर अपनी पुकार की गई थी। उस पत्र के कुछ अंश इस प्रकार हैं—“हम भेषवाल सूत्रकार-जाति

जन्म से यही के निवासी हैं। यहाँ के महाजन हमारे पर लेन-देन को लेकर काफी ज्यादाती करते हैं। मत. उन्हें समझाया जाये। वे लोग वैईमानी कर हने हर समय दुःख देते हैं। यदि यह भार हम पर कम हुआ तो हम ऊपर उठ सकते हैं।

साथ ही साथ वे इतनी छुआछूत रखते है कि हमे दुकानो पर चढ़ने तक का अधिकार नही। क्या हम मानव-पुत्र नही हैं ?

आपके उपदेश बड़े हितकर व मानव-कल्याणमूलक हैं। हम आपके उपदेशों पर चलेंगे और आपके अणुश्रुत-आन्दोलन के नियमों की कभी भी अवहेलना नही करेगे।

हम हैं आपके विश्वासपात्र
मेघदशी समाज (काणाना)'''

आचार्यश्री ने उस पत्र का अपने व्याख्यान में जिक्र किया और यह प्रेरणा दी कि किसी को हीन मानना बहुत बुरा है। जैन होने के नाते लेन-देन में धोखा, अधिक ब्याज और भूठे मुकदमे भी दुम लोगों के लिए असोभनीय हैं। उस व्याख्यान का लोगों पर अन्धा असर रहा। अनेक स्थितियों ने अपने आपको उन दुर्गुणों से बचाने का संकल्प किया।

छात्रों का अनशन

काणाना के महाजनो में भी परस्पर भगडा था। बपों से वे दो गुटो में विभक्त थे। आचार्यश्री का पदार्पण हुआ, तब स्थानीय छात्रों ने उस अवसर का लाभ उठाने की सोची। वे गाँव की उम दन्वन्दी को सोझा चाहते थे। लगभग सवासी छात्र एकत्रित होकर एकता-मन्वन्दी नारे लगाते हुए आचार्यश्री के पास आये। उन्होंने आचार्यश्री से निवेदन किया कि जब तक पंच मिलकर फैसला नहीं कर लेंगे; तब तक हम अनशन करेंगे। आचार्यश्री से भी अनुरोध किया कि वे तब तक के लिए

भरोगो है। गमेनी जतना री हाथ जोड़कर के धरत है के मागी गरीब जतने
 बोल दुगी है ।" कुछ महाजनों के नाम देकर धाने लिखा है— "पत्ते
 जुटा-जुटा गण मांडकर गरीबों के गांव में जमी में सीदी है धीर धरत
 भोगी, बकरियां बी में सीदी है। बड़ा मारी जूनम कीस है, कुछ-कुछ
 दाया करके कुररी कराने में जोर-बकरदानी करने कगूनी करे है। गरीब
 ने ५) रुपया देने ५००) रुपया रा गण मांडे। सो मारा गव वेगा (पत्ती)
 री राय है, के जनदी मूं जगदी पद मदाकर देखाया जतने, जगदी मूं
 जनदी फंगना दिया जतने ।

६० दनीग गव जला(जतना) राकेस मूं
 २०१७ जेठ मुद मानम"

इस पत्र का भावार्थ है— "घानार्थी में दु.वियों की पुकार—
 हमें विश्वास है कि धान हम गरीबों की पुकार धरत मुनेये, धीर
 फंसला कर हमें उचिन ग्याय दंगे। गमेनी जतना बहुत दुगी है।
 धमुफ-धमुफ व्यक्तिगो ने मूठे गन निगहर हमारे खेप ने रिरे है,
 पशु भी ले लिये हैं। मूठे दावे कुर्की करा दी जाती है धीर फिर बन-
 पूर्वक उसको वमूला जाना है। पांच रुपये देकर पांचमी दिव रिरे
 जाते हैं; धत हमारे पचो की राय है कि धाप हमारा फंगना करें।

हस्ताक्षर— 'दनीग' सब जनता के कहने से
 वि० स० २०१७ ज्येष्ठ मुक्ता सतनी"

हरिजनों का पत्र

मारवाड़ के काणाना गांव में मेघवाल जाति के हरिजन व्यक्तियों
 द्वारा भी ऐसा ही एक पत्र घानार्थी के चरणों में प्रस्तुत किया गया।
 उसमें कुछ महाजनों के व्यक्तिगत नाम लिखकर अपनी पुकार की गई
 थी। उस पत्र के कुछ अंश इस प्रकार हैं— "हम मेघवाल सूत्रकार-जाति

जन्म से यही के निवासी हैं। यहाँ के महाजन हमारे पर लेन-देन को लेकर काफी ज्यादाती करते हैं। अतः उन्हें समझाया जाये। वे लोग धैर्यमानी कर हमें हर समय दुःख देते हैं। यदि यह भार हम पर कम हुआ तो हम ऊपर उठ सकते हैं।

साथ ही साथ वे इतनी छुमाछूत रखते हैं कि हमें दुकानों पर बढ़ने तक का अधिकार नहीं। क्या हम मानव-पुत्र नहीं हैं ?

आपके उपदेश बड़े हितकर व मानव-कल्याणमूलक हैं। हम आपके उपदेशों पर चलेंगे और आपके अगुवत-आन्दोलन के नियमों की कभी भी अवहेलना नहीं करेंगे।

हम हैं आपके विदवासपात्र
मेघवशी समाज (वाणाना) ११

आचार्यश्री ने उस पत्र का अपने व्याख्यान में जिक्र किया और यह प्रेरणा दी कि किसी को हीन मानना बहुत बुरा है। जैन होने के नाते लेन-देन में धोखा, अधिक ब्याज और भूटे मुकदमे भी तुम लोगों के लिए असोभनीय हैं। उस व्याख्यान का लोगो पर अछा असर रहा। अनेक व्यक्तियों ने अपने आपको उन दुर्गुणों से बचाने का संकल्प किया।

छात्रों का अनशन

वाणाना के महाजनो में भी परस्पर झगडा था। वयों से वे दो गुटों में विभक्त थे। आचार्यश्री का पदार्पण हुआ; तब स्थानीय छात्रों ने उस अवसर का लाभ उठाने की सोची। वे गौरव की उस दमबन्दी को सोडना चाहते थे। लगभग सवासी छात्र एकत्रित होकर एवना-सम्बन्धी नारे लगाते हुए आचार्यश्री के पास भाये। उन्होंने आचार्यश्री से निवेदन किया कि जब तक पंच मिलकर फैसला नहीं कर लेंगे; तब तक हम अनशन करेंगे। आचार्यश्री से भी अनुरोध किया कि वे तब तक के लिए

अपना व्याख्यान स्थगित रखे । उनके अनुरोध पर आचार्यश्री ने प्रवचन नहीं किया । अनेक वर्षों बाद आचार्यश्री आएँ और वे प्रवचन भी न करे; यह बात सभी को अलखरी । आखिर दोनों पक्षों के व्यक्ति मिले और शीघ्र ही समझौता हो गया । गाँव में पड़े दो तड़ मिट गये ।

नाना का दोष

रावचिया में शोभालाल नामक एक चौदह वर्षीय बालक ने आचार्यश्री के हाथ में एक चिट्ठी दी ।

आचार्यश्री ने पूछा—क्या है इसमें ?

उसने कहा—गुरुदेव ! मेरे नाना और गाँव वालों में परस्पर कतह चलना है । इस पत्र में उसे मिटाने की आपसे प्रार्थना की गई है ।

आचार्यश्री ने चिट्ठी पढ़ी और उस बालक से ही पूछा—तुम्हें इसमें किमता दोष मालूम देता है ?

बालक ने कहा—अधिक दोष तो मेरे नाना का ही लगता है ।

आचार्यश्री ने उसके नाना से कुछ बातचीत की और उसे समझाया । फलस्वरूप उम्मी रात्रि को वह भगड़ा मिट गया । प्रातः आचार्यश्री के सम्मुख परम्पर क्षमायाचना कर ली गई । जो व्यक्ति मसूखे गाँव और पंचों की धान टुकरा चुता था, वही आचार्यश्री की बुद्ध प्रेरणा पाकर सरल बन गया ।

एक सामाजिक विग्रह

बुद्ध समय पूर्व पत्नी के अंगवस्त्रों में 'देसी-बिनायनी' का एक समाज-ध्यायी विग्रह उत्पन्न हो गया था । वह अनेक वर्षों तक चलता रहा । उसमें समाज को अनेक हानियाँ उठानी पड़ीं । एक प्रकार से उस समय समाज की मारी भू मया ही टूट गई थी । धीरे-धीरे वहाँ बाद उगना उपरिगत रोग और निषाद तो टडा पड़ गया, किन्तु उसकी जड़ नहीं गई । सामूहिक भोज आदि के व्यवहार पर उगमे अनेक बार नये घटुर पड़े रहने थे ।

वि० स० १९६६ के चूह-चातुर्मास में छाचार्यश्री ने लोगों को एतद्विषयक प्रेरणा दी। दोनों ही दलों के व्यक्तियों को पृथक्-पृथक् तथा सामूहिक रूप से सम्भाषाया। अखिर अनेक दिनों के प्रयास के बाद उन लोगों ने समझौता किया और आचार्यश्री के सम्मुख परस्पर क्षमा-याचना की। वह विग्रह चूह से ही प्रारम्भ होकर समग्र घली में फैला था और संयोगवशात् चूह में ही उसकी अन्त्येष्टि भी हुई।

ऐसे उदाहरण यह बतलाते हैं कि विभिन्न समाजों के व्यक्तियों पर आचार्यश्री का जितना प्रभाव है और वे सब उनके वचनों का जितना आदर करते हैं। अपने पारिवारिक तथा सामाजिक कलह को इस प्रकार उपदेशमात्र से मिटा लेना आचार्यश्री के प्रति रही हुई श्रद्धा से ही सम्भव है। यह श्रद्धा और विश्वास उनके नैऋतिक सम्पर्क से ही उद्भूत हुआ मानना चाहिए।

विशिष्ट जन-सम्पर्क

ध्यापक सम्पर्क

आचार्यश्री का सम्पर्क जितना जन-साधारण से है, उतना ही विशिष्ट व्यक्तियों से भी। वे धार्मिक, सामाजिक या राजनैतिक दलदली को प्रथम नहीं देते, पर परिचित मभी से रहना अभीष्ट समझते हैं। समाज तथा राष्ट्र के वर्तमान नेतृ-वर्ग से भी उनका प्रगाढ़ परिचय है। साहित्य-कारों तथा पत्रकारों से भी वे बहुधा मानवीय समस्याओं पर विचार-विमर्श करते रहते हैं। वे चिन्तन के आदान-प्रदान में विश्वास करते हैं, अतः अनुभूत और प्रतिकूल बातों को समरमता से गुन लेने में धम्मस्त हैं।

दूसरों के सुभावों में वे आह्ला तत्त्व को वे बहुत शीघ्रता में पकड़ते हैं। वे जिस रसानुभूति के साथ राजनीतियों में बानें करते हैं, उतनी ही तीव्र रसानुभूति के साथ किसी साधारण गृहस्थ से। उनको जितना सहयोग मिलता है; उससे वही अधिक उनकी आलोचनाएँ हुई हैं; फिर भी उनके सामर्थ्य में कभी धैर्य नहीं भोया। तभी तो आलोचकों की मर्यादा

घटती गई है और समयकों की संख्या बढ़ती गई है ।

दूरी व्यक्ति ने पीछे होनी है; पहले मन में होनी है । प्रविशवान या घृणा उसका माध्यम बनती है । जो न घृणा करता हो और न भविष्यवा; वही उस लाई को पाट सकता है । शाचार्यश्री ने उसे पाया है । वे किसी को अपने से दूर नहीं मानने, किसी से घृणा नहीं करते और सभी का विश्वास खुलकर लेते हैं तथा देते हैं । विचार और विश्वास के प्रादान-प्रदान की कृपणता उन्हें प्रिय नहीं । इसीलिए उनके सम्पर्क का दायरा तथा उसकी गहराई निरन्तर बढ़ती रही है । जितने व्यक्तियों से उनका सम्पर्क हुआ है; उनका विचरण बहुत बड़ा है । उन सबका नामोल्लेख कर पाना सम्भव नहीं है; फिर भी दिग्दर्शन के रूप में कुछ व्यक्तियों का सम्पर्क-प्रसंग यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है ।

जैनेन्द्रकुमारजी

जैनेन्द्रकुमारजी भारत के सुप्रसिद्ध साहित्यकारों में से एक हैं । गम्भीरचिन्तन और भावानुसारी शब्दाङ्कन; उनकी अपनी विशेषता है । अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति उनकी भावनाएँ बहुधा मुक्त होती रहती हैं । तेरापंच की एकता के प्रति उनके मन में आश्चर्य-गर्भा जिज्ञासाएँ उभरती हैं और उत्तर मागती हैं । उन्होंने अपनी दार्शनिक पद्धति के आचार पर उन जिज्ञासाओं को उत्तर प्रदान किया है । शाचार्यश्री के प्रति वे अतिशय आकृष्ट हैं । वे अनेक बार उनके सम्पर्क में आने रहे हैं । उनकी यह निकटता धीरे-धीरे ही सम्पन्न हुई है । पहले वे अपने प्रायः बहुत दूरी का अनुभव करते थे । अपनी प्रथम भेंट के विषय में लिखते हैं—
“पहली भेंट मैं व्यक्ति से नहीं पा सका, गुरु के ही दर्शन हुए ।” किन्तु वे ही अपनी दूसरी भेंट के विषय में लिखते हैं—“उस दिन से मैं तुलसीजी के प्रति अपने में आकर्षण अनुभव करता हूँ और उनके प्रति सराहना के भाव रखना हूँ ।” उस परिचय को मैं अपना सद्भाग्य गिना हूँ ।”
वे और उनके विभिन्न कार्यक्रमों में बड़ी प्राप्ती-
से भाग लेते रहे हैं ।

आचार्य कृपलानी

इसी प्रकार आचार्य कृपलानी से भी प्रथम परिचय अत्यन्त नीरस रहा था। वि०सं० २००४ में जब वे कांग्रेस के अध्यक्ष थे, किसी कार्यवश फतहपुर आये थे। कुछ व्यक्तियों की इच्छा रही कि आचार्यश्री से कृपलानी जी का सम्पर्क हो सके तो अच्छा रहे। वे लोग फतहपुर गये और उन्हें रतनगढ़ ले आये। वे आचार्यश्री के पास आये तो सही; पर न आचार्यश्री उनकी प्रकृति से परिचित थे और न वे आचार्यश्री की प्रकृति से। जब उन्हें सभ का परिचय दिया जाने लगा तो वे बोले—“मैंने तो अपना गुरु गांधी को मान लिया है, अब आप मुझे क्या समझावेंगे?” और दूसरी बात चले, उससे पूर्व ही उन्होंने यह भी कह दिया—“मैं तो मुनने के लिए नहीं; किन्तु मुनाने के लिए आया हूँ।” वे लगभग १० मिनट ठहरे होंगे, किन्तु किसी पूर्व-आग्रह से भरे होने के कारण बात-चीत के अन्त में कोई सरसता नहीं आ सकी।

वे ही कृपलानीजी जब वि० सं० १३ में दिल्ली में दुबारा मिले, तब वह तनाव तो था ही नहीं अपितु अत्यन्त सौजन्य ने उसका स्थान ले लिया था। अणुधत-गोष्ठी में भी उन्होंने भाग लिया और बहुत सुन्दर बोले। उसके बाद मुचेनाजी के साथ जब वे आचार्यश्री से मिले तो ऐसा लगा मानो प्रथम भेंट वाले कृपलानी कोई दूसरे ही थे। आचार्यश्री ने जब प्रथम भेंट की याद दिलाई तो वे हँस पड़े।

आचार्यश्री और डॉ० राजेन्द्रप्रसाद

भारतीय जनतंत्र के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद आध्यात्मिक प्रकृति के व्यक्ति थे। उनकी विद्वत्ता और पद-प्रतिष्ठा जितनी महान् थी; उतने ही वे नम्र थे। आचार्यश्री के प्रति उनके मन में बहुत आदर-भाव था। वे पहले-सहस्र जयपुर में आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। उस समय वे भारतीय विधान परिषद् के अध्यक्ष थे। उसके बाद वह सितसिता चानू रहा और अनेक बार सम्पर्क तथा विचार-विमर्श करने

का अवसर प्राप्त होना रहा । वे अणुव्रत-आन्दोलन के प्रबल प्रथमक में आचार्यश्री के साप्तिह्य में मनाये गए प्रथम मंत्री-दिवस का उद्घाटन करते हुए उन्होंने कहा था कि आप यदि अणुव्रत-आन्दोलन में मुझे पद देना चाहें तो मैं समर्थक का पद लेना चाहूँगा ।

राष्ट्रपतिजी का आचार्यश्री से अनेक बार और अनेक विषयों पर वार्तालाप होता रहता था । उसमें से कुछ वार्ता-प्रसंग यहाँ दिये जाते हैं ।

राजेन्द्र बाबू—इस समय देश की नैतिकता की सबसे बड़ी आवश्यकता है । स्वतंत्रता के बाद भी यदि नैतिक स्तर नहीं उठ पाया तो देश के लिए बड़े खतरे की बात है ।

आचार्यश्री—इस क्षेत्र में सबको सहयोगी बनकर काम करने की आवश्यकता है । यदि सब एक होकर जुट जायें तो यह कोई कठिन काम नहीं है ।

राजेन्द्र बाबू—राजनैतिक नेताओं की बात आप छोड़िये । उनमें परस्पर बहुत विचार-भेद तथा बुद्धि-भेद है । इस वस्तुस्थिति के अन्दर रहकर इसे किस तरह संभाला जाये; यह विचारणीय है ।

आचार्यश्री—जो नेता-नए आध्यात्मिकता में विश्वास करते हैं; वे सब सहयोग-भाव से इस कार्य में लग सकते हैं ।

राजेन्द्र बाबू—सर्वोदय समाज भी इन कार्यों में दृष्टि रखता है । अतः आपका उससे सम्पर्क हो सके तो ठीक रहे ।

आचार्यश्री—सबके उदय के लिए सबके सहयोग की आवश्यकता है । मैं ऐसे किसी भी सम्पर्क का प्रशंसक हूँ ।

आचार्यश्री और डा० राधाकृष्णन्

भारत के वर्तमान राष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् आचार्यश्री तथा उनके कार्यक्रमों में अच्छी दृष्टि रखते हैं । वि०सं० २०१३ में

आचार्यश्री दिल्ली पधारे, तब उनसे मिले थे। उस समय वे उपराष्ट्र-पति के पद पर थे। वे अखुवत-मोठ्ठी में भाग लेने वाले थे, किन्तु पत्नी का देहावसान हो जाने से नहीं आ सके थे। जब आचार्यश्री उनकी कोठी पर पधारे; तब वार्ताक्रम में उन्होंने कहा भी था कि मैं आपके किसी भी कार्यक्रम में सम्मिलित नहीं हूँ सक्ता।

उस समय आचार्यश्री के साथ उनका अनेक विषयों पर महत्वपूर्ण वार्तालाप हुआ। उसके कुछ अंश इस प्रकार हैं

डा० राधाकृष्णन्—जैन-मन्दिर में हरिजन-प्रवेश के विषय में आपका क्या अभिमत है ?

आचार्यश्री—जहाँ धर्माभिलाषी व्यक्ति प्रवेश न पा सके, वह क्या मन्दिर है ? किसी को अपनी अच्छी भावना को फलित करने से रोचना, मैं धर्म में बाधा डालना मानता हूँ। जैसे हम तो अमूर्तिपूजक हैं। जैनों में मुख्य दो परम्पराएँ हैं—श्वेताम्बर और दिगम्बर। दोनों ही परम्पराओं में दो प्रकार के सम्प्रदाय हैं—एक अमूर्तिपूजक और दूसरा मूर्तिपूजक। जैन सम्प्रदायों में मान्यता के विषय में मौलिक दृष्टि से प्रायः सभी एक-मन हैं। कुछ एक प्रसंगों को लेकर थोड़ा पार्यंक्य है, जो अधिकांश बाह्य व्यवहारों का है और अन्त में कम होता जा रहा है। सभी जैन-नेमितार में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के साधुओं में भाग लिया। वहाँ मुझे भी प्रमुख वक्ता के रूप में निमन्त्रित किया गया था और अच्छी सहिष्णुता का वातावरण बना था।

डा० राधाकृष्णन्—समन्वय का प्रयत्न तो होता ही चाहिए। आज के समय की यह सबसे बड़ी माँग है और इसी के सहारे बड़े-बड़े काम किये जा सकने हैं।

आचार्यश्री—आपका पहले राजदूत के रूप में और अब उपराष्ट्रपति के रूप में राजनीति में प्रवेश हमें कुछ अटपटा-ना लगा था कि एक दार्शनिक विधर जा रहे हैं, पर अब आपकी सांस्कृतिक रचियों और

धर्म कामों को देखकर लगा कि यह तो एक प्राचीन प्रणाली का निर्वाह हो रहा है। वर्तमान की तो राजनीति है, उगम कोई विचारक ही मुझार कर सकता है और उसे एक नया मोड़ दे सकता है। क्योंकि उसके पल सोचने की नयी पद्धति होती है और नया चिन्तन होता है। वह जहाँ भी जाता है, मुझार का काम शुरू कर देता है।

डा० राधाकृष्णन् - धर्म द्रव्य-हिमा का तो फिर भी कुछ धर्मों में निषेध हो रहा है, पर भाव-हिमा का प्रभाव तो और भी जोरों में चल रहा है, इसके निषेध के लिए कुछ धर्मदाय होना चाहिए।

आचार्यश्री ही, धर्मग्रन्थ-साम्राज्यत्व इस दिशा में मजबूत है।

डा० राधाकृष्णन्—मैं ऐसा मानता हूँ कि जीवन-उदाहरण का जो धर्म होता है, वह उपदेश या बोध में नहीं होता। इसलिए धर्म जो काम करते हैं; उसका जनना पर स्वयं सुन्दर प्रभाव होता है? क्योंकि आपका जीवन उसके अनुरूप है।

आचार्यश्री और जवाहरलाल नेहरू

आचार्यश्री का भारत के प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू के साथ अनेक बार विचार-विमर्श हुआ है। प्रथम बार का मिलन वि०स० २००८ में हुआ था। उस समय वे प्रायः मुम्बई ही अधिक रहे, परन्तु दूसरी बार जब वि०स० २०१३ में मिलना हुआ तो काफी खुल कर बातें हुईं। आचार्यश्री ने उनसे यह कहा भी था—“मैं चाहता हूँ; आज हम स्पष्ट रूप से विचार-विमर्श करें। हमारा यह मिलन औपचारिक न होकर वास्तविक हो।” वस्तुतः वह बातचीत खुले दिमाग से हुई और परिणामदायक हुई।

आचार्यश्री ने बात का सिलसिला प्रारम्भ करते हुए कहा— हम जानते हैं कि गांधीजी व आप लोगों के प्रयत्नों से भारत को आजादी मिली। पर आज देश की क्या स्थिति है? चरित्र गिरता जा रहा है।

१. नव निर्माण की पुकार

कुदक ब्यक्तियों को छोड़कर देश का चित्र खींचा जाये तो वह स्वस्थ नहीं होगा। यही स्थिति रही तो भविष्य कैसा होगा ? कोरी बातों से चरित्र उन्नत नहीं होगा। लोपो को चरित्र-सम्बन्धी कोई काम दिया जाये; यही मैं चाहता हूँ। भण्डुवत-भान्दोलन ऐसी ही स्थिति पैदा करना चाहता है। छोटे-छोटे प्रतों के द्वारा जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना आवश्यक है। पाच वर्ष पूर्व मैंने आपको इसकी गतिविधि बताई थी। आपने सुना अधिक, कहा कम। आपने आज तक कुछ भी सहयोग नहीं दिया। सहयोग से मतलब हमें पैसा नहीं लेना है। यह आर्थिक भान्दोलन नहीं है।

प० नेहरू—मैं जानता हूँ, आपको पैसा नहीं चाहिए।

आचार्यश्री—इस भान्दोलन को मैं राजनीति में भी जोड़ना नहीं चाहता।

प० नेहरू—मैं तो राजनैतिक व्यक्ति हूँ, राजनीति से श्रोत-श्रोत हूँ, फिर मेरा सहयोग क्या होगा ?

आचार्यश्री—जैसे आप राजनैतिक है; वैसे स्वतन्त्र व्यक्ति भी है। हम आपके स्वतन्त्र ब्यक्तित्व का उपयोग चाहते हैं, राजनैतिक जवाहरलाल नेहरू का नहीं। पहली मुलाकात में आपने कहा था— 'मैं उसे पढ़ूँगा' पढ़ा नहीं, आपने पढ़ा या नहीं।

प० नेहरू—मैंने यह पुस्तक (भण्डुवत-भान्दोलन) पढ़ी है, पर मैं बहुत व्यस्त हूँ। भान्दोलन के बारे में मैं कह सकता हूँ।

आचार्यश्री—आपने कभी कहा तो नहीं, क्या आप हम भान्दोलन की उपयोगिता नहीं समझते ?

प० नेहरू—यह कैसे हो सकता है ?

आचार्यश्री—हमारे सैकड़ों साधु-साध्वियाँ चरित्र-विवास के कार्य में सलग्न हैं। उनका आध्यात्मिक क्षेत्र में अथेष्ट उपयोग किया जा सकता है।

प० नेहरू—क्या 'भारत-साधु समाज' से आप परिचित हैं ?

आचार्यश्री—जिस भारत-सेवक-समाज के आप अध्यक्ष हैं; उससे

जो सम्बन्धित है; वही तो ?

पं० नेहरू—हाँ, भारत-सेवक-समाज का मैं अग्र्यक्ष हूँ। वह राज-नैतिक सस्था नहीं है। उसी से सम्बन्धित वह 'भारत-साधु-समाज' है। आप श्री गुलजारीलाल नन्दा से मिले हैं ?

आचार्यश्री—पाँच बरप पहले मिलना हुआ था। भारत-साधु-समाज से मेरा सम्बन्ध नहीं है। जब तक साधु लोग मठों और पैतों का मोह नहीं छोड़ते; तब तक वे सफल नहीं हो सकते।

पं० नेहरू—साधुओं ने धन का मोह तो नहीं छोड़ा है। मैंने नन्दाजी से कहा भी था; तुम यह बना तो रहे हो; पर इसमें खतरा है।

आचार्यश्री—जो मैं सोच रहा हूँ; वही आप सोच रहे हैं। मात्र आप ही कहिये; उनसे हमारा सम्बन्ध कैसे हो ?

पं० नेहरू—उनसे आपको सम्बन्ध जोड़ने की आवश्यकता भी नहीं है। साधु-समाज अगर काम करे तो अच्छा हो सकता है; ऐसी मेरी धारणा है। पर काम होना कठिन हो रहा है।

वार्तालाप की समाप्ति पर पंडितजी ने कहा—“मान्दोलन की गतिविधियों को मैं जानता हूँ, ऐसा हो तो बहुत अच्छा रहे। अगर नन्दाजी से चर्चा करते रहिये। मुझे उनके द्वारा जानकारी मिलनी रहेगी। मेरी उसमें पूरी दिलचस्पी है।”

आचार्यश्री और अशोक मेहता

समाजवादी नेता श्री अशोक मेहता ६ दिसम्बर १९५६ को प्रा-वासीन व्याख्यान के बाद भाये। आचार्यश्री से विचार-विनिमय के प्रसंग में जो बातें बनीं; उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

श्रीमेहता—अपुत्रनी धन लेते हैं; वे उनका पालन करने हैं या नहीं, इसका आपको क्या पता रहता है ?

भाचार्यश्री—प्रतिवर्ष होने वाले अत्रणुत-अधिवेशन में अणुवृत्ती परिपद् के बीच अपनी छोटी-छोटी गलतियों का भी प्रायश्चित्त करते हैं। इससे पता चलता है कि वे व्रत-पालन की दिशा में कितने सावधान हैं। कई लोग वापस हट भी जाते हैं। इससे भी ऐसा लगता है कि जो प्रतिवर्ष व्रत लेते हैं; वे उन्हें दृढ़ता से पालते हैं। अणुवृत्तियों में अधिकांश जो हमारे सम्पर्क में आते रहते हैं; उनकी सार-संभाल तो मैं और सी सवासौ जगह अलग-अलग धूमने वाले हमारे साधु-साध्वियाँ लेते रहते हैं। कठिनाइयों के कारण अगर कोई व्रत नहीं निभा सकता है, तो उसे अलग कर दिया जाता है और ऐसा हुमा भी है। इस पर से खरे उतरने वाले अणुवृत्तियों का भाग मन्वे प्रतिपात रहता है।

हम नैतिक सुधार का जो काम कर रहे हैं; उसमें हमें सभी लोगों के सहयोग की अपेक्षा है। रुपये-पैसे के सहयोग की हमें अपेक्षा नहीं है। हम चाहते हैं कि अच्छे लोग यदि समय-समय पर अपने भायोजनों में इसकी चर्चा करते रहे; तो इसमें आन्दोलन गति पकड़ सकती है। अतः दूध आरसे भी चाहें कि आप हमें इस प्रकार का सहयोग दें।

श्रीमेहता—उपदेश करने का तो हमारा अधिकार है नहीं; क्योंकि हम लोग राजनैतिक व्यक्ति हैं। राजनीति में जिस प्रकार हमने निर्लोभ सेवा की है, उस पर से हमें उसके सम्बन्ध में कहने का अधिकार है। पर धर्म का यह उपदेश नहीं कर सकते और करना भी नहीं चाहिए। बैसे तो मैं कभी-कभी इसकी चर्चा करता हूँ और भागे भी करता रहूँगा।

चुनाव के सम्बन्ध में किये जाने वाले कार्यक्रम को लेकर जब उन्हें उनकी पार्टी का सहयोग देने के लिए कहा गया तो उन्होंने कहा—मैं अभी यहाँ रहने वाला हूँ नहीं। हमारी पार्टी के दूसरे सदस्य इस कार्य में ज़रूर भाग लेंगे। पर काम बेवत घोषणा से नहीं होने बना है। इसके लिए तो सड़े होने वाले उम्मीदवारों और विशेषतः जनता को जागरूक बनाने की आवश्यकता है। अतः आप जनता में भी कार्य करें।

आचार्यश्री—जनता में हमारा प्रयाग चानू है । इसको हम उम्मीद-वारों में भी शुरू करना चाहते हैं ।

आचार्यश्री और सन्त विनोबा भावे

आचार्यश्री ने वि०ग० २००८ का वर्षा-नाम दिल्ली में बिनाया था । उसके पूर्ण होते ही उन्हें वहाँ में अन्यत्र विहार करना था । कुछ दिनों पूर्व राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद के साथ हुई बातचीत के प्रसंग में आचार्यश्री को पता चला कि विनोबाजी एक-दो दिन में ही दिल्ली पहुँचने वाले हैं । राष्ट्रपतिजी की इच्छा थी कि वे विनोबाजी से प्रत्यक्ष मिलें । आचार्यश्री स्वयं भी उनसे विचार-विनिमय करना चाहते थे । विनोबाजी आये, उधर चानुर्माण समाप्त हुआ । मार्गशीर्ष कृष्ण द्वितीया को राजघाट पर मिलने का समय निश्चित हुआ । आचार्यश्री वहाँ गये और उधर से विनोबाजी भी आ गए । गांधी-समाधि के पास बैठ कर बातचीत प्रारम्भ हुई । उसके कुछ अंश यहाँ दिये जाते हैं ।

सन्त विनोबा—श्रमण-परम्परा में तो पद-यात्रा सदा से चली ही है, अब मैंने भी आपकी उस वृत्ति को ले लिया है ।

आचार्यश्री—लोग मुझसे पूछा करते हैं कि आज के युग में घाट पैदल यात्रा क्यों अपनाये हुए है ? वायुयान या मोटर से जितना शीघ्र अपने लक्ष्य-स्थान पर पहुँचा जा सकता है; वहाँ पैदल चलकर पहुँचने में समय का बहुत अपव्यय होता है । मैं उन्हें कहा करता हूँ कि भारत की जनता ग्रामों में बसती है और उससे सम्पर्क करने के लिए पद-यात्रा बहुत उपयोगी है । आपका ध्यान भी इधर गया है; यह प्रसन्नता की बात है । अब यदि किसी कांग्रेसी ने मेरे सामने यह प्रश्न रखा तो मैं कहूँगा कि वह उसका उत्तर विनोबाजी से ले ले ।

और फिर वातावरण हँसी से सूज उठा ।

मन्त विनोबा—घाघ प्रतिदिन कितना खन लेते हैं ?

शाखायंथी—साधारणतया लगभग दन-बारह मील ।

मन्त विनोबा—इतना ही लगभग मैं खनता हूँ ।

शाखायंथी—जनता के आध्यात्मिक और नैतिक स्तर को ऊँचा करने की दृष्टि में धनुवन-मण्ड के रूप में एक आन्दोलन प्रारम्भ किया गया है । क्या आपने उसके नियमों-नियम देखे हैं ?

मन्त विनोबा—हाँ, मैंने उसे पढ़ा है । आपने धन्यता किया है । धनुवन का तात्पर्य यही तो है कि बम-से-बम इतना दन तो होना ही चाहिए ।

शाखायंथी—हाँ, आप ठीक कह रहे हैं । पूर्ण दन की अभावता में ये धनुवन है । नैतिक जीवन की यह एक साधारण मीमा है ।

मन्त विनोबा—अहिंसा और मरण का मेल नहीं हो पा रहा है, इमीनिंग अहिंसा का पक्ष दुर्बल हो रहा है । अहिंसा पर जिनका बल दिया गया है, उनका बल मरण पर नहीं दिया गया । यही कारण है कि जैन गुरुओं में अहिंसा-विषयक जिनकी सावधानी देनी जानी है उनका मरण-विषयक नहीं ।

शाखायंथी—अहिंसा और मरण की पूर्णता परम्परादेश है । एक के अभाव में दूसरे की भी गौरवपूर्ण पालना नहीं हो सकती । धनुवन-कार्यक्रम अन्तर्गत में खनने वाले अगत्य का एक प्रबल प्रतिकार है । अहिंसक दृष्टिकोण के साथ जब सम्बन्धित अन्तर्गत की स्थापना होती, सभी आध्यात्मिक और नैतिक स्तर उन्नत बन सकेगा ।

धनुवन-नियमों में निषेधरत नियम ही अधिक है । हमारे विश्वास में किसी भी सर्वांग के नियम में निषेध जिनका पूर्ण होना है, उनका विधान नहीं । इस विषय में आपसे क्या विचार है ?

मन्त विनोबा—यै अकारणिक दृष्टि को सम्यक करना है । इनका देने कई बार सम्पर्क भी किया है ।

आचार्यश्री और मुरारजी देसाई

आचार्यश्री बम्बई में थे। उस समय मुरारजी देसाई वहाँ के मुख्य-मन्त्री थे। वे बम्बई के कार्यक्रमों में दो बार सम्मिलित हो चुके थे; परन्तु बातचीत करने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था। वे चाहते थे कि आचार्यश्री में व्यक्तिगत बातचीत हो। आचार्यश्री भी उनके लिए उत्सुक थे। समय की कमी और विभिन्न व्यवधानों के कारण ऐसा नहीं हो सका। जब बम्बई से विहार करने का अवसर आया; तब अन्तिम दिन आचार्यश्री मुरारजी भाई की कोठी पर गये। एक तरफ विदाई का कार्यक्रम था तो दूसरी तरफ मुरारजी भाई से वार्तालाप। बीच में बहुत थोड़ा ही समय था। फिर भी आचार्यश्री वहाँ पधारे। मुरारजी भाई ने बड़ा मत्कार किया और बहुत प्रसन्न हुए। औपचारिक वार्तालाप के पश्चात् जो बातें हुईं, उनमें से कुछ ये हैं :

आचार्यश्री—घण्टे दो बार सभा में आये; पर वैयक्तिक बातचीत नहीं हो सकी।

श्री देसाई—मैं भी ऐसा चाहता था; परन्तु मुझे यह बट्टिन लगा। इधर कुछ दिनों से मैंने धार्मिक उत्सवों में जाना कम कर दिया है और घण्टेको भगने यहाँ बुना कँगे सकता था !

आचार्यश्री—धार्मिक कार्यों में कम भाग लेने का क्या कारण है ?

श्री देसाई—मेरे नाम का वहाँ उपयोग किया जाता है। यह सम्प्रदाय बढ़ाने का तरीका है। मैं सम्प्रदायों में दूर भागने वाला व्यक्ति इन्ने कतई पसन्द नहीं करता।

आचार्यश्री—वहाँ सम्प्रदाय बढ़ाने की बात हो, वहाँ के लिए तो मैं नहीं कहना, पर जहाँ प्रमाण्यदायिक रूप से काम किया जाता हो और उसमें यदि धार्मिकता और नैतिकता की बात मिलता हो तो उसमें किसी के नाम का उपयोग होना मेरी दृष्टि में कोई बुरा नहीं है।

श्री देसाई—घण्टे लोग प्रचार-कार्य में क्यों पड़ते हैं ? क्यों को

तो प्रचार से दूर रहना चाहिए ।

भाचार्यधी—साधुत्व की अपनी मर्यादा में रहने हुए जनता में सत्य और अहिंसा-विषयक भावना को जागृत करने का प्रयास मेरे विचार से उत्तम कार्य है ।

श्री देसाई—बुराई न करने की प्रतिज्ञा दिलाना मुझे उपयुक्त नहीं लगता । इस विषय में गांधीजी से भी मेरा विचार-भेद था । मैंने उनसे कहा था—“आप प्रतिज्ञा दिलाकर लोगों को आश्रम में रखते हैं । लोग आपको सुश करने के लिए यहाँ आ जाते हैं । यहाँ की प्रतिज्ञाएँ न निभा पाने पर वे उसे छिपकर तोड़ते हैं ।” गांधीजी से मेरा यह मतभेद अन्त तक चलता ही रहा । आपके सामने भी वही बात रखना चाहूँगा कि आपको सुश करने के लिए लोग अनुग्रही बन तो जाते हैं; परन्तु वे इसे ठीक ढंग से निभाते हैं; इसका क्या पता ?

भाचार्यधी—प्रतिज्ञा के बिना सबल में दृढ़ता नहीं आती, इसलिए उसमें मेरा दृढ़ विश्वास है । कोई भी श्रत या प्रतिज्ञा आत्मा से ली जाती है और आत्मा से ही पाली जाती है । श्रतात् न वह ग्रहण कराई जा सकती है और न पालन कराई जा सकती है । कौन प्रतिज्ञाओं को पालता है और कौन नहीं; इस विषय में मैं उसके आत्म-साध्य को ही महत्त्व देता हूँ ।

अनुग्रही के विषय में आपके कोई मुझसे हों तो बतलाइये ।

श्री देसाई—इस दृष्टि से मैंने अभी तक पढ़ा नहीं है । अब आपने कहा है; इसलिए इस दृष्टि से पढ़ूँगा और आपके शिष्य मिलेंगे; उन्हें बतला दूँगा ।

प्रश्नोत्तर

भाचार्यधी का जन-सम्पर्क इतने विविध रूपों में है कि उन सब की गणना करना एक प्रयास-साध्य कार्य है । कुछ व्यक्ति उनके पास धर्मो-

पदेन गुनने के लिए घाते हैं तो कुछ धर्म-वर्षा के लिए । कुछ उन्हें सम्मान देने के लिए घाते हैं तो कुछ मार्ग-दर्शन देने के लिए । कुछ की बातों में केवल व्यावहारिक रूप होता है तो कुछ की बातों में तन्त्र की गहरी जिज्ञासा । देन और विदेन के विभिन्न व्यक्ति विभिन्न रूपों में अपनी जिज्ञासाएँ उनके सामने रखने रहे हैं । शाचार्यश्री उन सब की जिज्ञासाओं को धान्य करने का प्रयत्न करने रहे हैं । प्रायः जिज्ञासुओं को शाचार्यश्री के उत्तर तथा स्पष्टीकरण में तृप्त होकर जाने देना पड़ा है । यह बात मैं अपनी धार में नहीं कह रहा; किन्तु उन व्यक्तियों के द्वारा शाचार्यश्री के प्रति विद्ये गये या व्यक्त किये गये उद्गार इस बात के साक्षी हैं । यहाँ हम देनी तथा विदेनी विद्वानों के द्वारा किये गये कतिपय प्रश्न और शाचार्यश्री द्वारा प्रदत्त उत्तर दे रहे हैं ।

डा० के० जी० रामाराव

दक्षिण भारत के सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डा० के० जी० रामाराव एम० ए०, पी-एच० डी० शाचार्यश्री के सम्पर्क में आये । शाचार्यश्री के साथ उनके जो तात्त्विक प्रश्नोत्तर चले, उनमें से कुछ यों हैं :

श्री रामाराव—जीवन सक्रियता का प्रतीक है (Life is activity) । ऋमन्. वैराग्य का होना कर्म-विमुक्तता है, अतः वैराग्य तथा जीवन का सामजस्य कैसे हो सकता है ?

शाचार्यश्री—जिस रूप में आप जीवन को सक्रिय बतलाते हैं; जीवन की वे क्रियाएँ सोपाधिक हैं । जैसे; भोजन करना तब तक आवश्यक है, जब तक भूख का अस्तित्व हो । जिन कारणों से ये सोपाधिक सक्रियताएँ रहती हैं; वे कारण यदि नष्ट हो जायें तो फिर उनकी (सक्रियताओं) की आवश्यकता नहीं रहेगी । आत्मा की स्वाभाविक सक्रियता है—ज्ञान के निज स्वरूप में रमण करना; जो हर क्षण रह सकती है । इस रूप में सक्रिय रहती हुई आत्मा अन्वियों से (आत्म-रमण-व्यतिरिक्त अन्य क्रियाओं से) अक्रिय रहती है । सोपाधिक सक्रियता वैकारिक या वैभाविक है ।

उसे मिटाने के लिए त्याग, तपस्या आदि की आवश्यकता होती है ।

श्री रामाराव—समाज-प्रवृत्ति का हेतु है—दूसरों के लिए जीना । यदि प्रत्येक व्यक्ति वैराग्य भ्रगीकार कर ले तो वह एक प्रकार का स्वार्थ होगा । स्वार्थपरता दो प्रकार की है—एक तो यह कि अपने लिए धन आदि सांसारिक सुख-साधनों के सचय का प्रयत्न करना । दूसरी यह कि दूसरों की चिन्ता न करते हुए केवल अपनी मुक्ति की लालसा करना । इस स्थिति में केवल अपनी मुक्ति की लालसा रखने से क्या जीवन का ध्येय पूर्ण हो सकता है ?

आचार्यश्री—दूसरे प्रकार की स्वार्थपरता जो आपने बतायी, वस्तुतः वह स्वार्थपरता नहीं है । यदि सभी व्यक्ति उस पर आ जायें तो मेरे खयाल में उसमें दूसरों को हानि की कोई सम्भावना नहीं होगी । सभी विकासोन्मुख होंगे । वह स्वार्थ नहीं; परमार्थ होगा । जब कि हम मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति जीवन-विज्ञान करने का जन्म-सिद्ध अधिकारी है, जब कि वह अकेला जन्मता है, अकेला मरता है, तब यदि अकेला अपने-आपको उठाने की आत्म-विकास करने की, चेष्टा करता है तो उसका ऐसा करना स्वार्थ कैसे माना जायेगा ?

श्री रामाराव—क्या पुण्य-कर्म मोक्ष का रास्ता—मोक्ष की घोर से जाने वाला नहीं है ?

आचार्यश्री—पुण्य शुभ कर्म है । कर्म-बन्धन है, अतः पुण्य भी मोक्ष में बाधक है । 'कर्म' शब्द के दो अर्थ हैं—१. क्रिया, २. क्रिया के द्वारा जो दूसरे विजातीय पुद्गल आत्मा के साथ मन्वद्ध हो जाते हैं—चिपक जाते हैं; वे भी कर्म कहे जाते हैं । अल्पे कर्म पुण्य और बुरे कर्म पाप कहलाते हैं । बुरे कर्म तो स्पष्टतः मोक्ष में बाधक हैं ही । अल्पे कर्मों का फल दो प्रकार का है—उनसे पुराने बन्धन टूटते हैं; किन्तु साप-साप में शुभ पुद्गलों का बन्धन भी होता रहता है । बन्धन मोक्ष में बाधक है ।

श्री रामाराव—घन्ने बमों के बन्धनों के टूटने के साथ-साथ पुनः बगन क्या ?

आचार्यश्री—उदाहरणस्वरूप बगीचे में घास घूमने जायेगी; वहीं उमगे घनत्वता के पुराने दूर होंगे और स्वल्पता के घन्ने पुनः समाहित होंगे। अन्धी क्रिया में मुख्य का आत्म-मुक्ति है; किन्तु जब तक उम क्रिया में राग-द्वेष का घन समाहित रहता है; उममें बन्धन भी है। गेहूँ की फेंती भी जानी है, गेहूँ के साथ धारा या भूसा भी पैदा होता है। वादाम के साथ ध्वने भी पैदा होने हैं। जब तक बीजराजता नहीं आयेगी, तब तक की घन्नी प्रवृत्ति मन्-क्रियन् भग्न में राग-द्वेष से सर्वथा विरहित नहीं होगी, अतः बन्धन होगा रहेगा।

श्री रामाराव—बन्धन में मुट्कारा कैसे हो ?

आचार्यश्री—ज्यों-ज्यों कलावायस्या का दमन होता रहेगा; त्यो-त्यो जो क्रियाएँ होंगी; उममें बन्धन कम होगा; हल्का होगा; आत्मा ऊँची उठती जायेगी। एक अवस्था ऐसी आयेगी; जिसमें सर्वथा बन्धन नहीं होगा; क्योंकि उसमें बन्धन के कारणों का अभाव होगा।

श्री रामाराव—क्या निष्काम भाव से कर्म करने पर बन्धन बम होगा ?

आचार्यश्री—निष्काम भावना के साथ आत्म-अवस्था भी शुद्ध होनी चाहिए। बहुत-से लोग कहने को कह देते हैं कि वे निष्काम कर्म करते हैं; किन्तु जब तक आत्म-अवस्था विशुद्ध नहीं होती; तब तक वह निष्कामता नहीं कही जा सकती।

श्री रामाराव—साइकोलोजी (मनोविज्ञान-शास्त्र) का विचार-क्षेत्र मानसिक क्रिया से ऊपर नहीं जाता। आपके विचार इस विषय में क्या हैं ?

आचार्यश्री—आत्मा की मानसिक, वाचिक व कायिक क्रिया तो है ही; इनके अतिरिक्त 'अध्यवसाय' या 'परिणाम' नाम की एक सूक्ष्म क्रिया भी है। स्थावर जीवों के मन नहीं होता; किन्तु उनके भी वह

सूक्ष्म क्रिया होती है; उसे 'योग', 'सेवया' आदि नामों से अभिहित किया जाता है।

श्री रामाराव—जिनके मन नहीं होता; क्या उनके आत्मा नहीं होती है।

आचार्यश्री—आत्मा के आलोकनात्मक ज्ञान के साधन का नाम मन है। जिस प्रकार पाँचों इन्द्रियाँ ज्ञान का साधन हैं, उसी प्रकार मन भी। यदि दूसरे शब्दों में कहा जाये तो आत्मा की बौद्धिक क्रिया का नाम मन है। जिनकी बौद्धिक क्रिया अविबसित होती है, उन्हें अमनस्क कहा जाता है; अर्थात् उनके मन नहीं होता।

श्री रामाराव—क्या इन्द्रियों की प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति से आत्मा मुक्ति पाती है ?

आचार्यश्री—प्रवृत्ति दो प्रकार की है—सत् प्रवृत्ति तथा असत् प्रवृत्ति। सत्प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों आत्म-मुक्ति की साधनभूत हैं।

श्री रामाराव—मनोविज्ञान ऐसा मानता है कि विचार शक्ति में मनुष्य कार्यप्रवृत्ति में (सतत चेष्टा से) विकास कर सकता है, किन्तु कुछ बातें ऐसी होती हैं जो सत्कारलभ्य हैं। मनोविज्ञान में विचारधारा के तीन प्रकार माने गये हैं— १. माता-पिता की अपनी सन्तान के प्रति जैसी रसात्मक भावना होती है, वैसी भावना रखना और दूसरे से वैसी ही रसात्मक भावना की माँग करना, २. पृथिव्य भावनाओं में पूर्णा करना व उन्हें छोड़ने की प्रवृत्ति करना, ३. उत्तेजक काम-शोध वासना आदि। ये तीनों भावनाएँ स्वाभाविक शक्तियाँ (Energies) हैं। इनकी सरलतया मिटाया नहीं जा सकता। इनको दूसरी ओर लगाया जा सकता है; अर्थात् दूसरे मार्ग पर ले जाने की कोशिश की जा सकती है। स्कूलों में चरित्र-गठन की शिक्षा के लिए यह विधि प्रयुक्त की जाती है कि पहले को प्रोत्साहन दिया जाये और तीसरी की रोकने की चेष्टा की जाये; क्या यह ठीक है ?

आचार्यश्री—तीसरी की रोकने का प्रयास करना बटुन ठीक है।

पहली में प्रवृत्ति करने की या प्रोत्साहन देने की प्रेरणा एक सामाजिक भावना है। जो दूसरी विचारधारा है; उसको प्रथम देना, प्रोत्साहन देना उत्तम है।^१

डा० हवंटंटिसि

डा० हवंटंटिसि एम० ए०, डी० फिल् आम्ब्रिया के महास्वी पत्रकार तथा लेखक है। वे डा० रामाराव के साथ ही हाँसी में आचार्यश्री के सम्पर्क में आये थे। आचार्यश्री के साथ हुए उनके कुछ प्रश्नोत्तर इस प्रकार है।

डा० हवंटंटिसि—लगभग पचास वर्ष पूर्व रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय वालों में ऐसी भाव-धारा उत्पन्न हुई कि वे जो कुछ कहते हैं; वह सर्वथा मान्य, विश्वसनीय व सत्य है। उसमें अविश्वास या भूल की कोई गुंजायन नहीं। किन्तु इस पर लोगो ने यह शका की कि मनुष्य में भूल का होना सम्भव है। क्या आप भी आचार्य के विषय में ऐसा मानते हैं? अर्थात् वे जो कुछ कहते हैं, क्या वह एतान्ततः स्वयन्-गुण्य ही होगा है?

आचार्यश्री—यद्यपि सच के लिए, अनुयायियों के लिए आचार्य ही एक मात्र प्रमाण है। उनका कथन—आदेश सर्वथा मान्य व स्वीकार्य होता है; किन्तु हम ऐसा नहीं मानते कि आचार्यों से कभी भूल होगी ही नहीं। जब तक सर्वज्ञ नहीं होते, तब तक भूल की सम्भावना रहती है। यदि ऐसा प्रसंग हो तो आचार्य को वह बान निवेदन की जा सकती है। वे उस पर उचित ध्यान देने हैं।

डा० हवंटंटिसि—क्या कभी ऐसा काम पड़ सकता है; जब कि एक पूर्वजन्त आचार्य के बनाये नियमों में परिवर्तन किया जा सके।

आचार्यश्री—ऐसा सम्भव है। पूर्वजन्त आचार्य उत्तरवर्ती आचार्य के

लिए ऐसा विधान करते हैं कि देश, काल, भाव, परिस्थिति आदि को देखते हुए व्यवस्थामूलक नियमों में परिवर्तन करना चाहें तो कर सकते हैं। किन्तु साथ-साथ में यह ध्यान रहे—धर्म के मौलिक नियमों में परिवर्तन करने का अधिकार किसी को भी नहीं है। वे सर्वदा व सर्वथा अपरिवर्तनशील हैं।

डॉ० हर्वर्टटिसि—क्या जीव पुद्गल पर कुछ असर कर सकता है ?

प्राचार्यश्री—हां, जीव पुद्गलों को अनुकूल-प्रतिकूल अनुभवित्त या परिणत करने का साधक्यं रखता है। जैसे—कर्म पुद्गल है। जीव कर्म-बन्ध भी करता है और कर्म-निर्जरण भी। इससे स्पष्ट है कि जीव पुद्गलों पर अपना प्रभाव डाल सकता है।

डॉ० हर्वर्टटिसि—जीव मनुष्य के शरीर में कहाँ है ?

प्राचार्यश्री—शरीर में सर्वत्र व्याप्त है। कहीं एकत्र—एक स्थान-विशेष पर नहीं। उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है, जब शरीर के किसी भी धर्म-प्रत्यय पर चोट लगती है, तत्क्षण पीडा अनुभव होती है।

डॉ० हर्वर्टटिसि—जब सब जीव ससार-भ्रमण छोड़ कर लगे, तब क्या होगा ?

प्राचार्यश्री—बिना योग्यता व साधनों के सब जीव कर्म-मुक्त नहीं हो सकते। जीव सत्त्वा में इतने हैं कि उनका कोई अन्त नहीं है। उनमें से बहुत कम जीवों को वह सामग्री उपलब्ध होती है, जिससे वे मुक्त हो सकें। जब कि ससार की स्थिति यह है कि करोड़ों लोगों में लाली मिश्रित है, लाखों में हजारों विद्वान् या कवि हैं, हजारों में भी ऐसे बहुत कम हैं; जो स्वानुभूत बात कहने वाले तत्त्वज्ञानी हों। तब अध्यात्म-रत योगी ससार में कितने मिलेंगे; जो ससार-भ्रमण छोड़ कर लेने दें ?

डॉ० फेलिक्स डेलिय

प्राच्य सस्कृति विषयक उच्चतर अध्यायन के लिए एव विद्या-संस्थान

के प्रतिष्ठानक तथा गन्तव्य डा० फंक्चन वेल्च द्वारा लिखे गये प्रश्नों के आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त उत्तर इस प्रकार हैं :

डा० वेल्च—योग की उपयोगिता क्या है ?

आचार्यश्री—मानसिक व आध्यात्मिक शक्तियों के विकास के लिए य इन्द्रिय-विजय के लिए उमत्ता व्यवहार होना है ।

डा० वेल्च—इन्द्रिय-दमन का प्रथम स्तर क्या है ?

आचार्यश्री—आत्मा और शरीर में भेद का ज्ञान होना एवं आत्मा के निर्वाण-स्वरूप तक पहुँचने की भावना होना; इन्द्रिय-दमन का प्रथम स्तर है ।

डा० वेल्च—ज्ञान व चरित्र—इन दोनों में जैनों ने किसको अधिक महत्त्व दिया है ?

आचार्यश्री—जैन-दृष्टि में ज्ञान और चरित्र-निर्माण; दोनों समान महत्त्व रखते हैं ।

डा० वेल्च—जैन-योग का अन्तिम ध्येय क्या है ?

आचार्यश्री—जैन-योग का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है ।

डा० वेल्च—काम-विजय के सक्रिय उपाय कौनसे हैं ?

आचार्यश्री—मोहजनक कथा न करना, चञ्चु-संयम रखना, मारक व उत्तेजक वस्तुएँ न खाना, अधिक न खाना, विकारोत्पादक वातावरण में न रहना, मन को स्वाध्याय, ध्यान या अन्य सत्प्रवृत्तियों में लगाये रहना आदि काम-विजय के सक्रिय उपाय हैं ।

डा० वेल्च—क्या जैन विवाह को एक धर्म-संस्कार मानते हैं ? विवाह-विच्छेद-प्रथा के प्रति जैनों का दृष्टिकोण क्या है ?

आचार्यश्री—जैन विवाह को धर्म-संस्कार नहीं मानते । विवाह-विच्छेद की प्रथा जैन समाज में नहीं है । जैन लोग उक्त प्रथाओं को धर्म में सम्मिलित नहीं करते ।

डा० वेल्च—जैन साधुओं में परस्पर प्रतिस्पर्धा है या नहीं ?

आचार्यश्री—आत्म-साधना एवं अध्ययन के क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा होती

है। यश-प्राप्ति की स्पर्धा बंध नहीं है। यश की अभिलाषा रखना दोष समझा जाता है।

डा० वेल्थि—क्या धर्मगुरु से कभी कोई गलती नहीं होती? क्या वे सदा सन्तुष्ट रहते हैं? क्या वे हमेशा स्वस्थ रहते हैं? क्या औपधोपचार भी विहित हैं? क्या उन्हें स्वास्थ्यकर भोजन हमेशा मिलता रहता है?

भाचार्यश्री—गुरु भी अपने को साधक मानता है। साधना में कोई भूल हो जाये तो वे उसका प्रायश्चित्त करते हैं। हमारी दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ सुख आत्म-सन्तोष है। इसकी पुष्ट में कमी नहीं होती। शारीरिक स्थिति के बारे में कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह भिन्न-भिन्न क्षेत्र और परिस्थितियों पर निर्भर है। साधु भिक्षा द्वारा भोजन प्राप्त करते हैं, इसलिए भोजन सदा स्वास्थ्यकर ही मिले; यह बात आवश्यक नहीं।

साधु को शारीरिक व्यथाएँ होती हैं और मर्यादा के अनुकूल उनका उपचार करना भी बंध है। औपधि-सेवन करना या अपनी आत्म-शक्ति से ही उसका प्रतिकार करना, यह वैयक्तिक इच्छा पर निर्भर है।

डा० वेल्थि—ससार के प्रति साधुओं का कर्तव्य क्या है?

भाचार्यश्री—हमें विश्व के दुःख के जो मूल-भूत कारण हैं, उन्हें नष्ट करना चाहिए। अपने आत्म-विकास और साधना के साथ-साथ जन-कल्याण करना; प्रहिंसा, सत्य और अपरिग्रह का प्रचार करना; साधुओं का लक्ष्य है।^१

श्री जे० धार० बर्टन

भाचार्यश्री बम्बई के उपनगरों में थे; तब दो अमेरिकन सज्जन श्री जे० धार० बर्टन और श्री डब्ल्यू० टी० वेल्स दर्शनार्थ आये। ये विभिन्न धर्मों की अन्तर्-भावना का परिशीलन करने के लिए एशियाई

देशों में भ्रमण करते हुए यहाँ आये थे। आचार्यश्री के साथ उनका वार्तालाप-प्रसंग इस प्रकार हुआ :

श्री बर्टन—मैंने बौद्ध दर्शन में यह पढ़ा है कि तृपणा या आनाभा को मिटाना जीवन-विकास का साधन है। जैन दर्शन की इस विषय में क्या मान्यता है ?

आचार्यश्री—जैन धर्म में भी वातना, तृपणा, लिप्सा आदि का वर्जन करने के उपदेश हैं। आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप तक पहुँचाने में ये दोष बड़े बाधक हैं।

श्री बर्टन—ईसा के उपदेशों के सम्बन्ध में आपका क्या सयान है ?

आचार्यश्री—अपरिग्रह और अहिंसा आदि अध्यात्म तत्त्वों के सम्बन्ध में जो कुछ उन्होंने कहा है; वह हृदयस्पर्शी है।

श्री बर्टन—क्या आप धर्म-परिवर्तन भी करते हैं ?

आचार्यश्री—हमारा कार्य तो धर्म के सत्य तत्त्वों के प्रति व्यक्ति के मन में थड़ा और निष्ठा पैदा करना है। हृदय-परिवर्तन द्वारा व्यक्ति को आत्म-विराम के पथ का सच्चा पथिक बनाना है। कही भी रूढ़ि दृष्टि अस्ति ऐसा करने का अधिशारी है। एक मात्र बाहरी रग-रग को बदलने में मुझे धेयस् प्रतीत नहीं होता, क्योंकि धर्म का सीधा सम्बन्ध आत्म-स्वरूप के परिमार्जन और परिष्कार में है।

श्री बर्टन—थड़ा का क्या तात्पर्य है ?

आचार्यश्री—मन्य विद्वान् का थड़ा बहते है।

श्री बर्टन—मन्य विद्वान् किसके प्रति ?

आचार्यश्री—आत्मा के प्रति, परमात्मा के प्रति और आध्यात्मिक मन्त्रों के प्रति।

श्री बर्टन—क्या कर्तव्य ही धर्म है ?

आचार्यश्री—धर्म अक्षय्य कर्तव्य है; पर मनुष्य कर्तव्य धर्म नहीं। सामाजिक जीवन में रहते हुए व्यक्ति को पारिवारिक, सामाजिक आदि कई कर्तव्य ऐम भी करने पड़ते हैं; जो धर्मानुमोदित नहीं होते। समाज

की दृष्टि से तो वे कर्तव्य हैं; पर अध्येतम धर्म नहीं। आत्म-विकास उनसे नहीं सधता।¹

श्री बुडलेंड केलर

अन्तर्राष्ट्रीय शाकाहारी मण्डल के उपाध्यक्ष तथा यूनेस्को के प्रतिनिधि श्री बुडलेंड केलर जो शाकाहार एवं अहिंसावादी लोगों से मिलने व विचार-विमर्श करने सपत्नीक भारत में आये थे, दम्बई में आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। श्री केलर ने कहा कि भारतवर्ष एक शाकाहार-प्रधान देश है और जैन धर्म में विशेष रूप से आम्पियवर्जन का विधान है। अतः भारतवर्ष से; तथा मुख्यतः जैनो से; हमारा एक सहज सम्बन्ध एवं आत्मीय भाव जुड जाना है।

आचार्य प्रवर के साथ श्री केलर का जो वार्तालाप हुआ; उसका सारांश यो है।

श्री केलर—रुस विश्व की उत्तमनों अथवा समस्याओं के लिए साम्यवाद के रूप में जो समाधान प्रस्तुत करता है; उसके सम्बन्ध में आपका क्या विचार है ?

आचार्यश्री—साम्यवाद समस्याओं का स्थायी और शुद्ध हल नहीं है, वह धर्म-सम्बन्धी समस्याओं का एक सामयिक हल है। सामयिक समस्याओं का सामयिक हल जीवन की समस्याओं को सुलभता सके; यह सम्भव नहीं।

श्री केलर—क्या राजनैतिक विधि-विधानों से लोक-जीवन की बुरादों और विकृतियों का विच्छेद हो सकता है ?

आचार्यश्री—विकारों अथवा बुरादों के मूलोच्छेद का सही साधन है—हृदय-परिवर्तन। विकारों के प्रति ध्यक्वि के मन में घृणा और परिहृत्यता के भाव पैदा होने से उसमें स्वतः परिवर्तन आता है। हृदय बदलने पर जो बुरादों छूटती हैं; वे स्थायी रूप में छूटती हैं और बानून

या डण्डे के बन पर जो बुराइयाँ छुड़ाई जाती हैं; वे तब तक छुड़ी रहती हैं; जब तक विकारों में फँसे व्यक्ति के सामने डण्डे का भय रहे।

श्री केलर—ससार में जो कुछ दृश्यमान है; वह क्षणभंगुर है; नाशवान् है फिर व्यक्ति क्यों त्रिशाशील रहे; किसलिए प्रयत्न करे ?

आचार्यश्री—दृश्यमान-अदृश्यमान भौतिक पदार्थ नाशवान् है भौतिक सुख क्षण-विषयसी है; पर आत्म-मुक्ति तो शाश्वत, चिरन्त और अविनाशक है। उसी के लिए व्यक्ति को सत्कर्मनिष्ठ और प्रयत्नशील रहने की अपेक्षा है। भौतिक दृश्यमान जगत् या सुख-सामर्थ्य जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है। चरम लक्ष्य है—आत्म-साक्षात्कार और आत्म-विसोपन।

श्री केलर—दूसरे लोगों में जो बुराइयाँ हैं; उनके विषय में आप टीका करते हैं या मौन रहते हैं ?

आचार्यश्री—वैयक्तिक आरोप या टीका करने की हमारी नीति नहीं है। पर सामुदायिक रूप में बुराइयों पर तो आघात करना ही होता है; जो आवश्यक है।

श्री केलर—मनुष्य जो कर्म करता है; क्या उसका फल-परिपाक ईश्वराधीन है ?

आचार्यश्री—ईश्वर या परमात्मा केवल द्रष्टा है। व्यक्ति जैसा कर्म करता है; उसका फल स्वयं उसे मिलता है। फल-परिपाक कर्म का सहज गुण है। ईश्वर या परमात्मा विगत बन्धन है, निर्विकार है, स्वस्वरूप में अधिष्ठित है। कर्म-फल-प्रदातृत्व से उसका क्या लगाव ?

डानेल्ड-दम्पति

कैनेडियन पादरी श्री डानेल्ड कैप अपनी पत्नी तथा चर्च के अन्य कार्यकर्ताओं के साथ जलगाँव में आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। उनका

वार्तालाप-प्रसंग निम्नांकित है :

श्रीमती कैंप—बाइबिल के अनुसार हम ऐसा मानते हैं कि न्यायी व्यक्ति श्रद्धा से जीवन विताता है ।

आचार्यश्री—हमारी भी मान्यता है कि सच्चा श्रद्धावान् बही है; जो अपने जीवन में अभ्यास को प्रथम नहीं देता ।

श्रीमती कैंप—प्रभु यीशू ने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति यह सोचे कि जिसको तू मारना चाहता है; वह तू ही है ।

आचार्यश्री—भगवान् महावीर का कथन है कि जिस तरह तुझे अपना जीवन प्रिय है; उसी तरह वह सबको प्रिय है । सब जीव जीना चाहते हैं; इसलिए तुम्हें क्या अधिकार है कि तुम दूसरों के प्राण हरो । इस प्रकार बहुत-सी बातें ऐसी हैं; जो विभिन्न धर्मों में समन्वय बनाती हैं ।

श्री कैंप—ससार में व्याप्त अशान्ति और दुःख का कारण क्या है ?

आचार्यश्री—आज का ससार भौतिकवाद में बुरी तरह फँसा है । परिणामस्वरूप उसकी लालसाएँ असीमित बन गई हैं । स्वार्थ के अतिरिक्त उसे कुछ नजर नहीं आता । अध्यात्म; जो शान्ति का सही तत्त्व है; वह दिन-पर-दिन भुलाया जा रहा है । जहाँ तक मैं सोचता हूँ; आज के सपर्यं और अशान्ति का यही कारण है ।

श्री कैंप—हमारी मान्यता यह है कि मनुष्य जब पैदा होता है तो पापमय—पापों को लिये हुए पैदा होता है ।

आचार्यश्री—हमारी मान्यतानुसार जब मनुष्य पैदा होता है तो पाप और पुण्य दोनों लिये हुए पैदा होता है । यदि पुण्य साथ नहीं लाता तो उसे अनुकूल सुख-सुविधाएँ कैसे मिलती ?

श्री कैंप—जो प्रभु यीशू की शरण में आ जाते हैं; उनकी मान्यता रखते हैं; उनके पापों के लिए वे वेनैस्टी (दण्ड) चुका देते हैं ।

आचार्यश्री—तब मनुष्य का अपना कर्तव्य क्या रहा ? हमारी मान्यता यह है कि मनुष्य को पैदा करने वाली ईश्वर-जैसी कोई शक्ति

नहीं है। मनुष्य-जाति अनादिनाशनी है। मत्-अमत्, शुभ-अशुभ मनुष्य के स्वकृत कामों पर आधारित है। उनके लिए मनुष्य स्वयं उत्तरदायी है। अपने भले-बुरे कार्यों के लिए व्यक्ति का अपना उत्तरदायित्व न हो तब मनुष्य का क्या दोष ? वह तो ईश्वर के अनाये चलता है।

श्री कंच—मेरी ऐसी मान्यता है कि हम लोग खुद बूढ़ नहीं कर सकते, सब ईश्वरीय प्रेरणा से करते हैं।

आचार्यश्री—इसमें हमारा विचार-भेद है। हमारे विचारानुसार हम अपने सत्-असत् के स्वयं उत्तरदायी हैं और हमारी मान्यता यह है कि व्यक्ति आत्म-शक्ति से ही कार्य करता है। किसी दूसरी शक्ति से नहीं।



महान् साहित्य-स्रष्टा

अनुलनीय विशेषता

आचार्यश्री जहाँ एक सफल आध्यात्मिक नेता तथा कुशल सघ सञ्चालक हैं; वहाँ महान् साहित्य-स्रष्टा भी हैं। साहित्य-संरत की उनकी प्रविया में एक अनुलनीय विशेषता पायी जाती है। साहित्यकार को बहुधा एकान्त तथा शान्त वातावरण की आवश्यकता होती है, किन्तु इस प्रकृति के विपरीत वे जन-सङ्घ और बोनाहलपूर्ण वातावरण में बैठकर भी एकाग्र हो जाते हैं और साहित्य-रचना करते रहते हैं। यह स्वभाव सम्भवतः उनको इसलिए बना लेना पडा है कि एकान्त चाहने पर भी जनता उनका पीछा नहीं छोड़ती। कुछ उनके स्वभाव की मृदुता भी इसमें बाधक होगी रही है। इतने पर भी साहित्य-ओतस्विनी अपनी पध्याहल रति में बहती ही रहती है।

विविधांगी साहित्य

उनका साहित्य पद्य और गद्य, दोनों ही रूपों में है। भाषा की दृष्टि में वे राजस्थानी, हिन्दी तथा मरहट्ट में लिखते हैं। राजस्थानी तो उनकी मातृ-भाषा है ही, किन्तु हिन्दी और मरहट्ट को भी उन्होंने मातृभाषावन् ही बना लिया है। विषय की दृष्टि में उनका साहित्य काव्य, दर्शन, उपदेश, भजन तथा स्तवन आदि धर्मों में विभक्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त उनके धर्म-अन्देश तथा दैनन्दिन प्रवचनों के सघट्ट भी स्तवन्त्र कृतियों के समान ही अपना महत्त्व रखते हैं।

आचार्य-चरितावलि

आचार्यश्री ने घाटे पूर्ववर्ती आचार्यों के जीवन-चरित्र निकल के तेरापथ के इतिहास का एक महत्वपूर्ण देन दी है। तेरापथ के प्रथम पांच आचार्यों के जीवन-चरित्र पूर्वोक्तों द्वारा पद्यबद्ध किये जा चुके थे, परन्तु उनके पश्चात् तीन आचार्यों के जीवन-चरित्र अनिष्ट थे। के सम्भवतः आचार्य श्री श्री मुन्शी ने अपनी प्रतीक्षा में थे। आचार्यश्री ने उम कार्य को हाथ में लिया और अत्यन्त व्यस्तता में भी उसे सम्पन्न किया। पल्लवप्रिय मारुतमहिमा, डालिम-चरित्र और कालू यशोविलास नामक ग्रन्थों ने तेरापथ के पूर्वोक्तों की चरितावलि की विच्छिन्न कड़ी को जोड़ा और उसे परिपूर्णता का रूप प्रदान किया।

अमाप्य प्रवाह

आचार्यश्री के साहित्य का प्रवाह अनवरत रूप में प्रवहमान है। एक के पश्चात् एक रचनाएँ सामने आती जा रही हैं। उनमें भाषाओं की विभिन्नता है, विषयों की भी विभिन्नता है, विन्तु वे सब भेद बाणी-मंदिर में चढ़े हुए विभिन्न रंग तथा रूप के पुष्पों के सदृश हैं। उनकी साहित्यिक कृतियाँ आज के लिए तो अमाप्य ही कही जा सकती हैं; क्योंकि जिस त्वरा से वे चल रहे हैं उसमें उनकी दयत्ता स्थापित नहीं की जा सकती। उसकी अपेक्षा भी नहीं है। उनके साहित्य का अमाप्य प्रवाह अव्याहत चलता रहे, यही काम्य है।

काव्य-साहित्य

आचार्यश्री के काव्य-साहित्य में राजस्थानी तथा हिन्दी के एवं विशेष उल्लेखनीय हैं। राजस्थानी ग्रंथों में 'कालू-यशोविलास,' 'मारुत-महिमा,' 'डालिमचरित्र,' 'उदाई,' 'गजसुकुमाल' तथा 'सुकुमालिका' आदि प्रमुख हैं। हिन्दी-ग्रन्थों में 'आषाढभूति,' 'भरत-मुक्ति' तथा 'मणि-परीक्षा' आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त 'कालू-उपदेश-वाटिका,'

अद्वैत के प्रति' तथा 'अणुव्रत गीत' आदि उपदेशात्मक, भक्त्यात्मक तथा प्रेरणात्मक गीतों के विभिन्न संकलन है। यहाँ कुछ उद्धरणों द्वारा उनके काव्य-साहित्य का रसास्वादन करा देना अप्रासंगिक नहीं होगा।

कालू-यशोविलास

कालू-यशोविलास में तेरापय के अष्टमाचार्य श्री कालूगणी का जीवन-चरित्र वर्णित है। इसकी भाषा राजस्थानी है; किन्तु कहीं-कहीं गुजराती से भाषित है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि प्राचीन काल में दोनों प्रदेशों का तथा उनकी भाषाओं का निकट सम्बन्ध रहा है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि गुजराती भाषा के जैन-ग्रन्थ राजस्थान में विहार करने वाले साधु-साध्वियों द्वारा भी बहुधा पढ़े जाते रहे हैं और उससे उनकी कृतियों में भी भाषा का मिश्रण होता रहा है। तेरापय के आद्य आचार्य स्वामी भीखणजी तथा चतुर्थ आचार्यश्री जयाचार्य के साहित्य में—एटले, माटे, शुळे, एम, केटला आदि गुजराती भाषा के अनेक शब्द प्रयुक्त होते रहे हैं। आचार्यश्री ने 'कालू-यशो-विलास' में उसी प्राचीन परम्परा को प्रयुक्त किया है। इसमें उन्होंने हिन्दी का भी प्रयोग किया है। वस्तुतः वे पहले-पहले भाषा के विषय में काफी मुक्त होकर चले हैं। इसमें विभिन्न भाषाओं के शब्द तो प्रयुक्त हुए ही हैं, किन्तु पद्य की सुविधा के लिए शब्दों का अपभ्रंश भी किया गया है। उनके राजस्थानी तथा हिन्दी के कुछ प्रथम ग्रन्थों में यह क्रम रहा है; परन्तु 'कालू-उपदेश-वाटिका' की प्रशस्ति से यह बात सिद्ध होती है कि बाद में स्वयं उनको यह मिश्रण खटकने लगा। वे कहते हैं :

पर प्राचीन पद्धति है अनुसार जो
भाषा यणी मूँग घावल री खीचड़ी ।
वापिस देरुया एक-एक कर द्वार जो
तो अखरी बोली मिश्रित बीटी खरी ॥

यहाँ हिन्दी को 'खड़ी बोली' कहा जाता रहा है; अतः 'बँठी बोली' से आचार्यश्री का तात्पर्य राजस्थानी से है। इस अखरन ने आचार्यश्री की आगे की कृतियों पर काफी प्रभाव डाला है। उनमें भाषा का मिश्रण न होकर विशुद्ध किसी एक भाषा का ही प्रयोग हुआ है।

'कालू यशोविलास' विभिन्न मधुर लयों में निबद्ध है। उनमें प्रसंगानुसार ऋतुओं, स्थानों तथा मनोभावों का अत्यन्त कुशलता से वर्णन किया गया है। घटनाओं का तथा उस समय तक स्वयं लेखक का भी राजस्थान से ही अधिक सम्पर्क रहा था; अतः उसमें राजस्थान के अनेक स्थलों का अत्यन्त रोचक वर्णन हुआ है। एक जगह उन्होंने राजस्थान की भयंकर गर्मी और उसमें होने वाली हैरानियों का लेखा-जोखा देकर उस स्थिति में गृहस्थ-जीवन और साधु-जीवन का भेद उपस्थित करते हुए श्रीराम-ऋतु की सजीव अभिव्यक्ति इस प्रकार की है :

ज्येष्ठ महीने हो ऋतु गरमी नों, मध्यम सीने हो हिये हठ भीनों।
 लहर झालां हो अति विकरालां, बद्धि-जगला हो जिम थोकरालां ॥
 भू धई भट्टी हो तरणी तापे, रेणू कट्टी ही तनु संतापे।
 अजिन 'रु अट्टी हो मट्टी व्यापे, अति दुरघट्टी हो घट्टी मापे ॥
 न्वेद-निभरणा हो रू-रूं झारै, धीवर कर नां हो लूह-लूह हारै।
 तनु पे उघई हो कुंसी-फोड़ा, भू पे उघई हो जिम भूफोड़ा ॥
 जैन-मुनी मो हो मारग भीणो, भव्य प्रवीणो हो धोवण पीणो।
 म्हावण-धोवण हो अश न करणो, ध्याम-तपावण हो दिल सररणो ॥
 मलिन दुकूजा हो कड़-कड़ बोलै, जया धूलां हो छड़-छड़ बोलै।
 अति प्रतिकूला हो पवन झकोलै, जिम कोई शूलां हो अंग खकोलै ॥
 कौमल काया हो पास माया, जननी जाया हो बाहर नाया।
 भूदरै घर के हो पोई म्हाटां, जलसूं दिदके हो गम-लग्न टाटा ॥
 मंदिर मूरी हो खोलै पया, कर धर तुंदी हो गोल निराका।
 विद्युत थोगे हो जल मीनदियो, बरफ प्रयोगे हो वा सो गजियो ॥

हृदय उमायै हो बलि-बलि न्हावै, पान करावै हो दिल सुख पावै ।
जी पवरारवै हो सेंट छिटारवै, ज्यादा चावै हो सिमलै जावै ॥^१

यहाँ कवि ने ज्येष्ठ मास को ग्रीष्म-ऋतु का हृदय कहा है। वे कहते हैं—“उम समय लू भग्नि-ज्वाला की तरह होती है और सूर्य के ताप से भूमि भट्टी के समान उत्तप्त हो उठती है। रजकण शरीर को सन्तप्त ही नहीं करते; अपितु त्वचा और यहाँ तक कि अस्थियों तक पर अपना प्रभाव दिखलाते हैं। वैसे समय की घड़ियाँ घड़ी के माप से कुछ बड़ी ही लगती हैं। स्वेद रोम-रोम से फूटकर भरनों की तरह बहता है, जिन्हे पोंछते हुए हाथ के वस्त्र—स्माल बेचारे धक जाते हैं। भूमि पर वर्षा के समय भू फोड़े उत्पन्न होते हैं; उमो प्रकार ग्रीष्म में शरीर पर फुन्सों और फोड़े उठ आते हैं। ऐसी स्थिति में जैन मुनियों का कठिन मार्ग और भी कठिन हो जाता है। अचित्त जल की स्तोत्रना, अस्नान-अथ तथा दुबूलो की प्रतिबूलता इन प्रकार से दुःखद हो जाती है कि मानो कोई शरीर में गूले धुभो रहा हो। दूसरी ओर धनिक व्यक्तियों का दूसरा ही विषण सामने आता है। वे उस ऋतु में बाहर तो निकलते ही नहीं, अपितु भूमिगृहों में लू से छिप कर मो जाते हैं। खस की टट्टियाँ सिद्धकी जाती हैं, पत्ते चलने हैं, विद्युत् या दर्फ के प्रयोग से शीतल किया गया जल पीने हैं, अनेक बार स्नान करते हैं, मुवासित रहते हैं। इतने पर भी यदि धर्मों का कष्ट प्रतीत होना है तो शिमला आदि पहाड़ी स्थानों में चले जाने हैं।” ग्रीष्मकाल के समय परस्पर-विरोधी इन दो जीवन-विशेषों को उपस्थित कर कवि ने एक ही ऋतु में भोगियों और त्यागियों की प्रवृत्तियों का अन्तर अदन्त महत्त्वना में स्पष्ट कर दिया है।

एक अन्य स्थान पर वे भारतवाइ प्रदेश के ‘काँठा’ (सीमान्त) का वर्णन इस बुद्बालना में करते हैं कि वहाँ के बानावरण का समग्र दृश्य

एक गांव घाँगा के सामने नागने लग जाता है । वे बटो हैं :

हर्ना विद्यालय टान-टान बोलन कांटी नी,
 रात-बिनात मडागट उडनी प्यनि रांटी नी ।
 मेरपाट पड़ीय टोम रचना पाज नी,
 टोम-टोम घब, सरिर, पचाय, राम भाटी नी ।
 अचर ऊँडिया कृ गूडिया खानी-खानी,
 जाम प्रगाड निभासी रिगमी गति पूवभा नी ।
 ममी जमी जल कोरा धोग मीपि पानी,
 सेइपी निरजे नाज, मात्र नहि खोजे जानी ।'

धर्यान्— "हर गांव में बबून के कांटो की बटुलता है । राति की घनीभून शून्यता में भी अरहट की ध्वनि घननी मडागट मुताती रहती है, पडोमी प्रदेश मेंवाड के अरावली पर्वत की घाटियाँ ऊँची दीवार-सी खड़ी दिखाई देनी हैं, उनकी उपत्यकाओं में स्थान-स्थान पर घब, सरिर और पलास वृक्षों की एकितियाँ खड़ी हैं तथा पत्थरों के ढेर सने हैं । हर गांव के चारों ओर ऊँचे पानी वाले कूँएँ, उनमें से पानी निकालने के लिए शूंडनुमा बडस, उन्हें सीचने के बाद विपरीत गति से चक्की हुए बैल; एक विचित्र ही दृश्य उपस्थित करते हैं । वहाँ की सीधी सराट भूमि को सीचने के लिए झननाई गई इन व्यवस्था में वहाँ की जन-प्रणालियाँ पानी से भरी बहती हैं । वहाँ के व्यक्ति केवल उती के आधार पर अन्न पैदा करते हैं । इसके अतिरिक्त अन्य कोई मानविक अथवा प्राकृतिक सहयोग उन्हें प्राप्त नहीं है ।" यह सारा वर्णन मारवाड के सीमान्त वा तथा वहाँ के निवासियों के जीवन-क्रम का सक्षेप में परिपूर्ण तथा रोचक दृश्य उपस्थित कर देना है ।

एक जगह राजस्थान के सुप्रसिद्ध अरावली तथा वहीं के बन्द बाना-वरण को वे इस प्रकार से अभिव्यक्ति देते हैं :

चहुँ ओर चगी जुड़ी भारी भारी, जहुँ जगी जगी बटाँ री जटाँ री ।
 कहीं निव कादम्ब अबाँब भारी, एरी शूल बचूल जीदाँ जमाँ री ।
 कहीं खखराती हुबै खखराती, कहीं धगधराती हुबै बगधराँ री ।
 धहूँ लहूँ महुँ मरारो, कहीं दखः घूराँ बजराँ बराँ री ।
 किते पेतकाराँ फरककत केरू, किते फुकयारा धरककत एरू ।
 किते घूक सघाट घुग्घाट घेरू, किते बुकक बुककाट केरू बनेरू ॥^१

इस वर्णन में भाषा का राजस्थानी रूप डिगल से प्रभावित है । जगल की गहनता और भाषा की गहनता एक साम हो गई है । अनु-प्राप्तों का बाहुल्य उस गहनता को और भी बढ़ा देना है । वे कहते हैं—
 “चारों ओर एक दूनरे से सटकर खड़े हुए वृक्षों से जहाँ वह अरम्य गहन बना हुआ है, वहाँ उसे बड़े-बड़े बट-वृक्षों की जटाओं ने और भी गहन बना दिया है । उस घटवों में जहाँ क्वचित् निम्ब, बदम्ब जम्बू और धाम जैसे वृक्ष भी दिखाई देते हैं, वहाँ अधिकांश कंटोनी भाड़ियाँ-ही-भाड़ियाँ तथा यम की जिह्वा जैसे अपने गूलों को लिये बचूल-ही-बचूल पड़े हैं । घावड़े, खाकरे, महुँडे और घूहर आदि वृक्षों से तथा बग्य पशुओं के विभिन्न प्रकार के शब्दों से वह घाटी अत्यन्त विबट प्रतीत होती है ।” इस प्रकार उपर्युक्त कुछ उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कालू-यशोविलास आचार्यश्री की एक विशिष्ट कृति है । उसमें प्रकृति तथा मानव-स्वभाव के विविध पहलुओं के सजीव वर्णन के साथ-साथ जीवनी का प्रवाह चलता है । कहीं-कहीं उस प्रवाह में पाठक को तब रकावट भी प्रतीत होती है, जब कि बीच-बीच में दीक्षाओं तथा अन्तर-घटनाओं का वर्णन आने लगता है । आचार्यश्री की यह कृति वि० स० २००० में पूर्ण हुई थी ।

भाणक-महिमा

भाणक-महिमा में तेरापथ के पठ आचार्यश्री माणकगणी का

जीवन वर्णित है। यह कालू-यसोविलास के काफी बाद की रचना है। वि० सं० २०१३ भाद्रपद कृष्ण चतुर्थी को इसकी पूर्ति हुई थी। अपेक्षाकृत यह काफी छोटी रचना है। इसमें तेरापथ के श्रमण-समुदाय की गतिविधियों का वर्णन विशेष रूप से किया गया है।

श्रमण-संस्कृति वस्तुतः शान्ति, समानता और श्रम के आधार पर चलने वाली संस्कृति है। प्राकृत के 'समण' शब्द से श्रम, सम और श्रम—ये तीनों एक रूप हो जाते हैं। इसलिए साधुओं की दिनचर्या में भी इन तीनों की व्याप्ति हो जाना आवश्यक है। इसी बात को ध्यान करने के लिए एक जगह साधुओं की दिनचर्या का वर्णन वे इस प्रकार करते हैं :

श्रम, सम, श्रममय श्रमण संस्कृति, निरख साधना भारी ।
 शान्त रसाश्रित जीवन जोयो, होयो दिल अतिकारी ॥
 निर्धन धनिक पुण्य परितोरित, शोषित नर हो नारी ।
 मदा 'सत्त्वभूयस्प्रभूय' रहै, समता रस की क्यारी ॥
 है जिहां श्रम की बड़ी प्रतिष्ठा, जीवन चर्या सारी ।
 श्रम परिपूर्ण मवेरे सभ्या, निरखो नयन उधारी ॥
 अपना-अपनो कार्य करो सब, प्रतिदिन ऊठ सवारी ।
 अपठित-पठित शरीर-गरीब, हुए जब मडादतधारी ॥
 पड़िलेहण थीर काजो पूजो, पात्र-प्रसाजन धारी ।
 महाजन-हरिजन काम ग्यामलो, चलो श्रमण-पथ-धारी ॥
 भारी भोलाव अपने प्रेम में, लाज करै लघुनारी ।
 सो अपग परमुखापोत्त वण, दुखिया रहै दुधारी ॥
 प्राप्त परिश्रम से जो निष्ठा, मम-विभाग स्वीधारी ।
 अपनी पानी में गुल्य मानो, महितर जीवन स्वारी ॥
 बूढ़ बान गुरु ग्लान ग्लान, परिचर्या उचित प्रकारी ।
 हो तिम गवई बिल-गमथारी, रहै मदा मुखिधारी ॥

विनय विवेक नेक अनुरासन, दामन ददाधारी ।

दिल्लै न एक पान भी गणपति, छाशा विन अविचारी ॥^१

जब कि माणकगली अपना उत्तराधिकारी स्थापित किये बिना ही दिवंगत हो गए; तब सारे सच पर आचार्य के चुनाव का भार पड़ा गया । उस समस्या पर विचार करने के लिए एकत्रित हुए मुनिजनों की मानसिक उमल-पुमल का विस्लेषण करते हुए जो कहा गया है; वह न केवल तेरापथ के अमलों की बिलतन-पद्धति को ही व्यक्त करता है, अपितु उनकी विचार-निरिमा का भी द्योतक है । वह वर्णन इस प्रकार है

विचारो सन्ता ! सब मिल बाल क नाथ कटा स्यू मयांताला ।

भरै नहि बिना नाथ इकस्यात, वर्ष सम रात बिनाशो ला ॥

आपारो गण गोबुल सन्ता ! गउथां खड़ी विशाल ।

बड़ी दिदारु और दुधारु, पिण भदि रझो गोवाल ।

सन्ता ! बिना गडाल गउवां की सी गति आयां पावां ला ॥

सेना कडाचूड़ है मारी, पहरण पकडो डेर ।

पर सेनापति रझो न छोई, कुण है चव आदेश ।

सन्ता ! बिना सेनाभी सेना की काँद उपमा पावां ला ॥

ग्रह नक्षत्र चमकता मारा, तारां की भजनभोज ॥

रिय अम्बरियो मूनो छागी, बिना चाँद चमकोज ।

सन्ता ! बिना चाँद की रजनो स्यू आयां तुल आयां ला ॥

आविशान इम वेह न पीथा, बिटयो लना दिमान ।

कल-कुलां स्यू खड़ा-कुम्ब है, माली बिना मगान ।

सन्ता ! बिना माली के उपवन की उपमा वन आयां ला ॥

सेनी लड़ी नात्र स्यू ममथो, दीर्घ सुन्दर होछ ।

रिय दिय बाइ मनाई हादी, मन स्यू करे मन्तोत्र ।

सन्ता ! बिना बाइ की नेथो, गण के नहीं बयाशो ला ॥^२

१. माणक-अहिमा, गी० २, गा० २ से १०

२. माणक-अहिमा, गी० १८, गा० २ से ६

कालू-उपदेश-वाटिका

'कालू-उपदेश-वाटिका' भाचार्यश्री द्वारा समय-समय पर बनाई गई भक्त्यात्मक तथा उपदेशात्मक गीतिकाओं का संग्रह है। यह ग्रन्थ वि० स० २००१ मे २०१५ तक बनता रहा। इस कथन मे यह अधिक सगत होगा कि इस सम्बन्धी भवधि मे बनाई गई गीतिकाओं को बाद में इस नाम से सगृहीत कर लिया गया। यह राजस्थानी भाषा का ग्रन्थ है। इसकी भक्त्यात्मक गीतिकाएँ जहाँ व्यक्ति को भक्ति-विभोर कर देने वाली हैं; वहाँ भाचार्यश्री के भक्ति-प्रवण हृदय का भी दिग्दर्शन कराने वाली हैं। यद्यपि जैन तथा जैनेतर भक्तिवाद की भूमिका में काफ़ी भेद रहा है; फिर भी भाचार्यश्री भक्ति-धारा में बहते हुए दूसरी धारा को भी मानो अपने मे समा लेना चाहते हैं। वे जानते हैं कि उनका आराध्य जैनेतर भक्तिवादियों के आराध्य के समान दृश्य या अदृश्य रूप से अपने आराध्य के पास नहीं आता। उसे तो केवल भाव-विद्युत् का साधन ही बनाया जा सकता है; फिर भी वे उसे अपने मन-मन्दिर में बुनाने का आग्रह करने से नहीं चूकते। वे कहते हैं -

प्रभु म्हारै मन-मन्दिर में पधारो,
करूँ स्वागत गान गुणां रो,
करूँ पल-पल पूजन धारो।

चिन्मय मैं पापाण बनाऊँ, नदी में जड़ पूजारो,
धगर-तगर-चन्दन क्यूँ चरचूँ, कण-कण सुरभित धारो।

स्थान की अनुपयुक्तता में कही आराध्य उक्त मन्दिर में आने से इन्कार न कर दें; इसलिए वे स्वयं ही स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए वही आगे कहते हैं :

म्लान स्थान खंचलता निरखी, न करो जाय नाकारो
तुम धिर धासे निरमलता पा, होसी धिरधा धारो।

बड़े-से-बड़े दार्शनिक तथ्य को भी वे छोटे-से किसी रूपक के सहारे इस सहजता से कह जाते हैं कि भाश्चर्य होता है। राग और द्वेष दोनों

ही आत्म-विरोधी भाव हैं; परन्तु जन-मानस में एक के प्रति आदर मूलक भाव है तो दूसरे के प्रति निरादर-मूलक । वे उन दोनों की एक-रूपता तथा भावनात्मक भेद के कारण उन पर होने वाली मानव-प्रतिक्रिया की विभिन्नता की यो समझते हैं .

द्वेष दाव, हिमपात राग है,
पण दोनों री एक लाग है,
हे दोनों रो काम कमल रो खोज गमाणो ॥
काठ काठ अलि बाहर आवै,
कमल पांखड़ो छेद न पावै,
द्वेष राग रो रूपक जाण्य सको सो जाण्यो ॥

कुछ गीतिकाओं में भक्ति और उपदेश का अत्यन्त मनोहर मिश्रण हुआ है । इसी प्रकार की एक गीतिका में भविनाथी प्रभु की भक्ति के लिए प्रेरणा देते हुए वे कहते हैं .

भज मन प्रभु अदिनासी रे !
बीच भँवर में पड़ी नावड़ी काँटे आसी रे ॥
धारो म्हारो कर-कर सारो जनम गमाभी रे ।
कोइयां साटे हीरो म्कोकर तू भिइतासी रे ॥

इस सपह की उपदेशात्मक गीतिकाएँ बहुत सरसता के साथ जहाँ व्यक्तियों को दुष्टप्रवृत्तियों से हटने की प्रेरणा देती हैं; वहाँ स्थान-स्थान पर रूपकों के रूप में काव्य-रस का भी आस्वादन कराती हैं । उदाहरण-स्वरूप एक गीतिका के निम्नोक्त पदों को पढ़ लेना पर्याप्त होगा :

धम्वर में कड़कै चिजली कड़ी,
होके रहिज्यो रे राही हुशियार ।

धुमक घोर हे गगन मखडल में अजव अन्धेरी छाई ।
पप नहीं मूँकै, हृदय अमूँकै, काँपर स्यूं काया कुम्हलाई ॥
तदण्य सूँधान अदण्य हो अन्धइ, अल्ल मीचता आवै ।
भारी विरला बाद नघां में, जीवइो जोखम स्यूं घषदावै ॥

पानी मोर पीड़ा बोलै, हमा हुआ प्रगयी ।
 काँटे गढ़या रु खड़ा होलै, मिटा में कुटिया सुट जायी ॥
 निग-निग में जो भयान रामना, अरुना मोटै मालै ।
 'जाए जाओ ग्योया मार्या' बहग्या बै निग पाणी रे बालै ॥

इसमें गमारी प्राणी को स्वयं की भाषा में राही कहा गया है। राही के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों का भी उसी प्रकार की भाषा से वर्णन करते हुए उसे सावधान किया गया है—“आकाश में बढ़रनी हुई बिजलियाँ, घुमड़ते हुए बादलों में चारों ओर आने वाला झन्झार, शरीर को बिच्छाव कर देने वाली डाँढ़र—शीतवायु, धाँव भीचकर चलने वाले तूफान और झन्झड़, टूटकर गिरने वाली भारी बर्फें तथा चढ़ी हुई नदियों में तुम्हारे लिए खतरा आने का बानावरण तैयार कर देने के साथ-साथ स्वरा भी पैदा कर दिया है। ऐसा न हो कि तुम तट पर खड़े वृक्ष की तरह यो ही उलड़ जाओ तथा तट पर बपी कुटिया की तरह क्षण-भर में डुबो दिये जाओ। यहाँ प्रतिक्षण सावधान रहने वाले तथा ऊँचाई पर रहने वाले व्यक्ति भी बहुधा बहाव के साथ बह जाते हैं।”

श्रद्धेय के प्रति

यह भी 'कानू-उपदेश-वाटिका' की तरह गीतिकामो का सग्रह ही है। इसमें विभिन्न पर्व-दिवसों पर देव, गुरु और धर्म के विषय में बनाई गई गीतिकाएँ हैं। इसके दो विभाग कर दिये गए हैं। प्रथम में हिन्दी और द्वितीय में राजस्थानी की गीतिकाएँ हैं। वे प्रायः महावीर-जयन्ती, भिक्षु-चरमोत्सव तथा मर्यादा-महोत्सव आदि पर्व दिवसों पर बनायी गई हैं। स्तुरत्यात्मक होते हुए भी अनेक स्थानों पर काफी गहरा निरूपण किया गया है। स्वामीजी द्वारा निर्दिष्ट एक आचार्य, एक आचार और एक विचार की त्रिपदी को लक्ष्य कर एक नूतन षडैत बतलाते हुए कहा गया है।

एकाचार एक समाचारी एक प्ररूपणा पंथ ।

ओ नूतन अद्भूत निकालयो बाह भीखणजी सन्त ।

चातुर्मासिक प्रवास से सन्त-सतियों के दूर-दूर तक फैल जाने और फिर मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर एकत्रित होने की इस विकोचन और सकोचन की प्रक्रिया को नदी के रूपक में अत्यन्त सूक्ष्मता और गौरवशीलता के साथ यों अभिव्यक्ति दी गई है :

पावस में पसरे करै अपने शीतकाल सकोच ।

निर्भरणी सम शासन सरणी अन्तर्मान आलोच ।

प्रबन्ध-काव्य

इधर लगभग तीन बरों से आचार्यश्री का रक्तान प्रबन्ध-काव्य लिखने की तरफ ध्रुपा है । इन बरों में उन्होंने आषाढ़भूति, भरत-भुक्ति तथा अग्नि-परीक्षा नाम से तीन काव्य लिखे हैं । हिन्दी में प्रायः छन्दो-बद्ध प्रबन्ध-काव्यों का ही प्रचलन है, किन्तु इस परिपाटी के विपरीत ये तीनों गीतिका-निबद्ध हैं । बीच-बीच में दोहों, छोटों तथा गीतक-छन्दों का भी प्रयोग किया गया है । जैन साहित्य-परम्परा में यह शैली काफी प्रचलित रही है । राजस्थानी तथा गुजराती में ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं । हिन्दी में इस शैली का प्रयोग बीजारोपण के रूप में आचार्यश्री द्वारा किया गया है ; इसकी सगीतात्मकता अथवा-काव्य के भावनात्मक श्लेष की पूर्ति करने वाली है । रोचक कथानक, प्रवाहमयी भाषा सगीतात्मकता के साथ मिलकर श्रोता को एक अद्वितीय आनन्द की अनुभूति करा देने वाली होती है :

आषाढ़भूति

'आषाढ़भूति' की कथा जैन समाज में अति प्रसिद्ध है । एक महान् आचार्य का परिस्थितियों के आवर्त-विवर्तों में फसकर नास्तिकता की ओर झुकने और फिर उस भावना पर विजय

में स्थिर

होने तक की घटनावृत्ति में मानस के घनेक उषार-वहाराँ का वर्णन है। धर्म-पाणिनाशिक-वर्णन भी हृदय को छूने वाले हैं। शहर में फँसी हुई महामारी के अवगम पर नगरवासियों की दशा का वर्णन करते हुए कहा गया है।

प्रायः पक्षे बीमार, न कोई सेवा करने वाला ।
 प्रादि-प्रादि कर रहे, न घर में पानी भरने वाला ॥
 धरुं-धरुं भियगुपरोँ की औपधि काम न करती ।
 उम्र व्याधि के प्रबल घाल में घड़क रही है धरती ॥
 छोट-पितामह प्रवितामह को पौत्र-प्रपौत्र मिथारे ।
 माला मरी; रो रहे धरुं शिलस-शिलस कर सारे ॥
 धन्ध-धरुं से निराधार-आधार नन्द इकलौते ।
 पैर पयारे, कौन उषारे, रहे स्वजन सब रोते ॥
 कहीं-कहीं पर तो मृतकों को नहीं उलाने वाले ।
 घर-घर में राव पड़े सब रहे, कौन कित्ते समाले ?
 एक चिता पर, एक बीच में, एक पदा है धरती ।
 धर्म-भेद के चिना, शहर में घूम रहा समवर्ती ॥^१

महामारी के प्रचण्ड प्रहार ने आचार्य आघातभूति के घनेक योग्य तथा विद्वान् शिष्यों की आहूति ले ली। शेष शिष्यों के बचने की आशा भी कुपित काल के आघातों से धूमिल हो उठी। उस स्थिति ने आचार्य के धार्मिक मन को झकझोर डाला। वे सोचने लगे; क्या आजीवन की गई धर्म-साधना का यही प्रतिफल है? जन-साधारण की मृत्यु तथा अपने विद्वान् शिष्यों की मृत्यु के अन्धे ने उनके मन में नास्तिकता का बीज-बपन कर दिया। एक ओर उनके मानस की यह उगमग करती हुई स्थिति थी; तो दूसरी ओर गण की स्थिति उस उषान के समान हो

रही थी जो कि पतझड़ के समय बिल्कुल शोभा-विहीन होकर उरावता-सा लगने लगता है। आचार्य अपने मन की इस परेशानी को जब बचे हुए शिष्यों के सामने रखते हैं; तब उनका मन इतना खिन्न और निराशा से भरा होता है कि उन्हें किसी के बचने की सम्भावना ही नहीं रहती। उन्हें लगता है कि काल कुपित होकर उनकी हर एक आशा को घात लगा-लगाकर तोड़ डाल रहा है। तभी तो वे अपने अवशिष्ट शिष्यों को 'सानन्द' विदा देने की बात कह डालते हैं और साथ ही अपनी आँखों में धिर जाने वाली नास्तिकता की सम्भावित काली रात का भी उल्लेख कर देते हैं। वे कहते हैं-

फलित ललित आपाद्भूतिगय
पतझड़ हुआ आज देखो
किसने सोचा यों आयेगा, भीषण कळावात।

शेष रहे भी बच पायेंगे
यह भी सम्भव नहीं चहो !
रह-रह आशा तोड़ रही है, कुपित काल की घात।

छे लो सभी विदा मेरे से
में सानन्द तुम्हें देता
पर धिरने वाली है, इन आँखों में काली रात।'

एक स्थान पर बालको का वर्णन सहज और सरल शब्दों में इतने आकर्षक ढंग से किया गया है कि मानो बालको की आवृत्ति-प्रकृति और त्रियावलाप स्वयं ही मुखरित हो उठे हो :

तप्त स्वर्ण से उनके चेहरे, कोमल प्यारे-प्यारे।
झलक रही थी सहज सरलता, दृमित चदन से सारे।

गुननी-गुनमी प्यारी-प्यारी, मीठी-मीठी खोजी ।

बर्षी मुहानी, हृदय सुभानी, गूरन मोर्नी-भोर्नी ।^१

महाकवि कानिदाम ने कहा है—मीर्षागर्ह्ययुक्ति च दशा वक्रनेत्रि-
समेसु^१ अर्थात्—“मनुष्य की दशा रथ के चक्र की तरह क्रमशः नीचे
से ऊपर घोर ऊपर से नीचे होती जाती है ।” आचार्यजी इस बात को
'घति' से जोड़कर यों कहते हैं :

आशा पवन शरम सीमा पर, तव आहवा उष्णान,

प्रायः मानव-मानस का यह, मरल मनोविज्ञान ।

हे सभावित अयुक्तर्षण में होना अपकर्ष

अपकर्षण में ही होगा, निदिन मदा टाकर्ष ।^२

भरत-मुक्ति

'भरत-मुक्ति' भगवान् ऋषभनाथ के प्रथम पुत्र भरत के जीवन से
सम्बद्ध काव्य है । मानव-संस्कृति के प्रथम स्फोट के अवसर पर मार्ग-
दर्शन करने वाले तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ को जंतों ने ही नहीं;
किन्तु वैदिकों ने भी अपने अवतारों में से एक गिना है । इस काव्य में
उस समय के मानव-स्वभाव और उसमें हुए क्रमिक विकास का अद्भुत
दिग्दर्शन कराया गया है । महाराज भरत ऋषभनाथ के प्रथम पुत्र होने
के साथ यहाँ के प्रथम सम्राट् भी थे । जंतों के विचारानुसार उन्हीं के
नाम पर इस क्षेत्र को 'भरत' या 'भारत' कहा जाने लगा है । भरत
के जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव हैं । राज्यलिप्सा, भाइयों से कलह, युद्ध-
साम्राज्य-स्थापन तथा अनन्य सुख-भोग आदि की घाटियों से तुमुल नार
के साथ बहती हुई उनकी जीवन-सरिता अन्तः शमरस की समभूमि पर

१. आषाढभुक्ति, २- ६६ और ७२

२. मेघदूत

३. आषाढभुक्ति, ३-१२७, १२८

भा जाती है। यहीं से उनके जीवन की शुरुआत होती है; जिसे प्राप्त करने के लिए योद्धा दृश्य और अदृश्य सभी बन्धनों से प्रारम्भ इसी अवस्था से होता है।

सामाजिक व्यवस्था की द्वारा सरयू के तट पर 'घनिता' प्रारम्भिक स्थितियों में उसका सक्ता था। नगर के सन्निकट के भरे हुए थे। उनका वर्णन करते

छोटे-छोटे
 तरु
 कुम्हों की
 किसका न
 शाखाओं
 पथिकों
 धायो
 धपनी
 तरु,
 ; वहाँ
 ही

रस्ता का। ये दोनों 'गु' कर बैठता है; वंसी ही चल रही हिंसा के समर्थन में ये हैं कि अहिंसा ही अतिरिक्त विभ्राम

में नवीनतम रचना है। नारी का जहाँ शील-तत्कालीन जनता के युग-युगान्तरो से चला है। लका-विजय के बाद इस काव्य का प्रारम्भ के साथ परिसमापन। भूलाये गए स्वयं ही यह स्पष्ट है। 'अग्नि-परीक्षा'

को अग्नि में डाल कर 'र' न सम्भव, फिर भी उत्पन्न होता है, तब-राज भी अग्नि-परीक्षा एक धारवत समस्या एक पवित्रता, धारम-वन लिए उनके इन

स्त्रियाँ सम्भाव्यताओं में गमिजा होती हैं । घाने रूप-गीरव पर घाने घाय ही लम्बित होती हुई वे भृशी-भृशी-गी रहती हैं । पति के घाय-पास रहने को वे घाने जीवन का सर्वोत्कृष्ट सुख मानती हैं । उनकी हर गतिविधि पुरुष के मन का उन्मत्त कर देने वाली होती है । परन्तु वे मारी गतिविधियाँ मानवीय सम्कारों में ही बंध कर नहीं रह जाती हैं । कवि के समार में वे वनस्पतिनोच में भी उमी प्रकार में चली रहती हैं । मानवीय भावा को वनस्पति-जगत् पर कवि ने कितने सुन्दर ढंग से घारोवित किया है .

शागाघों से नम लम्बित हो,
पत्नी-पुष्पों से मम्बित हो,
मानमोन्मादिनी लतिकार्ये,
पादप-गण के दार्ये वार्ये ।^१

एक स्थान पर हिंसा घौर अहिंसा के विषय में बड़ी स्पष्टता के साथ कहा गया है :

हे हिंसा आक्रामकता, भय खाना भी हिंसा है,
उसमें बंधरता, इमसे जग में निन्दा-लिंसा है ।
दोनों से आधम-पतन है, दोनों हैं दुबंलताएं,
क्यों लड़ें किमी से अड़के ! क्यों मरने से घबरार्ये !
होते आक्रमण, पलायन, भयभीतों के दो लक्षण,
बचते जो इन दोनों से, वे हो गम्भीर विचक्षण ।
घर अमय अहिंसा देती, जहाँ भय का काम नहीं है,
सत्रस्त भयाकुल प्रार्यी, लेते विश्राम वहाँ हैं ।^१

आक्रमण करना हिंसा है, पर आक्रमण से भयभीत होना भी हिं

१. भरत-मुक्ति, सर्ग ३

२. भरत-मुक्ति, सर्ग ४

नारी-जाति के विषय में आचार्यश्री के प्रतिशय कोमल विचार हैं। वे उनके उत्थान-विषयक योजनाओं को कार्यान्वित करने पर बहुधा बल देते रहते हैं। नारी-जाति की पीड़ा और विवशता उनसे छिपी नहीं है। राम द्वारा निष्वासित होने पर सीता का चिन्तन वस्तुतः आचार्यश्री के चिन्तन को ही व्यक्त करने वाला है; जो कि इस प्रकार है :

है पुरुषों के लिए खुली यह वसुधा सारी,
पर, नारी के लिए सदन की चार-दीवारी।
सूर्य देखना भी होता महाभारत भारी,
कैसे कहे अपनी लाचारी यह बेचारी ॥
मार-मार अपने मन को वह सब कुछ सहती,
जैसा होता, नहीं किसी से कुछ भी कहती।
चिन्ता सदा चिता बन, उनको दहती रहती,
प्यथा हृदय की छल-छलकर पलकों से बहती ॥^१

जैन-रामयण के अनुसार परित्याग के लिए सीता को तड़मए नहीं; किन्तु 'कृतान्तमुख' सेनापति ले गए थे। जब वे वापस आकर राम को सीता के उपात्मभो आदि से भवगत बराते हैं, तब उनसे श्रोतृगण का मन बहणाद्रे हो उठता है; परन्तु अन्ततः जब सीता इस माण्ड में भी सदा से निर्दोष रहने वाले राम के प्रति-विभ्रम को अपने ही किन्हीं भ्रजात वृत्तियों का परिणाम स्वीकारती है; तब भारतीय नारी की इस शालीनता और सात्त्विकता पर मस्तक भुक्-भुक् जाता है। कृतान्तमुख उनके शब्दों को यों दोहराता है।

कैसे प्रतिवृत्त प्रयास बहा, कुछ भी जा सकता नहीं कहा,
नस-नस में उनकी जान रही, प्रति भावुक भद्र स्वभाव रहा।

निशा-नामर हैं बराबर, सुक्यता कफ-बात में,
 वेदनी आयुषंधा सम समुद्रघात-विपाल में।
 पूर्णतः अनुकूल शत्रु यह स्वास्थ्य-शोधन के लिए,
 ज्यों अशुभ्रण धात्र जन-मानस प्रबोधन के लिए।
 स्वच्छ सलिल मरोवरों का मुहुर-भरश सुहावना,
 धर्म-शुभ्रल-ध्यान में जैसे समुद्रजल भावना।
 जैन मुनि भी कर रहे अथ प्रतीक्षा प्रस्थान की,
 योग-रोधक प्राण-शैलेशों यथा निराश की।
 स्वरूप-यो भी वृष्टि होती मित्र आयुषयोगिनी,
 यज्ञ मुनि की क्रिया सबर-निर्जरा-मयोगिनी।
 हो रही कृशकाय नदियों क्षीय निम्न-पीनता,
 एक भ्रम्यारूढ मुनि की ज्यों कषाय-प्रदीयता।
 कथं भर का वृषिक धम अथ हो रहा साकार है,
 शीघ्रता तल-मार अनरान में यथा चलतार है।^१

यहाँ पीनत पवन, अनरहित आकाश, पररहित भरती, वृष्टि-विम्भार
 ने हुए हर उपजम का पुनः सभेन, पीनोद्यु भावना की समस्थिति, दिन-
 रान की समानता, स्वास्थ्य की अनुकूलता, जन की स्वच्छता, नदियों
 घोर निर्भरी के उपान का समन तथा वृषिक के धम का धान्य के रूप
 में साकार होना आदि कार्यं सरद् शत्रु का इनता सहज चित्र लीखने है
 कि जिसे हर कोई दृश्य जगत् में प्रति कथं साक्षात् अनुभव करना है। इस
 वर्णन में प्रयुक्त उपमाएँ जहाँ एक घोर विषय को मरन बनाती हैं, वहाँ
 दूसरी घोर सम्भीर भी बना देती हैं। जैन मन्व-ज्ञान के बिना उन्हें
 समझना कुछ कठिन है। इन उपमाओं में आचार्यंधी ने एक महीन प्रयोग
 किया मायूम होना है। अर्थात् ही हमने जैन मन्वृति के विचारों तथा

जो हुआ; दोष मघ मेरा है, निर्दोष निरन्तर रहे राम,
 कृष्णमों का ही कृपरिणाम, जिम्मे उनकी मति हुई वाम।
 मृदा कलक यह आया है, रवि के रहने तम छाया है,
 माताजी ने कइलाया है ॥^१

इसके साथ ही जब वे डम परित्याग में उलान्न हुई स्थिति से घबरे
 और राम के सम्बन्धों का जिक्र करती हैं; तब रूपकों के माध्यम से कवि
 उनके भावों की अभिव्यक्ति इतनी गहराई और मार्मिकता के साथ करते
 हैं कि हर रूपक सीता के भ्रन्तस्तल की पीड़ा का प्रतिबिम्ब बनकर
 'श्रव्य' के साथ-साथ 'दृश्य' होने का आभास देने लगता है। वहाँ कहा
 गया है :

ममता की गाँठें शिथिल हुईं, भावों की गगरी कूट गई,
 निर्यामक का मुँह फिरते ही पतवार हाथ से छूट गई।
 सीता की सरिता सूख गई, सपनों की रजनी रुठ गई,
 अब क्या जीने में जीना है, जब आकांक्षाएँ टूट गईं।
 सब गत-रस किया कराया है, न्यायी काया से छाया है।^१
 एक स्थान पर शरद् ऋतु का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

शरद् ऋतु की सुसद शीतल पवन-लहरी चल रही,
 विगत-धन धृति शुभ अश्वर पक-विरहित थी मही।
 छा रहा विस्तार वर्षा का सहज सक्षेप में,
 ज्यों समाहित तत्व सारे, चतुर्विध नित्येप में।
 नाति शीत, न धृति उष्मा, सम अवस्थित भाव में,
 सर्वदा ज्यों लीन रहते सन्त सहज स्वभाव में।

१. अग्नि-परीक्षा, ४-७४

२. अग्नि-परीक्षा, ४-७५

निशा-वामर हैं बराबर, तुक्यता कफ-घात में,
 वेदनी आयुर्यथा सम समुद्घात-विघात में ।
 पूयंतः धनुकूल ऋतु यह स्वास्थ्य-शोधन के लिए,
 ज्यों अणुवत घाज जन-मानस प्रबोधन के लिए ।
 स्वच्छ सलिल सरोवरों का मुकुर-सदृश सुहावना,
 धर्म-शुक्ल-ध्यान में जैसे समुज्ज्वल भावना ।
 जैन मुनि भी कर रहे अथ प्रतीक्षा प्रस्थान की,
 योग-रोधक प्राप्त-शीलेशो यथा निर्वाण की ।
 स्वल्प-सी भी वृष्टि होती सिद्ध अत्युपयोगिनी,
 सजग मुनि की क्रिया सबर-निर्जरा-सयोगिनी ।
 हो रही कृशकाय नदिर्या क्षीण निम्न-पीनता,
 क्षणक श्रेयारूढ मुनि की ज्यों कपाय-प्रहीणता ।
 वर्ष भर का कृषिक श्रम अथ हो रहा साकार है,
 सींचता तन-सार अनशन में यथा अनगार है ।^१

यहाँ शीतल पवन, धनरहित आकाश, पकरहित घस्ती, वृष्टि-विस्तार से हुए हर उपक्रम का पुनः सक्षेप, शीतोष्ण भावना की समस्थिति, दिन-रात की समानता, स्वास्थ्य की अनुकूलता, जल की स्वच्छता, नदियों और निम्नरो के उफान का दमन तथा कृषिक के धम का धान्य के रूप में साकार होना आदि कार्य धरद् ऋतु का इतना सहज चित्र सींचते हैं कि जिसे हर कोई दृश्य जगत् में प्रति वर्ष साक्षात् अनुभव करता है। इस वर्षण में प्रयुक्त उपमाएँ जहाँ एक ओर विषय को सरल बनाती हैं; वहीं दूसरी ओर गम्भीर भी बना देती हैं। जैन तत्त्व-ज्ञान के बिना उन्हें समझना कुछ कठिन है। इन उपमाओं से आचार्यश्री ने एक नवीन प्रयोग किया मालूम होता है। अवश्य ही इससे जैन सस्कृति के विचारों तथा

पारिभाषिक शब्दों से जन-साधारण को परिचित होने की प्रेरणा मिलेगी।

संस्कृत-साहित्य

आचार्यश्री के संस्कृत-साहित्य में 'जैन सिद्धान्त दीपिका' तथा 'भिक्षु न्याय कौशिका' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दर्शन-ग्रन्थ हैं। ये प्राचीन परिपाटी के अनुसार सूत्र तथा वृत्ति के रूप में सद्बोध हैं। 'जैन सिद्धान्त दीपिका' में जैन मान्यतानुसार तत्त्व-निरूपण किया गया है। इसके नौ प्रकाश हैं। नवें प्रकाश में जैन-न्याय-सम्बन्धी सक्षिप्त परिभाषाएँ दी गई हैं, जब कि अन्य आठ प्रकाशों में द्रव्य, आत्मा, कर्म, इतिहास तथा गुणस्थान आदि का विवेचन है। 'न्याय कौशिका' में आठ विभाग हैं, जिनमें जैन मान्यतानुसार प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाता का वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ न्याय के विचारधियों के लिए प्रवेश-द्वार का कार्य करता है। 'प्रमाणनयनत्वान्तोक' आदि ग्रन्थों के समान इसमें इतर न्याय-शास्त्रियों के मन्त्रियों का शब्दन करने का लक्ष्य नहीं रखा गया है। यह ग्रन्थ जैन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत करता है तथा जैन न्याय के प्रमुख धर्म-नियम-विशेष आदि को भी सरलता से हृदयगम करने में सहायक होता है। वस्तुवृत्त्या यह ग्रन्थ उपयोगी एक लाक्षणिक ग्रन्थ है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत-गद्य में आचार्यश्री के कई निबन्ध भी हैं। संस्कृत गद्य-ग्रन्थों में 'कानू कल्याण मन्दिर स्तोत्रम्', 'कर्णधार्य-त्रिनिष्ठा', 'विशाखध्यावनि' आदि हैं।

धर्म-सन्देश

आचार्यश्री की साहित्य-सृष्टि में धर्म-सन्देशों का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये सन्देश बहुधा विश्व के विभिन्न भागों में होकर विभिन्न सम्मेलनों के अवसर पर दिये गये थे। इनके कथानों पर उनका अथवा प्रभाव भी देखने में आता। समाज-विश्व को शान्ति का सन्देश देकर एक सन्देश सन्देश में आचार्यश्री 'विश्व-धर्म-सम्मेलन' के

अवसर पर दिया गया था। वह दूर-दूर तक पहुँचा था। न्यूयार्क के 'सादरेक्लूज विश्वविद्यालय' के डा० रेमंड एफ० पीयर ने एक पत्र में लिखा था कि उन्होंने तुलनात्मक अध्ययन के लिए अपने छात्रों के पाठ्य-क्रम में २६ जून १९४५ को दिये गये प्रवचन 'अशान्त विश्व को शान्ति का सन्देश' के महत्वपूर्ण अंशों को सम्मिलित कर दिया है^१।

उस सन्देश की एक प्रति महात्मा गाँधी के पास भी पहुँची थी। उन्होंने उसे पढ़ा और उस पर कई जगह टिप्पणियाँ भी लिखीं। इस सन्देश का प्रकाशन काफी लम्बे समय के पश्चात् हुआ था। अतः भूमिका में जहाँ एलडू-विषयक खेद प्रकाशित किया गया था, महात्मा गाँधी ने वही पर लिखा—'ऐसे सन्देश निकालने में देरी क्यों?' पुस्तिका के पृष्ठ ११ पर 'सम्यक्त्व' का विवेचन किया गया है, महात्मा गाँधी ने वहाँ लिखा है—'क्या इस सम्यक्त्व का प्रचार किया गया?' उसके आगे पृष्ठ ११-१२ पर विश्व-शान्त के सार्वभौम उपायों का कथन करते हुए नौ बातें बतायी गई हैं। उस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—'क्या ही अन्धा होता कि दुनिया इस महापुरुष के इन नियमों को मान कर चलती है?'

यह आचार्यश्री का प्रथम सन्देश था। इसके बाद 'धर्म-रहस्य', 'आदर्श राज्य', 'धर्म-सन्देश', 'पूर्व और पश्चिम की एकता', 'द्विद्व शान्ति और उसका मार्ग', 'धर्म सब कुछ है; कुछ भी नहीं', 'धर्म और भारतीय दर्शन' आदि अनेक सन्देश तथा वक्तव्य दिये गए। उनका प्रायः सर्वत्र यथोचित आदर हुआ है।

मधु-संक्षेप

आचार्यश्री के दैनन्दिन प्रवचनों को अनेक व्यक्तियों द्वारा अनेक रूपों में संकलित किया गया है। वे सभी संकलन उनके साहित्य का ही

१. जैन भारती, मार्च १९४६

२. जैन भारती, जुलाई १९४७

अंग है। 'नैतिक सजीवन', 'शांति के पथ पर', 'तुलसी-वाणी', 'पथ और पापेय', 'प्रवचन-डापरी' आदि पुस्तकें इसी क्रम में समाविष्ट हैं। वस्तुतः वे जो कुछ बोलते हैं, वह सब श्रुति-वाणी के रूप में स्वयं मित्र साहित्य बन जाता है। उन प्रवचनों में कुछ भय तो इतने भावपूर्ण होते हैं कि हृदय को छू-छू जाते हैं। वे आचार्यश्री के मानस-मन्थन से उद्भूत विचार-नवनीत के रूप में जितने सुकोमल और पवित्र होते हैं; उतने ही शक्तिदायक भी। उनके भावों की गहराई मन को मुग्ध कर लेने वाली होती है। श्री बन्हेपाताल मिश्र 'प्रभाकर' ने आचार्यश्री के एक वाक्य पर लिखा था—'अणुद्रत-मान्दोलन के प्रवर्तक सन्त तुलसी ने दो शब्दों में इस विकृति; प्राप्त का मुख न लेना और अप्राप्त की सख्त चाह रखना; का जो चित्र दिया है; उसे हजार विद्वान् हजार-हजार पृष्ठों की हजार पुस्तकों में भी नहीं दे सकते। वे शब्द हैं—भूल और व्याधि। सन्त की वाणी है—'भाज के मनुष्य को पद, यज्ञ और स्वार्थ की भूल नहीं, व्याधि लग गई है; जो बटून कुछ बटोर लेने के बाद भी शान्त नहीं होंगी'।' इस प्रकार के छोटे तथा गहरे वाक्यों में आचार्यश्री के प्रवचन भरे रहने हैं। यहाँ उनके इसी प्रकार के भाववाही सुभाषितों के मधु-मधय का कुछ आम्बानन अप्रामाणिक नहीं होगा।

जो सब कुछ जान कर भी अपने आपको नहीं जानना; वह अज्ञान है। विद्वान् वरों हैं; जो दूसरों को जानने में पूर्व अपने आपको भ्रष्टाचारिणी जान में।

x

x

x

हम अपने में ही अपना उच्चारण करते हैं। वाद्य-निपथय कम में कम आये। हम स्वयं ही निवन्धित होकर चलें। तभी हम अपना उच्चारण कर सकते हैं।

x

x

x

सिद्धान्तवादिता से आलोचना प्रतिफलित होती है और अनुभूति से मौलिकता ; सिद्धान्त से मौलिकता नहीं आती, मौलिकता के आधार पर सिद्धान्त स्थिर होते हैं ।

× × ×

जो जितना अधिक नियन्त्रणहीन होता है; वह उतना ही अधिक अपने आस-पास मर्यादा का जाल बुनता है ।

× × ×

हमारा घर साफ-सुथरा होगा तो पड़ोसी को उससे दुर्गन्ध नहीं मिलेगी ।

× × ×

हम अहिंसक रहेंगे तो पड़ोसी को हमारी ओर से क्लेश नहीं होगा । पड़ोसी को दुर्गन्ध न आये, इसलिए हम घर को साफ-सुथरा बनाये रखें, यह सही बात नहीं है ।

दूसरों को कष्ट न हो इसलिए हम अहिंसक रहें; अहिंसा का यह सही मार्ग नहीं है ।

धार्मा का पतन न हो इसलिए हिंसा न करें; यह है अहिंसा का सही मार्ग । कष्ट का बचाव तो स्वयं हो जाता है ।

× × ×

अहिंसा के दो पहलू हैं—विचार और धारणा । पहले विचार बनने हैं फिर तदनुसार आचरण होता है ।

आचरणक हिंसा को अहिंसा मानना चिन्तन का दोष है । हिंसा आचरणक हिंसा है । यह दूसरी बात है कि आचरणक हिंसा से बचना कठिन है ।

× × ×

धर्म एक प्रवाह है । सम्प्रदाय उसका बाँध है । बाँध का पानी बिछाई और अन्य कारणों के जिए उपयोगी होता है; जैसे ही सम्प्रदाय

धृष्ट और संकल्प को दृढ़ करता है । कठिनाइयों को लने की क्षमता पैदा करता है । प्रवाह के प्रतिकूल चलने का साहस लाता है; फिर वह बत लेता है ।

× × ×

पहले-पहल बुराई करते घृणा होती है, दूसरी बार संकोच, तीसरी बार निःसंकोचता आ जाती है और चौथी बार में साहस बढ़ जाता है ।

× × ×

विचार के अनुरूप ही आचार बनता है अथवा विचार ही स्वयं आचार का रूप लेता है ।

× × ×

आचार-शुद्धि की आवश्यकता है । उसके लिए विचार-क्रान्ति चाहिए, उसके लिए सही दिशा में गति और गति के लिए जागरण अपेक्षित है ।

× × ×

जीवन सरस भी है, नीरस भी है । सुख भी है, दुःख भी है । सब कुछ भी है, कुछ भी नहीं है । नीरस को सरस, दुःख को सुख, कुछ भी नहीं को सब कुछ बनाने वाला कलाकार है ।

× × ×

पदार्थ-प्राप्ति पर जो आनन्द मिलता है; वह तो क्षणिक होता है ।
... किन्तु वस्तु-निरपेक्ष आनन्द ही स्थायी होता है ।

× × ×

धर्म जो कि पुस्तकों, मन्दिरों और मठों में बन्द है; उसे जीवन में खाना होगा । बिना जीवन में उतारे केवल आस्तिकवाद की दुहाई देने मात्र से क्या होने वाला है ?

× × ×

विरह-शान्ति और व्यक्ति की शान्ति दो वस्तुएँ नहीं हैं । अशान्ति का

विद्या का फल मस्तिष्क-विक्रम है; किन्तु है प्राथमिक। उसका चरम फल आत्म-विक्रम है। मस्तिष्क-विक्रम चरित्र-विक्रम के माध्यम से ही आत्म-विक्रम तक पहुँच पाता है। इसलिए चरित्र-विक्रम दोनों के बीच में कड़ी है।

X

X

X

न्याय और दलबन्दी—ये विरोधी दिशाएँ हैं। एक व्यक्ति एक साथ दो दिशाओं में चलना चाहे; इससे बड़ी भूल और क्या हो सकती है ?

X

X

X

मेरी दृष्टि में वह धर्म ही नहीं; जो अगले जीवन को सुधारने के लिए इस जीवन को संकलित बनाये—विगाड़े। यस्तुतः धर्म की कसौटी अगला जीवन नहीं; यही जीवन है।



संघर्षों के सम्मुख

स्थितप्रज्ञता

आचार्यश्री का जीवन सघर्षभय जीवन की एक कहानी है। ज्यों-ज्यों उनका जीवन विकास करता रहा है, त्यों-त्यों सघर्ष भी बढ़ता रहा है। उनके विकासशील व्यक्तित्व ने जहाँ घनेकों भक्त तैयार किये हैं; वहाँ विरोधी भी। भक्ति श्रद्धा या गुणशता से उत्पन्न होती है; तो विरोध श्रद्धा या ईर्ष्या से। विरोध श्रद्धान बनकर बार-बार उनके मार्ग में अवरोधक बन कर आता रहा है, किन्तु उन्होंने हर बार उसे अपनी सफलता की सीढ़ी बनाया है। वे जहाँ जाते हैं; वहाँ हजारों स्वागत करने वाले मिलते हैं तो पाँच-दश आलोचना करने वाले भी निकल आते हैं। "विकास विरोधियों के साथ सघर्ष का नाम है"—लेनिन का यह वाक्य अपने पूरे रहस्य के साथ आचार्यश्री पर लागू होता है। विरोध और अनुरोध—दोनों ही परिस्थितियों में अपने-आपको सन्तुलित रखने की शक्ति उनमें है। अनुरोधजन्य झुंझाव और विरोध-जन्य हीन-भाव उन्हें प्रभावित नहीं करते। अपनी स्थितप्रज्ञता के बल पर वे इन सब भावों से ऊपर उठे हुए हैं।

दो प्रकार

सघर्ष प्रायः हर जीवन में रहते हैं। सफल जीवन में तो और भी अधिक। आचार्यश्री के जीवन में वे काफी मात्रा में रहे हैं, कुछ साधारण; तो कुछ असाधारण। वर्तमान वातावरण को तो सभी सघर्ष झुकझोरते

ही है; परन्तु कुछ स्वभावानुसार प्रभाव छोड़ने वाले होते हैं तो कुछ विरक्तचित्त । आचार्यश्री के सम्मुख आने वाले मनुष्यों में कुछ आन्तरिक हैं तथा कुछ बाह्य ।

आन्तरिक मंथन

दृष्टि-भेद

आन्तरिक मंथन में आचार्यश्री के द्वारा किया हुआ मंथन । आचार्यश्री के आचार्य के आचार्य हैं, इन के आचार्य के विधानानुसार उनकी आचार्य भी अनुयायियों को समान रूप में शिरोधार्य होनी चाहिए; परन्तु कुछ प्राचीनतावादियों के मन में उनके प्रति अग्रदत्ता के भाव उत्पन्न हुए हैं । उनके विचारानुसार उनकी अनेक बातें आचार्य की परम्परा के विरुद्ध होनी जा रही हैं । वे सोचते हैं कि आचार्यश्री द्वारा युग की आवश्यकता के नाम पर जो परिवर्तन किये जा रहे हैं; वे सब अन्ततः अहितकर ही होंगे ।

आचार्यश्री का दृष्टिकोण है कि धर्म के मूल नियम अपरिवर्तनीय भले ही हों, किन्तु किसी भी प्रकार के परिवर्तन का विरोध करना जीवन की गति का ही विरोध करना है । मूलगुणों को सुरक्षित रखने हुए उत्तरगुणों से सम्बद्ध अनेक परम्परामो का जिस प्रकार पूर्वाचार्यों ने परिवर्तन किया है, उसी प्रकार आज भी आवश्यकतानुसार उसने परिवर्तन की गुंजाइश हो सकती है ।

नवीनता से भय

प्राचीनता और नवीनता का यह संधर्ष कोई नया नहीं है । हर प्राचीनता नवीनता को इसी आशंका-भरी दृष्टि से देखती है कि यह कहीं सारे ढाँचे को ही न ढहा दे । परन्तु जो दूर-दृष्टा होते हैं; वे जानते हैं कि नवीन प्राण-शक्ति के बिना कोई भी समाज जीवित नहीं रह सकता ।

इसी आधार पर वे प्राचीनता के इन तर्कों से भयभीत नहीं होते और आवश्यक परिवर्तन करते हैं। आचार्यश्री ने अनेक परिवर्तन किये हैं और उनके मार्ग में आने वाले विरोधों को उन्होंने विचार-मन्व्यम का ही एक साधन माना है। जिस क्रिया में विरोध या रुकावट नहीं आती; वह कार्य उतना प्रभावकारी भी नहीं होता। जिस काम में जेतना लाने वाली शक्ति होती है; वही हर एक के मस्तिष्क में हलचल पैदा कर सकता है। कुछ लोगों के लिए वह हलचल भय का कारण बन जाती है। वही भय फिर संघर्ष के लिए अनेक निमित्त उपस्थित कर देता है। उन निमित्तों में से कुछ का दिग्दर्शन यहाँ कराना अनुचित नहीं होगा।

संघर्ष का बीज-वपन

आन्तरिक संघर्ष का बीज-वपन अणुव्रत-आन्दोलन की स्थापना के पारिपार्श्विक वातावरण से हुआ। उससे पूर्व आचार्यश्री के प्रति सभी की झूट निष्ठा थी। तब तक आचार्यश्री का बिहार-क्षेत्र प्रायः पत्नी (बीकानेर डिवीजन) तक ही सीमित था। उनके समय और शक्ति का बहुलाश प्रायः उसी समाज के बंधे हुए दायरे में लगता था। आन्दोलन की प्रवृत्तियों के साथ-साथ ज्यों-ज्यों दायरा विशाल बनता गया—दृष्टि-कोण व्यापक होता गया, त्यो-त्यो उस घर्ष पर लगने वाला समय और सामर्थ्य का प्रवाह जन-साधारण की ओर मुड़ता चला गया। उससे कतिपय व्यक्तियों को लगने लगा कि आचार्यश्री तैरापय से दूर हटने लगे हैं। वे गैर-तैरापयियों से घिरते चले जा रहे हैं।

आन्दोलन के प्रति

अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति भी अनेक शकएँ उठाई जाने लगीं। उनमें मुख्य ये थीं :

१. जो व्यक्ति सम्यक्त्वी नहीं है; क्या उसे अणुव्रती कहा जा सकता है ?

२. गृही-जीवन के विषय में नियम बनाना क्या आधुनिकों के अनु-
कूल है ?

३. थावक के बारह व्रतों को छोड़कर नया प्रकार करना क्या
आगमों के प्रति अन्याय नहीं है ? आदि-आदि ।

आचार्यश्री ने अथागमय उपर्युक्त तथा इन जैसी अन्य मनी शक्तियों
का अनेक बार समाधान किया । जो व्यक्ति अणुव्रती शब्द की उल्लंघन
में थे; वे स्वयं थावक-व्रत धारण न करने वाले को भी थावक ही कहा
करते थे । थावक और अणुव्रती शब्द के प्रयोग की मुलना पर ध्यान देने
में यह शका स्वयं ही निरस्त हो जाने वाली थी । परन्तु थावक
शब्द के प्रयोग की प्राचीनता और अणुव्रती शब्द के प्रयोग की नवीनता
उमें समझने में बाधक बनी रही । गृही-जीवन के विषय में नियम बनाने
की बात भी थावक के बारह व्रतों की नियमावली के आधार पर समझ
में आ सकती थी । भगवान् महावीर ने थावको की तात्कालिक जीवन-
व्यवस्था के आधार पर जो नियम बनाये थे; उसी प्रकार के ये नियम
थे; जो कि वर्तमान जीवन-व्यवस्था को ध्यान में रखकर बनाये गए थे ।
अणुव्रत और बारह व्रतों में तो कोई संबंध ही नहीं था । उस समय भी
अनेक व्यक्ति बारह व्रत धारण करते थे तथा अनेक द्वादश-व्रती अणुव्रत
के नियमों को भी स्वीकार करते थे । इतना स्पष्ट होने हुए भी ये
बातें दुहराई जाती रहीं ।

प्रार्थना में

अणुव्रत-आन्दोलन खुद ही जब चर्चा का विषय बना हुआ था; तब
अणुव्रत-प्रार्थना में भी दो मत होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी ।
उसके विरोध में यह प्रचारित किया गया कि प्रातः भगवान् का नाम
लेना चाहिए; वह तो इसमें है नहीं । इसमें तो मूठ, फरेब आदि के नाम
भर दिये गये हैं; जिनको कि उस समय याद ही नहीं करना चाहिए ।
कई लोग इसीलिए प्रातःकालीन प्रार्थना में सम्मिलित होते सकुचाते ।

एक बार की बात है—एक व्यक्ति को मैंने प्रार्थना में सम्मिलित होने के लिए कहा तो उत्तर मिला कि वह तो मेरी समझ में ही नहीं बैठती ।

मैंने पूछा—क्यों; ऐसी बीतसी उलझन की बात है उसमें ?

उसने कहा—नित्य सबेरे ही यह द्विदोरा पीटना कि हम भगवती बन चुके हैं; अतः हमारे भाग्य बड़े तेज हैं—मुझे तो विलकुल पसन्द नहीं है; और मैं तो अभी तक भगवती बना भी नहीं; अतः मेरे लिए तो ऐसा कहना भी असत्य ही होगा ।

भगवती-प्रार्थना की प्रथम कड़ी का जो अर्थ उसने लगाया था; उसे सुनकर मैं दंग रह गया । इस विरोध के प्रवाह में बहकर और भी अनेक व्यक्ति न जाने किन-किन बातों का क्या-क्या समझाना अर्थ लगाते रहते होंगे । मुझे उस भाई की बुद्धि पर तरस आया । मैंने समझाते हुए उससे कहा—तुमने प्रार्थना की कड़ी का गलत अर्थ लगाया है, इसी-लिए तुम्हें उसके विषय में भ्रम हुआ है । उस कड़ी का अर्थ तो यह है कि यदि हम भगवती बन सकें, तो यह हमारे लिए बड़े भाग्य की बात होगी । जिस प्रकार श्रावक के लिए तीन मनोरथों का उल्लेख आगमों में आता है और उनके द्वारा भाव-विगुडि होती है, उसी प्रकार हम प्रार्थना में जीवन-विगुडि के लिए जो सकल्प हैं; उनसे भाव-विगुडि होती है । भगवती बन करने का सामर्थ्य न होने पर भी ईसा बनने की भावना करना बुरा नहीं है । इन सब बातों को समझ लेने के बाद वह व्यक्ति प्रार्थना में सम्मिलित होने लगा ।

अस्पृश्यता-निवारण

जैन परम्परा जालीयता के आधार पर किसी को छोटा या बड़ा मानने की नहीं रही है । तब इस आधार पर किसी को स्पृश्य और किसी को अस्पृश्य मानने का तो प्रश्न ही नहीं उठता; फिर भी विद्यपी कुछ राजादिभ्यो में बाह्य प्रभावका अस्पृश्यता की भावनाएँ बनी और फिर धीरे-धीरे हड़ हो गईं । अब उन्हें फिर से मूल परम्परा तक ले जाना

कठिन हो गया है। उनके सामने उन रूढ़ संस्कारों का महत्व भगवान् महावीर के अन्त दर्शन से भी अधिक हो गया है।

आचार्यश्री ने जब जातिवाद को अवास्तविक कहा और तथैवव्यक्त अस्पृश्य व्यक्तियों को भी अपने सम्पर्क में लेना प्रारम्भ किया; तब बहुत से व्यक्तियों के मन में एक मूक; किन्तु प्रबल हलचल होने लगी। उस हलचल के प्रथम दर्शन छाप में हुए। आचार्यश्री ने वहाँ की एक हरिजन-बस्ती में व्याख्यान देने के लिए एक साधु को भेजा और कहा कि उन्हें समझाकर मद्य-मांस आदि का परित्याग कराओ। हरिजन-बस्ती में किसी साधु को भेजे जाने का वह प्रथम अवसर ही था। उन्हें जाना तो पड़ा; किन्तु उनका मन समस्या-संकुल बना हुआ था। व्याख्यान हुआ, सनेक व्यक्तियों ने मद्य-मांस आदि छोड़ा। व्याख्यान-समाप्ति पर सैकड़ों लोग उनके साथ आचार्यश्री तक आये। सर्वत्र व्यक्तियों ने उनको बड़े कुतूहल की दृष्टि से देखा। उस दृष्टि में स्वयं उपदेष्टा भी अपने-आपको कुछ हीन-सा अनुभव करने लगे।

उसी समय सजुचाते-से दूर सडे हरिजनो से किसी ने कहा—“देवने क्या हो, आचार्यश्री का चरण-स्पर्श करो !” कहने वाले की भावना में क्या था, पता नहीं, परन्तु देसने वाले स्तब्ध सडे थे कि देसं अब क्या होना है। आचार्यश्री अपने-आप में स्पष्ट थे। हरिजन भाइयों ने आगे आकर उनका चरण-स्पर्श किया। आचार्यश्री ने उन्हें प्रोत्साहित ही किया, रोका तनिक भी नहीं। यह घटना काफी चर्चा का विषय बनी। कुछ लोग उत्तेजित भी हुए। कुछ ने कहा कि ये हम सबों एक कर देना चाहते हैं। साधुओं में भी इसकी हलचल कम नहीं थी।

पारमार्थिक शिक्षण संस्था

पारमार्थिक शिक्षण संस्था की स्थापना भी अजुवत-मान्दोन की स्थापना के एक पक्ष बाद ही (वि० स० २००५ अंक अरुणा तृतीय को) हुई थी। श्री अंन दवेनाम्बर तैरापशी महासभा, कपडता की ओर से

दीक्षार्थियों को अध्ययन की सुविधा देने के लिए इस सस्था का निर्माण हुआ। यह काफी दिनों तक भ्रालोचना का विषय बनती रही। दीक्षार्थी महासभा द्वारा निर्धारित अध्ययन करने के साथ-साथ अपनी आचार-साधना के विषय में आचार्यश्री से भी आदेश-निर्देश पाते थे। भ्रालोचकों ने उसी बात को पकड़ा और प्रचारित किया कि दीक्षार्थियों के खान-पान, रहन-सहन आदि की सारी व्यवस्था आचार्यश्री के आदेश से होती है।

आचार्यश्री ने अनेक बार उस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा कि साधना के विषय में मार्ग-दर्शन करना मेरा बर्तव्य है, वह मैं करता हूँ। सस्था में चलने वाली अन्य प्रवृत्तियों से मेरा सम्बन्ध नहीं है। यहाँ तक कि सस्था में किसे लिया जाये और किसे नहीं; यह निर्णय भी स्वयं सस्था के पदाधिकारी करते हैं। प्रत्येक दीक्षार्थी को सस्था में रहना ही पड़ेगा, अन्यथा मैं दीक्षित नहीं करूँगा—ऐसा मेरा कोई निर्णय नहीं है। कोई दीक्षार्थी अध्ययन करना चाहे और वह इस सस्था में रहे तो मैं कोई बाधा नहीं देता, और न रहे तो भी मेरे सामने कोई बाधा नहीं है।

बाह्य संघर्ष

सामग्र्य-संवेपणा

आचार्यश्री की भ्रान्तरिक सघर्षों की तरह ही बाह्य सघर्षों का भी सामना करना पड़ा है। तैरापथ के लिए ऐसे सघर्ष नवीन नहीं हैं। वे उसकी उत्पत्ति के साथ से ही श्ले आ रहे हैं। समय-समय पर उन सघर्षों का रूप अक्सर बदलता रहा है, परन्तु विरोधी जनो की भावना की तीव्रता सम्भवतः कम नहीं हुई है।

आचार्यश्री अपनी तथा अपने सघर्ष की शारीरिक शक्ति को निर्माण में लगा देना चाहते हैं। पारम्परिक सघर्षों में शक्ति खपाना उन्हें बिलकुल प्रसिद्ध नहीं है। इसीलिए यथामुम्वन वे सघर्षों को टालना चाहते हैं। विरोधी स्थितियों में भी वे सामग्र्य का सूत्र खोजते रहते हैं। इच्छा यह प्रथं बदापि नहीं है कि वे विरोधों का सामना कर नहीं सकते।

कठिन हो गया है। उनके सामने उन स्वयंसेवकों का महान् प्रयत्न महावीर के प्रान्त दर्शन में भी अधिक हो गया है।

आचार्यश्री ने जब जातिवाद को अज्ञानविक कहा और तत्कारणित प्रवृत्त व्यक्तियों को भी अपने सम्पर्क में लेना प्रारम्भ किया; तब बहुत ही व्यक्तियों के मन में एक झुकाव; किन्तु प्रबल हलचल होने लगी। उस हलचल के प्रथम दर्शन धार में हुए। आचार्यश्री ने वहाँ की एक हरिजन-बस्ती में व्याख्यान देने के लिए एक साधु को भेजा और कहा कि उन्हें ममभारत मठ-माँग आदि का परित्याग कराओं। हरिजन-बस्ती में किसी साधु को भेजे जाने का वह प्रथम अवसर ही था। उन्हें जाना तो पड़ा, किन्तु उनका मन समस्या-संकुल बना हुआ था। व्याख्यान हुआ, अनेक व्यक्तियों ने मठ-माँग आदि छोड़ा। व्याख्यान-मन्त्रि पर सैरुहो लाग उनके साथ आचार्यश्री तक आये। सबके व्यक्तियों ने उनको बड़े कुतूहल की दृष्टि से देखा। उस दृष्टि में स्वयं उपदेश भी अपने-आपको कुछ हीन-सा अनुभव करने लगे।

उसी समय सजुचाते-से दूर सड़े हरिजनों से किसी ने कहा—“देखो क्या हो, आचार्यश्री का चरण-स्पर्श करो !” कहने वाले की भावना में क्या था, पता नहीं; परन्तु देखने वाले स्तब्ध सड़े से कि देव अव क्या होता है। आचार्यश्री अपने-आप में स्पष्ट थे। हरिजन भाइयों ने आगे आकर उनका चरण-स्पर्श किया। आचार्यश्री ने उन्हें प्रोत्साहित ही किया, रोका तनिक भी नहीं। यह घटना काफी चर्चा का विषय बनी। कुछ लोग उत्तेजित भी हुए। कुछ ने कहा कि ये हम सबको एक कर देना चाहते हैं। साधुओं में भी इसकी हलचल कम नहीं थी।

पारमार्थिक शिक्षण संस्था

पारमार्थिक शिक्षण संस्था की स्थापना भी अणुव्रत-आन्दोलन की स्थापना के एक पक्ष बाद ही (वि० सं० २००५ पत्र कृष्णा तृतीय की) हुई थी। श्री जैन श्वेताम्बर तैरापंची महासभा, कलकत्ता की ओर से

दीक्षार्थियों को अध्ययन की सुविधा देने के लिए इस सस्या का निर्माण हुआ। यह काफी दिनों तक भालोचना का विषय बनती रही। दीक्षार्थी महासभा द्वारा निर्धारित अध्ययन करने के साथ-साथ अपनी आचार-साधना के विषय में आचार्यश्री से भी आदेश-निर्देश पाते थे। भालोचकों ने उसी बात को पकड़ा और प्रचारित किया कि दीक्षार्थियों के खान-पान, रहन-सहन आदि की सारी व्यवस्था आचार्यश्री के आदेश से होती है।

आचार्यश्री ने अनेक बार उस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा कि साधना के विषय में मार्ग-दर्शन करना मेरा कर्तव्य है; वह मैं करता हूँ। सस्या में चलने वाली अन्य प्रवृत्तियों से मेरा सम्बन्ध नहीं है। यहाँ तक कि सस्या में किसे निया जाये और किसे नहीं; यह निर्णय भी स्वयं सस्या के पदाधिकारी करते हैं। प्रत्येक दीक्षार्थी को सस्या में रहना ही पड़ेगा, अन्यथा मैं दीक्षित नहीं करूँगा—ऐसा मेरा कोई निर्णय नहीं है। कोई दीक्षार्थी अध्ययन करना चाहे और वह इस सस्या में रहे तो मैं कोई बाधा नहीं देखता, और न रहे तो भी मेरे सामने कोई बाधा नहीं है।

बाह्य संघर्ष

सामाजिक-अधेयणा

आचार्यश्री को भ्रान्तरिक संघर्षों की तरह ही बाह्य संघर्षों का भी सामना करना पड़ा है। तैरापथ के लिए ऐसे संघर्ष नवीन नहीं हैं। वे उसकी उत्पत्ति के साथ से ही श्लेष्मा रहे हैं। समय-अमय पर उन संघर्षों का रूप अक्षय बदलता रहा है, परन्तु विरोधी शक्तों की भावना की तीव्रता सम्भवतः कम नहीं हुई है।

आचार्यश्री अपनी तथा अपने साथ की सारी शक्ति को निर्माण में लगा देना चाहते हैं। पारम्परिक संघर्षों में शक्ति राखना उगटे क्लिप्तुल अभीष्ट नहीं है। इसीलिए यथामुम्भव वे संघर्षों को टालना चाहते हैं। विरोधी स्थितियों में भी वे सामाजिक का मूल सांजते रहते हैं। इसका यह अर्थ बदायि नहीं है कि वे विरोधों का सामना कर नहीं सकते।

उनके सामने अनेक विरोध आये हैं और उन्होंने उनका बड़े सामर्थ्य के साथ सामना किया है।

वे सत्य के भक्त हैं; अतः जहाँ उसकी प्राप्ति होती है; वहाँ बट्टर विरोधी की बात मानने में भी वे कभी हिचकिचाहट नहीं करते। जहाँ सत्य की अवहेलना होती है, वहाँ वे किसी की भी बात नहीं मानते। सत्यास की अवज्ञा और असत्यास को प्रथम उन्हें किसी भी परिस्थिति में इष्ट नहीं है।

विरोध के दो स्तर

तेरापथ की मान्यताओं को लेकर अनेक आलोचनाएँ होती रहती हैं। उनमें बट्टर-मी निम्नस्तरीय होती हैं। आचार्यश्री उनकी उपेक्षा करते हैं। किन्तु कुछ उच्चस्तरीय भी होती हैं, उनका वे आदर करते हैं। अपनी आलोचना में निम्नी गई बातों को वे बड़े ध्यान से पढ़ते हैं, उन पर मनन करते हैं, आवश्यकता होने पर उसी औचित्यपूर्ण ढंग में उनका प्रतिवाद भी करते हैं। इस पद्धति को वे विरोध-पूर्ण न मान कर सौहार्द-पूर्ण ही मानते हैं।

निम्न कोटि की आलोचना में बहुधा इतर सम्प्रदायों के कुछ घनहिष्णु व्यक्तित्व रग लेने हैं। उनमें कुछ ऐसे व्यक्ति भी हो सकते हैं; जो अपने-आपको किसी भी सम्प्रदाय का न कहे, तथा कुछ ऐसे भी हो सकते हैं, जो स्वयं को तेरापथी कहे, पर उन सबका ध्येय प्रायः शिरोष के लिए विरोध होना है। वे आचार्यश्री की उन प्रवृत्तियों का भी उपहास करते हैं, जिनको कि वे ठीक समझते होने हैं। आचार्यश्री जब हरिजनों में व्याख्यान आदिके लिए जाने लगे तथा धम्पुसयता का सङ्गत करने लगे, तब इसी प्रकार के कुछ लोगों ने उन प्रवृत्ति का मजाक — 'कौआ खने हम की जान' बह कर दिया था। जब अमृतन-आन्दोलन के माध्यम से आचार्यश्री ने नैतिक जागरण का उद्घोष किया तो उन लोगों ने उसे 'नयी बौद्ध में पुरानी चाराब' बनवाया। ऐसे व्यक्ति

अंधेरा-ही अंधेरा देखने रहने के घादी हो जाते हैं। ज्योत्सना की धवलिमा या तो उनके बाँटे ही नहीं पड़ती; या फिर अपने स्वभावानुसार वे उसे स्वीकार ही नहीं करते।

दीक्षा-विरोध

जो व्यक्ति गृही-जीवन से विरक्त हो जाते हैं; वे मुनि-जीवन में दीक्षित होते हैं। दीक्षा की पद्धति प्रायः सभी भारतीय सम्प्रदायों में है, तैरापथ में भी है। तैरापथ इन दीक्षाओं में विशेष सावधानी बरतना है। इसमें केवल आचार्य को ही दीक्षा देने का अधिकार है। दीक्षार्थी के अभिभावकों की लिखित स्वीकृति के बिना किसी को दीक्षित नहीं किया जाता। दीक्षार्थी के लिए एक निर्धारित सीमा तक का तात्त्विक ज्ञान अनिवार्य माना जाता है। वहाँ तक दीक्षार्थी के कष्ट-सहिष्णुता आदि गुणों की परीक्षा की जाती है। जब वह इन सब परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो जाता है; तब उसको जन-समूह में दीक्षित किया जाता है। तैरापथ की यह प्रणाली हर प्रकार से सन्तोषप्रद परिणाम लाने वाली रही है।

विरोध हर बात का हो सकता है; परन्तु जब विरोध करने का ही दृष्टिकोण बना लिया जाता है; तब तो वह घोर भी सहज हो जाता है। दीक्षा का भी विरोध किया जाता रहा है, वही 'बाल-दीक्षा' के नाम पर, तो कही साधु-सत्त्या को ही अनावश्यक बनाकर। तैरापथ के सामने ऐसे घनेक विरोध आने रहे हैं। कहीं-कहीं से विरोध ऊपर से तो दीक्षा-विरोध हो सकते हैं; पर अन्तरंग में वे तैरापथ के विरोध होते हैं। जयपुर का दीक्षा-विरोध इसी बोटि का था।

विरोधी समिति

वि० स० २००६के जयपुर शाकुर्मास में आचार्यश्री ने कुछ व्यक्तियों को दीक्षित करने की घोषणा की। विरोधी व्यक्ति सम्भवतः विरोध करने का अवसर खोज ही रहे थे। उन्हें वह अवसर मिल गया। उन

सोमों ने 'बालदीक्षा-विरोधी ममिति' का गठन किया। हालाँकि उन दीक्षार्थियों में एक भी ऐसा बालक नहीं था, जिसके लिए उन्हें विरोध करने से वाध्य होना पड़े, फिर भी विरोधी वातावरण बनाया गया। वस्तुतः वह दीक्षा का विरोध न होकर आचार्यश्री के बढ़ते हुए व्यक्तित्व और प्रभाव का विरोध था। दीक्षा को तो विरोध करने के लिए माध्यम बनाया गया था।

वह अगुव्रत-ग्रान्दोलन का आरम्भ-काल था। आचार्यश्री उसके प्रचार-प्रसार में पूरी तन्मयता से लगे हुए थे। जनता पर उन व्रतों का अच्छा प्रभाव हो रहा था। उसके माध्यम से साधारण जनता से लेकर जन-नेता तक आचार्यश्री के सम्पर्क में आ रहे थे। देश के बौद्धों के व्यक्तियों ने भी उनके कार्यक्रमों को गराहा और देश के लिए उन्हें उपयोगी माना। वह कुछ व्यक्तियों को अंधरा। उसी अंधरन का फलित रूप वह विरोध था। दीक्षा के विरुद्ध वातावरण तैयार करने की योजना बनी और वह विशिष्टियों आदि द्वारा कार्य में परिणत की जाने लगी। समाचार-पत्रों में भी एतद्-विषयक विरोधी लेख, टिप्पणियाँ आदि प्रकाशित की गईं। जनता को बड़े पैमाने पर भ्रान्त करने का वह एक सुनियोजित षड्यन्त्र था।

एक प्रवचन

आचार्यश्री को उस विरोधी प्रचार पर ध्यान देना आवश्यक हो गया। लोगों में फैलाई जाने वाली भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करना आवश्यक था; अतः उन्हीं दिनों में जैन-दीक्षा विषय पर एक सार्वजनिक प्रवचन रखा गया। उसमें आचार्यश्री ने तैरापय की दीक्षा-प्रणाली को सबके सामने रखा। दीक्षा के विषय में उठाने जाने वाले तर्कों का सामाधान किया। दीक्षा-विषयक अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए उन्होंने कहा कि मेरे विचार से दीक्षा के लिए न तो सारे बालक ही योग्य होते हैं और न सारे युवक या बूढ़ ही। कुछ बालक भी उसके लिए योग्य हो सकते हैं और कुछ युवक तथा बूढ़ भी। दीक्षा में अस्व

की परिपक्वता का उदना महत्व नहीं होता, जितना कि मस्तरागे की परिपक्वता का होना है। बालक को ही दीक्षित किया जाना चाहिए, यह मेरा मन्वन्व नहीं है। इस विषय में मेरा कोई धारणा भी नहीं है। मेरा धारणा तो यह है कि अयोग्य दीक्षा नहीं होनी चाहिए, भले ही वह व्यक्ति युवा या वृद्ध ही क्यों न हो।

विरोधी समिति के सदस्यों को भी धारणा करने हुए उन्होंने कहा कि वे दूर-दूर से ही विरोध क्यों करने हैं? उन्हें चाहिए कि वे मेरे विचार समर्थक या करने विचार समर्थक हैं। मैं किसी भी प्रकार के परिवर्तन में विद्वान न करने वारो में नहीं हूँ, देश-आज की परिस्थितियों में भी अनभिज्ञ नहीं हूँ, पर माय में यह भी कह दूँ कि किसी प्रकार के वानावरण के प्रवाह में बह जाने वाला भी मैं नहीं हूँ।

विरोध में तीव्रता

उम भाग्य से लोग काफी प्रभावित हुए। उम सभा में विरोधी समिति के कई सदस्य भी उपस्थित थे। उन पर भी प्रभावित हुई। वे उम विषय पर विचार-विमर्श के लिए धारणावंधी के पास धारणा, धारणा ही हुई, परन्तु उमका परिणाम विरोध को मन्द या बन्द कर देने के बजाय अधिक तीव्र कर देने के रूप में ही सामने धारणा। उन लोगों द्वारा दीक्षा का विरोध करने के लिए बाहर से अनेक विद्वानों को बुलाया गया। विरोधी समिति धारणावंधी की गई। धारणावंधी भाग्य किन्तु नए। पैम्फलेटों, समाचार-पत्रों तथा पुस्तिकाओं द्वारा भी काफी विचार-व्यय किया गया। मेरापक्ष में या मेरापक्ष की प्रवर्धन में विरोध करने वाले प्रायः सभी व्यक्तियों का उम्हें सम्बंध और सहयोग प्राप्त था। उन सबके विचार एक ऐसा मोर्चा बना दिया था कि विमर्श दीक्षाओं को रोक कर मेरापक्ष को प्रभावित किया जा सके।

प्रबोध-सूत्र

विरोध में से दुहरने मन्वन्व किन्तु संवित्त मन्वन्व भी संवित्त बन

जाता है। तेरापथ तो फिर एक गुसगठित धर्म-मम्प्रदाय है। ज्यों-ज्यों लोगों को उग विरोध का पना लगना गया; त्यों-त्यों वे जयपुर पहुँचने लगे। उन सबका निर्णय था कि दीक्षा किसी भी स्थिति में नहीं रहेगी। दीक्षा को घोषित तिथि ज्यों-ज्यों समीप आती गई; त्यों-त्यों जनता बढ़ती गई। बालावरण में गरमी भी बढ़ती गई। जनता को शान्त रखना कठिन भवश्य हो रहा था; पर वह आवश्यक था; इसलिए आचार्यश्री ने सबको सावधान करते हुए कहा—“हिंसा को हिंसा से जीतना कोई मौलिक विजय नहीं होती। हिंसा को अहिंसा में जीतना चाहिए। हम साधन-शुद्धि पर विश्वास करते हैं; अतः पथ की समस्त बाधाओं को स्नेह और सौहार्द में ही पार करना होगा। उत्तेजित होकर काम को बिगाड़ा ही जा सकता है, सुधारा नहीं जा सकता। मैं यह नहीं कहता कि आप विरोध के सामने झुक जायें; मैं तो यह कहता हूँ कि विरोध का सामना अवश्य करे; परन्तु अहिंसक ढंग से करें। विरोधी लोग उत्तेजना बढ़ाना चाहे और आप उत्तेजित हो जायें तो यह उनकी सफलता मानी जायेगी, यदि आप उस समय भी शान्त रहें तो यह आपकी सफलता होगी। मैं आशा करता हूँ कि कोई भी तेरापथी भाई न उत्तेजित होगा और न उत्तेजना बढ़े; वैसा कार्य करेगा। दूसरा क्या कुछ करता है; यह उसके सोचने की बात है; पर हमारा मार्ग सदैव शान्ति का रहा है और इसी में हमारी सफलता के बीज निहित है।”

दीक्षा के विषय में भी जनता को आचार्यश्री ने बताया कि यदि दीक्षार्थी दृढ़ संकल्प होंगे तो उनकी दीक्षा किसी भी प्रकार से नहीं रोकी जा सकेगी। विरोधी-जन अधिक-से-अधिक इतना ही कर सकते हैं कि वे दीक्षार्थियों को निर्णोत समय पर मेरे पास न पहुँचने दें। उस स्थिति में दीक्षार्थियों को स्वयं ही दीक्षा ग्रहण कर लेनी चाहिए। दीक्षा एक

४ है। वह दीक्षार्थी की आत्मा से उद्भूत होता है। गुरु तो केवल साधन-मात्र या साक्षी-मात्र होते हैं। दीक्षा के घबसर पर

किये जाने वाले आयोजन आदि भी केवल व्यवहार-मान ही होते हैं । उसे न कोई हिंसक पशु-बल रोक सकता है और न तयाकथित सत्याग्रह आदि ।

आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त इस प्रबोध-सूत्र ने दूर-दूर से समागत उत्तेजित बन्धुओं को शान्ति प्रदान की तथा दीक्षाधियों को मार्ग-दर्शन दिया । विरोधियों के समस्त शस्त्र इस पर टकराकर व्यर्थ हो गए ।

दीक्षाएँ सम्पन्न

दूसरे दिन प्रातः ठीक समय पर पूर्व-निर्धारित स्थान पर ही दीक्षाएँ हुई । किसी भी प्रकार की भ्रशान्ति नहीं हुई । तेरापथ के लिए वह एक कसौटी का अवसर था । विरोधी जनो के इतने सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित विरोध को परास्त कर देना सामान्य बात नहीं थी । वह अपने प्रकार का प्रथम विरोध ही था और सम्भवतः अन्तिम भी ।

योग्य कौन ?

जस विरोध में कई समाचार-पत्रों के संचालक और सम्पादक भी सम्मिलित थे । विरोधी पक्ष को सामने रखने तथा दीक्षा के विरुद्ध प्रचार करने में उनका धुलकर उपयोग हुआ था । एक ओर जहाँ बाहर के पत्रों में अगुव्रत-भान्दोलन के विषय में अनुकूल विचार जाते थे; वहाँ दूसरी ओर बाल-दीक्षा को लेकर प्रतिकूल विचार भी । फल यह हुआ कि आचार्यश्री बाल-दीक्षा के कट्टर समर्थक माने जाने लगे । पर वे न तो बाल-दीक्षा के कट्टर समर्थक हैं और न युवा-दीक्षा या वृद्ध-दीक्षा के ही । वे तो अपने-आपको केवल योग्य दीक्षा का समर्थक मानते हैं । वह योग्यता बचपितृ बालक में भी हो सकती है तथा बचपितृ युवा और वृद्ध में भी । बालक में वैसी योग्यता हो ही नहीं सकती, इस मांग्यता के वे कट्टर विरोधी अवश्य हैं ।

एक पूछना

जो व्यक्ति दीक्षा-मात्र के विरोधी हैं; उन्हें वे कुछ नहीं करना चाहते; परन्तु जो किसी एक भी अवस्था में; चाहे वह युवावस्था हो या वृद्धावस्था; दीक्षा की उपयोगिता स्वीकार करते हैं; उनसे वे पूछना चाहते हैं कि ऐसा करके क्या वे जन्मान्तर को नहीं मान लेते हैं? जन्मान्तर मानने वाले के लिए क्या कभी पूर्व-संस्कार अमान्य हो सकते हैं? यदि पूर्व-संस्कार नामक कोई तत्त्व है तो फिर वह बालक में भी उद्भूत होता है। दीक्षा और क्या है? पूर्व-संस्कारों के उद्बोध की फलपरिणति का नाश ही तो है। उसमें अवस्था का प्रश्न मुख्य नहीं, गौण रह जाता है।

विधेयक और आचार्यधी

यद्यपि आचार्यधी युग-भाषना के माध्यम से विज्ञापित ही बनने हैं; परन्तु जहाँ तन्त्र-विशेष का प्रश्न है, वहाँ उसमें धर्मों की बनावट भी तो उचित नहीं होगी। वे इसी आधार पर जहाँ-जहाँ ऐसे प्रकरण उठते हैं, वहाँ-वहाँ दीक्षा के माध्यमों का धर्मिण्यम् सम्बन्ध जोड़ने का विरोध करने हैं। उनकी दृष्टि में यह भी उचित नहीं है कि कानून द्वारा बाल-दीक्षा को रोका जाये। विभिन्न राज्यों की विधान-परिषदों में इन विषयों के विधेयक प्रस्तुत हो रहे हैं। आचार्यधी ने उनका विरोध किया है।

विधेयक और मुरारजी देसाई

कम्बई विधान-परिषद् में 'बाल-अन्याय-दीक्षा-निवन्धक' विधेयक प्रस्तावित था। तब बड़ी मुरारजी देसाई मुख्यमन्त्री थे। उस विधेयक के विनियमों में मुरारजी मुरारजी ने उनमें विधेयक के विधानों का आदान-प्रदान हुआ तो मुरारजी देसाई ने भी आचार्यधी के समान ही कानून के द्वारा उसे रोके विरोधी है। उनकी उस मीनि के कारण ही वह प्रस्ताव नहीं पारित हो सका था।

मुरारजी देसाई का भाषण

उन्होंने उस अवसर पर विधान-परिषद् के सदस्यों के सम्मुख जो भाषण^१ दिया था; वह विचारों की दृष्टि से बहुत ही मननीय था। उसे पढ़ने समय ऐसा लगता है मानो आचार्यश्री के ही उद्गार भाषान्तर से उन्होंने बड़े थे। उनके भाषण का कुछ अर्थ यहाँ दिया जा रहा है :

“ पहले हमें इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि क्या हर हालत में यह गुलत है कि बालक साम्यारिक जीवन का परिचय करे ? अगर हम कर्मवाद के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं, तो जो बालक बाल-दीक्षा के पूर्व सरकारों के सहित जन्म लेता है, उसे संसार-परित्याग में कोई बाधा नहीं हो सकती। उन व्यक्तियों के हमारे पास गौरवपूर्ण उदाहरण हैं; जिन्होंने बचपन में मन्वास दीक्षा ग्रहण की। मेरे बन्धु महाशय का कहना है कि इस प्रकार के व्यक्ति बहुत कम होते हैं, लेकिन मैं उन्हें यह बनवाना चाहता हूँ कि समार का भना करने वाले व्यक्ति भी बहुत कम ही हैं। इसी प्रकार समार का भना बहुत छोटे छात्रियों से ही हुआ है, बड़ों से नहीं, और समार का छोड़ने वाले भी बहुत से छात्र ही हो सकते।

नाबालिग का अर्थ सदा उम्र व्यक्ति में नहीं होता जो किसी चीज को न समझे। नाबालिग वह है जो २१ वर्ष में नीचे का हो और अगर वह समार को छोड़ना चाहे तथा उसके लिए कटिबद्ध रहे तो सरकार के लिए क्या यह उचित है कि वह उसे रोके। नाबालिग भी हम से ज्यादा बुद्धिमान हो सकता है। हमें यह भी नहीं भ्रूतना चाहिए कि यह एक पूर्व कर्मों की भी बात है। समार में बहुत बुद्धिमान हुए हैं। वे गारे उदाहरण हमारे सामने हैं। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि किसी हम बचक हो चुके हैं, अतः अधिका बुद्धिमान हैं। मैं यह नहीं

१. ४ नवम्बर १९२२ और १२ नवम्बर १९२२ को यह भाषण दिया गया था।

बहना चाहिए कि त्याग और तपस्या के प्रादर्सों को जितना जैन साधुओं ने सुरक्षित रखा है, उतना और किसी सध के साधुओं ने नहीं। यह वैदियों के लिए गौरव की बात है। ऐसे सम्प्रदायों पर, दिनके साथ मत-भिन्नता के कारण हम एकमत नहीं, आक्रमण करने से कोई फायदा नहीं।

मुझे किसी व्यक्ति को सन्यास-जीवन अपनाने से नहीं रोकना चाहिए—इस कारण से कि मैं खुद सन्यास-जीवन को नहीं अपना सकता। इन्सान के साथ बर्ताव करने का यह तरीका गलत है। सिर्फ इसी कारण से कि मैं सांसारिक जीवन को अच्छा समझता हूँ, मुझे हर एक व्यक्ति को सांसारिक जीवन को छोड़ जाने के लिए नहीं बहना चाहिए। अगर सन्यासी लोग कहे भी कि सांसारिक जीवन अच्छा नहीं है, तो भी मैं सन्यासी होने के लिए तैयार नहीं हूँ। तब मुझे क्या जोर देकर बहना चाहिए कि मैं सांसारिक जीवन को अच्छा समझता हूँ, अतः किसी को भी सन्यासी नहीं होना चाहिए। जिस तरह मैं अपने जीवन में उस रास्ते पर चलने की स्वतन्त्रता चाहूँगा, जिसे मैं चाहता हूँ, उसी तरह मुझे दूसरों को उस रास्ते पर चलने की स्वतन्त्रता देनी चाहिए, जिस पर वे चलना पसन्द करते हों। मैं यह नहीं सोचता कि शंकराचार्य, हेमचन्द्राचार्य और ज्ञानेश्वर जैसे व्यक्तियों के रास्ते में रोड़ा अटकाना हमारे लिए उचित कदम होगा, क्योंकि अगर हम ऐसा करते हैं तो उसका मतलब होगा कि हम केवल अपने देश को ही नहीं, बल्कि ससार को ऐसे महान् व्यक्तियों से वंचित करते हैं। मैं नहीं सोचता कि हमें सामाजिक मुधार के नाम पर कभी ऐसी ब्रेष्टा करनी चाहिए, चाहे कई लोगों को ऐसा करना कितना ही अभीष्ट क्यों न हो ?

...धर्म मानव के अन्तर की स्वाभाविक प्रेरणा है, जिसे दबाया नहीं जा सकता। जब हम कहते हैं कि बच्चों को इस क्षेत्र में नहीं जाने देना चाहिए, तब हमें यह याद रखना चाहिए कि हम उन्हें बहुत से दूसरे क्षेत्रों में जाने देते हैं। क्या हमने बच्चों को स्वतन्त्रता के सधाम

बढ़ना कि हगण बावत बुद्धिमान् होगा है और हररक बावत
समभता है । ऐमा कभी नहीं होगा । मेरे विचार मे बहुत बों क
ऐमे होने है । फिर भी यह वानून उनकी उप्रति मे दनाउट इत
भगर वे धानी इच्छानुसार ऐमा नहीं कर सकेंगे, जब कि उनकी प्र
ऐमा करने के लिए तत्परनै हो । भारतीय महकृति एवं सन्त
विभाग मे गाधु-गध की बहुत बढ़ी देन है । मुझे यह बहने मे
द्विचिचाहट नहीं है कि गाधु-मस्या मे बहुत मे दोष भी प्रा यो
लेकिन एक बन्तु का उपयोग वा दुरुपयोग हो सकना उस चीज
विलुल मिटा देने वा कारण वा प्राधार नहीं हो सकना ।

हम यहाँ तमाम लोग गोच रहे हैं कि सिर्फ बरस्क ही ऐने है
बुद्धिमान् है और बच्चे नहीं । हम भूच जाते हैं कि ज्ञानेश्वर ने
वर्ष की प्रायु मे 'ज्ञानेश्वरी' को लिगा था और बहुत से दानिप
सताब्दियों के बाद भी आज उनकी पूजा कर रहे हैं । ऐना एक
उदाहरण नहीं है, ऐमे बहुत मे उदाहरण मिलते हैं । महामना राज
ने, जिनमे महात्मा गाधी थदा रहते थे, १२ से १६ वर्ष की प्रायु
लिखना प्रारम्भ कर दिया था और उनकी पुस्तकें आज भी पडी बा
है । वे सन्यासी नहीं थे, लेकिन निरन्तर जीवन अपनी पसन्द के प्रनु
बिताते थे । इससे कोई मतलब नहीं कि ऐसे प्रादमी सन्यास लेते हैं
नहीं । मान लीजिये, कोई ऐसा बच्चा दीशा लेना चाहता है तो
मुझे उसे रोकना चाहिए ?

यह सच है कि इस बिल को प्रस्तुत करने वाले सज्जन ने
उदाहरण दिये हैं, वे प्रायः जँनों के हैं और किसी के नहीं । इसलिए प्रा
जँनी यह सोचें कि यह बिल सर्वसाधारण के लिए न होकर केवल जँनों
द्वारा जो दीक्षाएँ दी जाती हैं उन्हीं को रोकने के लिए है तो वे गुलत नहीं
कहे जायेंगे । मेरे पास सैकड़ों विरोध-पत्र व तार पहुँचे हैं और वे तम
जँनों के हैं, लेकिन एक दूसरी बात और है जिसे मे स्पष्ट करना चाहूँगा ।
साधु या सन्यासियों के तमाम संघों मे, जिनको कि मैंने देखा है, उनके

कहना चाहिए कि त्याग और तपस्या के द्वादशों को जितना जैन साधुओं ने गुरुभित रखा है, उतना और किसी सध के साधुओं ने नहीं। यह जैनों के लिए गौरव की बात है। ऐसे सम्प्रदायों पर, जिनके साथ मन-भिन्नता के कारण हम एकमत नहीं, आक्रमण करने में कोई फायदा नहीं।

मुझे किसी व्यक्ति को संन्यास-जीवन घपनाने में नहीं रोचना चाहिए—इस कारण से कि मैं खुद संन्यास-जीवन को नहीं घपना सकता। इन्सान के साथ बर्ताव करने का यह तरीका गलत है। सिर्फ इसी कारण से कि मैं सामाजिक जीवन को अच्छा समझता हूँ, मुझे हर एक व्यक्ति को सामाजिक जीवन की ओर जाने के लिए नहीं कहना चाहिए। अगर संन्यासी लोग उन्हें भी कि सामाजिक जीवन अच्छा नहीं है, तो भी मैं संन्यासी होने के लिए तैयार नहीं हूँ। तब मुझे क्यों जोर देकर कहना चाहिए कि मैं सामाजिक जीवन को अच्छा समझता हूँ, घन किसी को भी संन्यासी नहीं होना चाहिए। जिस तरह मैं अपने जीवन में उस रास्ते पर चलने की स्वतन्त्रता चाहूँगा, जिसे मैं चाहता हूँ, उसी तरह मुझे दूसरों को उस रास्ते पर चलने की स्वतन्त्रता देनी चाहिए, जिस पर वे पचना पसन्द करने हों। मैं यह नहीं सोचता कि पकराचार्य, हेमचन्द्राचार्य और ज्ञानेश्वर जैसे व्यक्तियों के रास्ते में रोश घटवाना हमारे लिए उचित कदम होगा, क्योंकि अगर हम ऐसा करते हैं तो उगरी मतलब होगा कि हम केवल अपने देश को ही नहीं, बल्कि ससार को ऐसे महान् व्यक्तियों से वंचित करने हैं। मैं नहीं सोचता कि हमें सामाजिक सुधार के नाम पर कभी ऐसी चेष्टा करनी चाहिए, जैसे कई लोगों को ऐसा करना किताब ही अभीष्ट क्यों न हो ?

“धर्म मानव के घनर की स्वाभाविक प्रेरणा है, जिसे दबाया नहीं जा सकता। जब हम कहते हैं कि बच्चों को हम रोश में नहीं जाने देना चाहिए, तब हमें यह याद रखना चाहिए कि हम उन्हें बहुत से दूसरे रोशों में जाने देते हैं। क्या हमने बच्चों की स्वतन्त्रता के उदाहरण

में भरती नहीं किया और उस संग्राम में लम्बे समय तक लगाकर उनके भावी जीवन के सारे विकास को नहीं रोका ? क्या यह उनकी भावना जगाने का प्रश्न नहीं था ? क्या हम यह सोचते हैं कि हम बच्चों का ग़लत उद्देश्य के लिए प्रयोग कर रहे थे ? बिल्कुल नहीं। यह एक महान् कार्य था। महात्माजी ने बच्चों से गहने ले लिये और उनको आशीर्वाद दिया। क्या वे बच्चे जानते थे कि वे क्या कर रहे थे ? क्या यह कहा जा सकता है कि बच्चे सही काम कर रहे थे और महात्मा गांधी हमारी भावी सन्तान को महान् बलिदान व त्याग की शिक्षा दे रहे थे; लेकिन आज मैं यह सोचता हूँ कि वह सब सही था। मैं उसमें कोई दोष नहीं पाता। जब कभी हम मनुष्यों को व बच्चों को अच्छी बातों की शिक्षा दे रहे हों, तो मैं समझता हूँ कि हमें उसका घनादर नहीं करना चाहिए, वरन् स्वागत करना चाहिए^१।”

विरोध की मृत्यु

उपर्युक्त विचार दीक्षा के समर्थकों और विरोधियों—दोनों के लिए ही मननीय हैं। इस भाषण में जिन तथ्यों का निरूपण है, बहुधा वे ही तथ्य आचार्यश्री सबके सामने रखे रहे हैं। उनके इन विचारों में मभी ग़मम हो, यह कोई आवश्यक बात नहीं है। पर उसमें रहे तथ्यों की प्रकृष्टता कैसे की जा सकती है ? इन विचारों ने जो घनेक समर्थ ली जिये है, उनमें में एक यह जयपुर का समर्थ भी था। उदा तो वह तुलसी की तरफ था, परन्तु किन्हीं टोम तथ्यों पर उसका आधार नहीं था, घन उसकी समाप्ति पृष्ठपाय पर किसी घनाय स्थिति की धनु के समान ही हुई।

एक आचारण विरोध

आचार्यश्री का कलकत्ता महाद्वारी में पदार्पण हुआ। जनता की प्रेर

से उनका हार्दिक स्वागत किया गया। आचार्यश्री के विचार जनता के हृदय को झालीकित कर रहे थे; क्योंकि उनके विचार युग की भूल को मूर्ति प्रदान करने वाले थे। यों भी कहा जा सकता है कि युग की भूल उन विचारों को पाने के लिए तड़प रही थी। उनके विचार समय के अनुकूल थे और समय उनके विचारों के अनुकूल था। लोगों ने उन्हें युग-चेतना के प्रतिनिधि के रूप में देखा। वहाँ के ध्यापारिक क्षेत्रों में नैतिकता और अध्यात्म की चर्चा होने लगी। जहाँ लोग बहुधा व्यापार या नौकरी के लिए ही पहुँचते हैं; वहाँ कोई नैतिकता और अध्यात्म की भ्रमल जगाने पहुँचे तो वह एक अनोखी-सी ही बात लगेगी। आचार्य श्री इसीलिए वहाँ गये थे, अतः एक नये प्रकार के व्यक्तित्व को देखने का कुतूहल हर किसी में सहज ही जागृत होने लगा था। जो परिचित थे, वे तो आते ही; पर जो अपरिचित थे, वे भी काफी बड़ी संख्या में आते। देखने-सुनने की भावना लेकर आते और तृप्त होकर चले जाते।

चालुमार्ग से पूर्व उस महानगरी के अनेक भ्रमलों में आचार्यश्री का पदार्पण हुआ। सर्वत्र जनता का अपार उत्साह और अपार स्नेह उन्हें मिला। उन्होंने भी जनता को वह उपदेश किया जो उसे वहाँ कभी भूले भटके भी नहीं मिल पाता। विशेष प्रवचनों तथा कार्यक्रमों की सफलता भी अद्वितीय रही। आचार्यश्री को कलकत्ता और कलकत्ता को आचार्यश्री ना गये।

कुछ व्यक्ति आचार्यश्री की यशोगाथा के प्रति असहिष्णु थे। वे उनके वर्चस्व को किसी भी मूल्य पर रोक देना चाहते थे। आचार्यश्री ने जब तक अपने वर्षाकालीन प्रवास का निर्णय नहीं किया था; तब तक तो वे लोग प्रायः शान्त ही रहे थे। सम्भवतः उन्होंने उस थोड़े दिन के प्रवास को साधारण और अस्थायी प्रभाव वाला ही समझा हो; अतः उसकी उपेक्षा कर दी हो; परन्तु जब आचार्यश्री ने वही वर्षा-काल विज्ञान का निर्णय कर दिया तब उनके प्रयत्नों में त्वरता आ गई। विरोधी वातावरण निर्मित करने के उपाय खोजे जाने लगे। वे किसी-न-

किन्नी बहाने से आचार्यश्री और उनके मिशन के प्रति ऐसी घृणा फैला देना चाहने के कि जिसमें उनके पूर्वोपाजित ममस्त धर्मस्व और प्रभाव को माहृत किया जा सके ।

उन विरोधी व्यक्तियों में कुछ तो ऐसे थे जो कि आचार्यश्री और उनके कार्यों का जब-तब विरोध करते रहे हैं । उसमें उन्होंने सब-भूठ का भी कोई विगेष अन्तर नहीं किया है । यों उनमें अनेक व्यक्ति पदे-विसे हैं, कार्य-नुशल हैं, शिष्ट हैं; परन्तु आचार्यश्री के विरोध में वे अपनी शिष्टता को बहुधा नहीं निभा पाते । सम्भवतः उसकी आवश्यकता भी नहीं मानते । यद्यपि मैं उनमें से अनेकों को व्यक्तिगत नहीं जानता; परन्तु आचार्यश्री के प्रति किये जाते रहे उनके भाषा-प्रयोगों ने कम-से-कम मेरे मन पर तो यही छाप छोड़ी है । मूलतः विरोधी भाव उन्हीं कुछ लोगों के मन में था । उन्होंने जब बैसा वातावरण बनाया तब कुछ और व्यक्ति भी उसमें आ मिले । कुछ उनके मंत्री-सम्पर्क से; तो कुछ भुलावे में ।

विरोध का वह एक विचित्र प्रकार था, परन्तु आचार्यश्री का माहृत उससे भी विचित्र था । वे देखते रहे, सुनते रहे और अपने कार्यों में लगे रहे । वे स्वयं भी तो कलकत्ता में विरोध करने के लिए ही गये थे । यह दूसरी बात है कि आचार्यश्री अनौति और अधर्म का विरोध कर रहे थे; जब कि उनके विरोधी लोग अनौति और अधर्म का विरोध करने वालों का विरोध कर रहे थे ।

आचार्यश्री के विरुद्ध वह अभियान लगभग छ महीने तक चलता रहा, कभी धीमे, तो कभी तेजी से । पर न कभी वे उसमें उत्तेजित हुए और न कभी भयभीत । वे विरोध को विनोद समझ कर चलने के आदी हैं । जहाँ उन्हें किसी विरोध का सामना करने को बाध्य होना पड़ता है; वहाँ वे उसके लिए धराने नहीं । वे मानते हैं—“विरोध में धराने की कोई आवश्यकता नहीं । उससे धराने वाले समाप्त हो जाते हैं और उठकर उनका सामना करने वाले विजय प्राप्त कर लेते हैं ।”

जीवन-शतदल

आचार्यश्री का जीवन शतदल कमल के समान है। कमल की प्रत्येक पंखुड़ी अपनी विशिष्ट आकृति और विशिष्ट महत्ता लिये हुए होती है। उन पंखुड़ियों की समवायात्मक एकता ही तो कमल की आत्मा होती है। जीवन का शतदल विभिन्न घटनाओं की पंखुड़ियों से बना होता है। प्रत्येक घटना अपने-आप में परिपूर्ण होती है, फिर भी अपने से उच्च पूर्णता का एक अंग बनकर वह जीवन को आकृति प्रदान करती है। मधुकोश की सुरक्षा में खड़ी पंखुड़ियाँ अधिक सुव्यवस्थित लगती हैं, जब कि उसके बाहरी क्षेत्रों की बिखरी-बिखरी-सी। फिर भी मूल से बंधी हुई वे उससे अभिन्न होती हैं। जीवन-घटनाओं में भी यही क्रम होना है। कुछ घटनाएँ एक ही किसी अंग में ढलकर जीवन के विशेष क्षेत्र को घेरती हैं, पर कुछ ऐसी भी होती हैं जो जीवन का अभिन्न अंग होने पर भी अलग-अलग-सी लगती हैं। अपेक्षाकृत कुछ अधिक सुलाभ उनमें ऐसा बना देता है। फिर भी पंखुड़ियों के सौरभ की तरह प्रेरणात्मकता की अतिशयता ही उनका अपना जन्म-जात स्वभाव होता ही है। इस अध्याय में आचार्यश्री के जीवन-शतदल की उन अलग-अलग दिखाई देने वाली स्फुट घटनाओं का दिग्दर्शन कराया गया है।

आचार्यश्री का जीवन किसी एक बंधी-बंधाई परिपाटी का जीवन नहीं है। वह तो एक बहते हुए प्रवाह का जीवन है। उसमें पुमाव है, कटाव है तथा नव निर्माण की उच्च अभिलाषा है, बहाव तो उन सब में व्याप्त है ही। इसीलिए उनका जीवन घटना-संकुल है। उन घटनाओं के प्रकाश में हम आचार्यश्री के जीवन को नये-नये कोणों से देख सकते

हैं। जिस तरह हीरे को उसका छोटे-मे-छोटा पहलू भी एक नयी चमक और नयी आकृति प्रदान करता है, उसी तरह इन छोटी-छोटी स्फुट घटनाओं की प्रत्येक स्फुरण आचार्यश्री के जीवन का एक-एक नया कक्ष खोलने वाली है। यहाँ कुछ घटनाएँ सकलित की गई हैं।

शारीरिक सौन्दर्य

पूर्ण दर्शन

आचार्यश्री के पास जहाँ आन्तरिक सौन्दर्य का अमय स्रोत है; वहाँ बाह्य सौन्दर्य भी कुछ कम नहीं। प्रकृति ने उनके व्यक्तित्व के निर्माण में रूप-सम्पदा को खुले हाथ से लुटाया है; इसीलिए उनके शारीरिक अवयवों की रचना किसी कलाकार की अद्वितीय कलाकृति के समान है। साधारण व्यक्तियों की भाँसें उनकी आकृति पर टिकें, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं; किन्तु दार्शनिकों और विद्वानों को भी उनकी आकृति लुब्ध कर लेती है। दक्षिण से दो दार्शनिक राजस्थान में आचार्यश्री के पास आये। कई दिनों तक नाना दार्शनिक विषयों पर विमर्षण होता रहा। जब वे विदा होने लगे तो बोले—“सभी तृप्तियों के साथ हम एक अतृप्ति भी लिये जा रहे हैं।”

साश्चर्य आचार्यश्री ने पूछा—कौनसी अतृप्ति ?

उन्होंने कहा—मुखवस्त्रिका के कारण हम आपके पूर्ण मुख का दर्शन नहीं कर पाये। आपके मुख का अर्ध-दर्शन हमें प्रतिदिन पूर्ण-दर्शन के लिये उत्सुक करता रहा है। हमें आज संकोच छोड़कर यह कहने को विवश होना पड़ रहा है कि यदि कोई शास्त्रीय बाधा न हो तो क्षण-भर के लिए भी अपने अनाहत मुख के दर्शन का अवसर अवश्य दें।

नेत्रों का सौन्दर्य

यूनेस्को के प्रतिनिधि तथा अन्तर्राष्ट्रीय शाकाहारी-मण्डल के उपा-

प्यथ श्री बुडलेगड केलर बम्बई में सपत्नीक आचार्यश्री के सम्पर्क में आये । श्री केलर जब आचार्यश्री से बातचीत कर रहे थे, तब श्रीमती केलर आचार्यश्री के नेत्रों की ओर बड़ी उत्सुकता से देख रही थीं । बातचीत की समाप्ति पर श्रीमती केलर ने कहा—मुझे बहुत लोगों से मिलने का अवसर मिला है, किन्तु जो श्रोज, आभा और भात्म-तेज आपके नेत्रों में है, वैसा अन्यत्र कहीं देखने में नहीं आया । निस्सन्देह आपके नेत्रों का सौन्दर्य और तेजस्विता मनुष्य को लुभा लेने वाली है ।

तात्कालिक प्रतिक्रिया

यूरोप की लब्ध-ख्याति चित्रकर्त्री कुमारी एलिजाबेथ ब्रूनर दिल्ली में जब मेरे सम्पर्क में आईं तब उन्होंने मुझे आचार्यश्री का एक स्वनिर्मित चित्र दिखाया तथा उसका इतिहास भी बतलाया । एक दिन 'शान्ति निकेतन' में आचानक ही आचार्यश्री से उनकी भेंट हो गई थी । आचार्यश्री अपनी बंगाल-यात्रा के समय विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सांस्कृतिक व ऐतिहासिक संग्रहालय तथा शान्ति-निकेतन के संशुद्ध पुस्तकालय का अवलोकन कर बाहर आ रहे थे और उधर से ही कुमारी एलिजाबेथ अन्दर जा रही थीं । एक क्षण के लिए उनका आकस्मिक साक्षात्कार हुआ । इतने मात्र से ही वे इतनी प्रभावित हुईं कि पुनः कलकत्ता आकर आचार्यश्री से मिली और एक महीने तक वहाँ ठहर कर आचार्यश्री का जो एक भव्य चित्र बनाया, वही यह था ।

वे ऐसा करने के लिए क्यों प्रेरित हुईं; उन्होंने इस विषय पर एक लेख भी लिखा; जो कि कलकत्ता के पत्रों में प्रकाशित हुआ था । उस लेख में उन्होंने बतलाया है—“शान्ति-निकेतन में जब मैं उत्तरायण के द्वार पर पहुँची तो उधर से आते व्यक्तियों के एक समूह ने मेरा ध्यान आकर्षित किया । मैंने देखा कि वे नगे पाँव श्वेत वस्त्रधारी साधु थे; जो कवि-गृह से आ रहे थे । वे जैन थे और उनके मुँह पर श्वेत धरत्र बंधा हुआ था । मैं आदर-पूर्वक एक ओर खड़ी हो गई । वे निवृत्त पहुँचे ।

सुभे शान्ति अनुभव हुई । उन्होंने मेरे नाम व वेग के बिना मे प्रश्न पूछे । उनके प्रश्न गहरे से घोर मेरी मात्कारिक प्रतिक्रिया थी कि उनकी शानि बड़ी तब है ।

एक विदेशी जनाचार मठिका को यह प्रतिक्रिया आचार्यश्री के व्यक्तिगत की जहाँ आचार्यश्री की शानि है, वही उनके आत्म-सौन्दर्य का एक उदाहरण भी ।

टीक बुद्ध की तरह

एक बार आचार्यश्री मरदासगढ़ गया रहे थे । उन्हीं दिनों वहाँ एक वैद्य-सम्मेलन हो रहा था । अनेक तप-प्रतिष्ठ वैद्यों ने उनसे भाग लिया था । उनमें से कई व्यक्तियों ने मरदासगढ़ में आकर आचार्य-स्यन प्राप्ति में आचार्यश्री के दर्शन किये । उनमें जयपुर के सुप्रसिद्ध राजवंश नन्दकिशोरजी भी थे । आचार्यश्री से उन लोगों ने विविध विषयों पर आचार्यश्री किये और पूर्ण सृष्टि के माय तब आचार्यश्री जाने के लिए लगे हुए ; तब नन्दकिशोरजी ने कहा — “आचार्यश्री के कानों की बनावट ठीक भगवान् बुद्ध के कानों की तरह है । मैंने कानों की ऐसी सुप्रभा आत्म नहीं देवी ।”

आत्म-सौन्दर्य

आचार्यश्री ने जन-निर्माण में लगे हुए भी आत्म-निर्माण को गौण नहीं बनाया है । वे अपने जीवन को आगे बढ़ाकर जीते रहे हैं और निहाय-लोकन-वृद्धि से अपने भूतकाल का अवलोकन करते हुए उसे समझते रहे हैं । ध्यान, योगासन आदि क्रियाएँ उनके आत्म-निर्माण के ही अंग हैं । इनसे उनका आत्म-सौन्दर्य निरन्तर निखार पाता रहा है ।

वे सात्विक तथा मित आहार के समर्थक रहे हैं । अपने आहार पर उनका बहुत अधिक नियन्त्रण है । यथासम्भव वे बहुत स्वल्प द्रव्यों से तृप्त हो जाते हैं । अपने आचार-व्यवहार की कुशलता पर भी वे कड़ाई से ध्यान

देते रहे हैं। जब कोई काँटा या ककड उसके पैरो में लग जाता है; तब वे बहुधा यह कहने मुने जाते हैं कि यह तो ईर्या-समिति की क्षति का दण्ड है। अपनी हर प्रकार की स्वतन्त्रियों को वे आत्म-नियन्ता बनकर दूर करते हैं। निन्दा और प्रशंसा से अधुन्ध रहने हुए वे अपनी गति को बनाये रखने में सर्वथा समर्थ हैं। यह उनका आन्तरिक सौन्दर्य शारीरिक सौन्दर्य से भी अधिक प्रभावक है।

प्रेम की भाषा

जो व्यक्ति उनके सम्पर्क में आता है, वह बहुधा उनका ही हो जाता है। वह उनकी आत्मीयता और अकारण वात्सल्य में ली-सा जाता है। शायद स्नेह की भाषा समझने वाला ही उनका पूरा रसास्वादन कर पाता है। कलकत्ता से राजस्थान आते हुए आचार्यश्री दिल्ली पहुँचे। वहाँ दिल्ली पब्लिक-साइबेरी-हॉल में उनका सांख्यिक स्वागत किया गया। सुप्रसिद्ध चित्रकर्त्री कुमारी एलिजाबेथ कूनर उन कार्यक्रम में आदि से अन्त तक उपस्थित रही। कार्यक्रम समाप्त होने पर आचार्यश्री ने उमसे कहा— “तुम हिन्दी नहीं समझनी, फिर इतनी देर चुपचाप कैसे बँठी रहती हो?” उसने उत्तर देने हुए कहा— “प्रेम की भाषा ध्वनि ही होती है। मैं उमसे समझती हूँ। हर कोई उमसे नहीं समझ पाता, इसीलिए ऊब जाता है।”

प्रखर तेज

आवर में ‘मणुग्रन्थ-प्रेरणा-दिवस’ पर बोलते हुए अत्रमेर के लगे हुए कार्यक्रमकर्त्री श्रीरामनारायण चौधरी ने कहा— ‘मेरे दिमाग में कल्पना थी कि आचार्यश्री तुमसे कोई बड़ा मनुष्य होंगे, पर आज ज्यों ही मैंने उनके दर्शन किये तो पाया कि आचार्यश्री में प्रखर आध्यात्मिक तेज के साथ-साथ आनु और शरीर का भी तेज है।’

शक्ति का अध्ययन क्यों ?

राजस्थान विधान-मंडल में आचार्यश्री के प्रवचन का कार्यक्रम था।

उमके बारे में एक स्थानीय पत्रिका के सम्पादक ने कुछ घनर्जन वाले निम्नी थी। विधान-सभा के उपाध्यक्ष निरजननाथजी को बहू बहुत बुग लगा। उन्होंने उम कांठे को समान-जनक समझा और भाचार्यश्री के सम्मुख कहने लगे— 'यह हमारा और विधान-सभा का भगवान है। हम इस पर कानूनी कार्यवाही करेंगे।'

भाचार्यश्री ने कहा—'हमारे विद् किमी शक्ति का अहित हो; यह मैं नहीं चाहता। किमी की इस प्रकार की धापोचना करना अज्ञान है। भगवान को मिटाना है तो उमके दोष को धारा कर देना होगा। दूसरी बात यह भी है कि इन तुल्य घटनाओं में हमें अपनी शक्ति का अध्ययन क्यों करना चाहिए ?'

प्रशंसा का क्या करें ?

एक पुरोहित ने भाचार्यश्री ने कहा—मैंने भारतके दर्शन तो धार पहली बार ही किये हैं, किन्तु मैं लोगों के बीच धारकी बहुत प्रशंसा करता रहा हूँ। धनेकों ध्यक्तियों को मैंने धारके सम्पर्क में धाने की प्रेरणा दी है।

भाचार्यश्री ने कहा—पुरोहितजी ! हमें अपनी प्रशंसा नहीं चाहिए। हम उसका क्या करें ? हम तो चाहते हैं कि हर कोई अपने जीवन की सत्यता को पहचाने। इसी में उसके जीवन का उत्कर्ष निहित है।

क्या पैरों में पीड़ा है ?

भाचार्यश्री ने पिलानी से विहार किया तो सेठ जुगलकिशोरजी बिड़ला भी विदा देने के लिए दूर तक साय-साय धाये। मार्ग में वे भाचार्यश्री से बातें करते चल रहे थे। भाचार्यश्री जब-जब बोलते; तब पैर रोक लेते। बिड़लाजी ने समझा सम्भवतः पैरों में पीड़ा है; जिससे वे ऐसा कर रहे हैं। जब कई बार ऐसा हुआ तो उन्होंने पूछ लिया—क्या पैरों में पीड़ा विशेष है ?

भाचार्यश्री ने कहा—नहीं तो, कोई भी पीडा नहीं है।

विड़लाजी ने तब साश्चर्य पूछा—तो आप रुक-रुक कर क्यों चल रहे हैं?

भाचार्यश्री ने प्रश्न का भाव अब समझा। उन्होंने समझते हुए कहा—चलते समय बातें न करने का हमारा नियम है; अतः जब-जब बोलने का अवसर आता है तब-तब मैं रुक जाता हूँ।

विड़लाजी ने क्षमा मांगते हुए कहा—तब तो मुझे भी नहीं बोलना चाहिए था।

शान्तिवादिता

भाचार्यश्री की नीति सदा से ही शान्ति-प्रधान रही है। अशान्ति को न वे चाहते हैं और न दूसरों के लिये पैदा करते हैं। जहाँ अशान्ति की सम्भावना होती है; वहाँ वे अपने को तत्काल अलग कर लेते हैं। इसी शान्तिवादी नीति का परिणाम है कि आज उनके विरोधी भी उनकी प्रशंसा करते हैं।

प्रथम झलक

भाचार्य-काल के प्रारम्भ में ही उनकी शान्तिप्रियता की एक झलक सबको मिल गई थी। उन्होंने अपना प्रथम चतुर्मास बीकानेर में किया था। उसकी समाप्ति पर जब वहाँ से विहार किया; तब कई हजार व्यक्ति उनके साथ थे। वहाँ के सुप्रसिद्ध रांगड़ी चौक की सड़क जन-मबुल हो रही थी। उसी समय सामने से एक अन्य सम्प्रदाय के युवाचार्य आ गये। उनकी नीति सदा से ही तेरापथ के विरुद्ध रही थी। उस समय भी वे किसी अन्धे इरादे से नहीं आये थे। उनके साथ के आगे चलने वाले कुछ भाई बड़े अपमानजनक ढंग से 'हटो-हटो' करते हुए आगे बढ़े।

भाचार्यश्री ने स्थिति को तत्काल भाँप लिया। सबको धीर कर आगे बढ़ने के उनके इरादे से इधर वाले भाइयों में बड़ी उत्तेजना फैली; परन्तु भाचार्यश्री ने स्थिति को परोटा और सड़क छोड़कर एक ओर

जब उस वैष्णव साधु को इस घटना-क्रम का पता लगा तो भादमी भेजकर कहलवाया कि मुझे यह पता नहीं था कि वहाँ पहुँचे किसी जैना-चार्य का व्याख्यान होना निश्चित हो चुका है। मुझ से अप्रग्रह करने वालों ने मुझे इस स्थिति में अनजान रखा। यद्यपि मैंने उस स्थान पर व्याख्यान देना स्वीकार कर लिया; पर अब प्रसन्नता से कहता हूँ कि मैं वहाँ नहीं जाऊँगा। पूर्व-निर्णयानुसार वहाँ जैनाचार्य का ही व्याख्यान हो। मुझ से सुनने को इच्छा रखने वाले मेरी कुटिया पर आ सकते हैं।

आचार्यश्री ने उस भाई से कहा—हमें उनके व्याख्यान देने पर कोई आपत्ति नहीं है। हमारा व्याख्यान बल वहाँ हो ही चुका है; भाव यदि लोग उनको सुनें तो यह हमारे लिए कोई बाधा की बात नहीं है। इस पर भी उस सन्देश-वाहक ने स्पष्ट कर दिया कि वे नहीं आयेंगे। आचार्यश्री फिर भी वहाँ नहीं गये; तब बाजार के घनेक प्रमुख व्यक्तियों ने आकर पुनः निवेदन किया और दबाव दिया कि अब तो किसी प्रकार की आपत्ति का भी भय नहीं रहा। इस पर आचार्यश्री ने व्याख्यान देना स्वीकार कर लिया और वहाँ गये।

शांति का मार्ग

सौराष्ट्र में त्रिन दिनों विरोधी आतारण चल रहा था, तब मास्टर रतितार भाई आचार्यश्री के दर्शन करने आये। सौराष्ट्र में धर्म-प्रचार के लिए अपना समय और शक्ति लगाने वालों में वे एक प्रमुख व्यक्ति थे। वे जब आये तो उनके मन में यह भय था कि न जाने आचार्यश्री क्या कहेंगे? मुनिजनों को वहाँ भेजने की प्रार्थना करने समय उन्हें यह पता नहीं था कि विरोधी लोग आतारण को इतना बन्धुविह्वल कर देंगे। किन्तु अब उमरा मायना करने के परिदृश्य और कोई मार्ग भी नहीं था।

आचार्यश्री ने पूछा—कहिये, सौराष्ट्र में बंसी स्थिति है? प्रचार कार्य ठीक चल रहा है?

इस प्रश्न ने रतिलाल भाई को अममजम में डाल दिया। वे कुछ सोच नहीं पा रहे थे कि इगका उपयुक्त उत्तर क्या हो सकता है? फिर भी उन्होंने कुछ साहस करके कहा—एक प्रकार से ठीक ही बन रहा है; किन्तु विरोधी वातावरण के कारण उमकी गति में पूर्ववत् तीव्रता नहीं रह सकती है।

आचार्यश्री ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—यह कोई विन्ना की बात नहीं है। हमें अपनी ओर से वातावरण को पूर्ण शान्त बनाने रखना है। विरोधी लोग क्या करते हैं; इस ओर ध्यान न देकर; हमें क्या करना चाहिए; यही अधिक ध्यान देने की बात है। हमें विरोध का शमन विरोध से नहीं, अपितु शान्ति से करना है। भगवान् का तो मार्ग ही शान्ति का है।

आचार्यश्री के इस कथन से रतिलाल भाई आश्चर्यान्वित हो गए। उन्होंने कहा—गुरुदेव ! मुझे तो यह भय था कि आप कड़ा उलाहना देंगे। मैंने सोचा था कि सौराष्ट्र में साधु-साध्वियों के प्रति किये जा रहे व्यवहार से अवश्य ही आप क्रुद्ध हुए होंगे; किन्तु आपने तो मुझे उलटा शान्ति का ही उपदेश दिया।

गहराई में

आचार्यश्री अनेक बार साधारण-सी बात को भी इतनी गहराई तक ले जाते हैं कि उसमें दार्शनिक तत्त्व नयनीत की तरह ऊपर उभर आता है। साधारण-से-साधारण घटना भी आचार्यश्री के चिन्तन का स्पर्श पाकर गम्भीर बन जाती है। साधारण व्यक्ति बहुधा घटना के बहिस्तल को ही देखता है जब कि आचार्यश्री उसके अन्तस्तल को देखते हैं।

से भी

एक बार कुहासा छाया हुआ था। उसके कारण विहार रखा हुआ

था। मुनिजन अपना-अपना सामान समेटे विहार के लिए तैयार बैठे थे। कुछ प्रतीक्षा के बाद थोड़ा-सा उजाला हुआ। सामने से ऐसा लगने लगा कि भ्रम कुहासा समाप्त होने वाला ही है। एक साधु ने खड़े होकर सामने दूर तक नजर फैलाते हुए कहा—“भ्रम कुहासा मिटने में अधिक देर नहीं है।” यह बात चल ही रही थी कि इतने में पीछे से रुई के फाहे जैसे कुहासे के बादल उमड़ भाये और फिर पहले जैसा ही वातावरण हो गया।

आचार्यश्री ने इस बात को गहराई तक ले जाते हुये कहा—आने सब देखते हैं; पर पीछे कोई नहीं देखता। विपत्ति पीछे में भी तो आ सकती है। सब तो यह है कि वह प्रायः सामने में कम और पीछे से ही अधिक आया करती है।

पैड़ी का दोष

आचार्यश्री जिस मकान में ठहरे थे, उसकी एक पैड़ी बहुत खराब थी। अपनी असावधानी के कारण उस दिन अनेक व्यक्तियों ने उससे घोट खाई। घोट खाकर अन्दर आने वाले प्रायः हर व्यक्ति ने उस पैड़ी को तथा उसके निर्माता और स्वामी को कोसा।

पैड़ी के प्रति व्यक्त किये जाने वाले उन विविध उद्गारों को सुनकर आचार्यश्री ने उस बात को गहराई तक पहुँचाते हुए कहा—पर-दोष-दर्शन कितना सहज होता है और भात्म-दोष-दर्शन कितना कठिन; यह इस पैड़ी की बात ने सिद्ध कर दिया है। घोट खाने वाला हर कोई पैड़ी को दोष देता है; जब कि अस्तुतः दोष अपनी असावधानी का है। पैड़ी की बनावट में कुछ कमी हो सकती है; फिर भी कुछ दोष अपनी ईर्ष्या का भी तो है।

टोपी का रंग

समाजवादी नेता श्री जयप्रकाश नारायण पहले-पहल जब जयपुर

में आचार्यश्री से मिले थे. जब गणेश टोपी पहने हुए थे। विन्तु जब सुनार्यी बार दिन्नी से मिले. जब गात्र टोपी पहने हुए थे। आचार्यश्री के सत्य आचार्यश्री ने टोपी के बिना पूरा किया कि गणेश के श्वाभ पर यह गात्र गणेश कंठे मगानी हुई है ?

अन्यथापत्नी ने कहा — 'हमारी पाटी जानो ने कही निर्गम किया है। गणेश टोपी घन बदनाप भी हो चुकी है।'

आचार्यश्री ने स्मितभाव में कहा — 'टोपी बदनाम हो गई, इन्दिन्द्र आचार्यश्री ने उगका रग बदल दिया. परन्तु बदनामी के काम तो टोपी गठी. मनुष्य करता है। उगको बदलने की आचार्यश्री ने क्या योजना बनायी है ?'

सम्प्रदाय; धर्म की शोभा

आचार्यश्री विचार करते हुए जा रहे थे। मार्ग में एक विज्ञापण घाघ-
रुध था गया। गन्तों ने उनका ध्यान उपर धारुष्ट करते हुए कहा—
यह रुध बहुत बड़ा है।

आचार्यश्री ने भी उगे देगा धीर गम्भीरता से कहते लगे—एक मून में ही जितनी आचार्य-शशाचार्य निकल जाती हैं। धर्म-सम्प्रदाय भी इसी प्रकार एक मून में से निकली हुई विभिन्न आचार्य हैं; परन्तु इन्हीं यह विशेषता है कि इनमें परस्पर कोई झगड़ा नहीं है; जब कि सम्प्रदायों में नाना प्रकार के झगड़े धमते रहते हैं। आचार्य रुध की शोभा है; उसी प्रकार सम्प्रदायों को भी धर्म-रुध की शोभा बनना चाहिए।

नास्तिकता पर नया प्रकाश

प्रसिद्ध कौतूहलकार डॉ० रामनारायण सन्ना आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। उन्होंने अपनी कुछ चौपादर्यां भादि भी सुनाईं। बानचौत के क्रम में वे थोड़ी-थोड़ी देर के बाद 'रामकृपा' को दुहराते रहे। सम्भवतः उन्होंने इस शब्द का प्रारम्भ तो भक्ति की दृष्टि से ही किया होगा; पर बाद में वह उनके लिए एक मुहावरा बन गया था।

आचार्यश्री ने जब इस बात की ओर लक्ष्य किया तो कहने लगे— डाक्टर साहब ! आप मनुष्य के पुरुषार्थ को भी कुछ मानियेगा ? 'रामकृपा,' 'प्रभुकृपा' आदि शब्दों को भक्ति-समृत्त हृदय के उद्गारों से अधिक महत्त्व देने पर स्वयं प्रभु को भी राग-द्वेष-लिप्त मान लेना होगा । अह-भाव को रोकने के लिए 'रामकृपा' जैसी भावनाएँ आवश्यक हैं, तो क्या अकर्मण्यता और हीन भाव को रोकने के लिए पुरुषार्थ को नहीं मानना चाहिए ? मैं मानता हूँ कि परमात्मा को न मानना नास्तिकता है; पर क्या अपने आप को न मानना उतनी ही बड़ी नास्तिकता नहीं है ?

डाक्टर साहब मानो साँते से जाग पड़े । आचार्यश्री ने नास्तिकता पर जो नया प्रकाश डाला था, वह उनके लिए एक विलकुल ही नया तत्त्व था ।

कार्य ही उत्तर है

एक भाई ने आचार्यश्री को एक दैनिक पत्र दिलाया । उसमें आचार्यश्री के विषय में बहुत-सी घनगंल बातें लिखी हुई थी । उसी समय एक वकील आचार्यश्री से शान्ति करने के लिए आये । उन्होंने भी पत्र देखा । वे बड़े खिन्न हुए । कहने लगे— यह क्या पत्रकारिता है ? ऐसे सम्पादकों पर मुक्दमा चलाया जाना चाहिए ।

आचार्यश्री ने स्मिन्भाव से कहा— कीबड़ में परपर फैलने में कोई लाभ नहीं । मैं कार्य की आलोचना का उत्तर मानता हूँ; अतः मुक्दमा चलाने या उत्तर देने की अपेक्षा कार्य करते जाना ही अधिक अच्छा है । मौलिक समाधानों में कार्यजन्य समाधान अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं ।

भूल नहीं सताती

एक बार घागरा सेन्दुत जेल में आचार्यश्री का प्रवचन रखा गया था । बापिस स्थान पर सीधे ही पहुँच जाने की सम्भावना थी; अतः

भिराजकी धारि की शरणा के लिए उभरने लगी की दुःख निरंतर नहीं दिना । मनोवशवत् देरी हो गई । तब सुखिन इरीण प्रतीना करने रहे कि अभी घाने जाने ही हागे । इरि देरी का अनुमान उनका भी नहीं था ।

श्रेय दुःख थी । गम्भी कारी बड़ गई थी । मडक पर पैर जाने से थे । इन सभी कठिनाइयों का भेजने दुःख से घाने । घाने रिशाम से भी गहन उन्हें मडकी विना थी, घन घाने ही उनका परना प्रन था—कहा अभी एक भिराजकी के लिए सुम सोण नहीं गने ।

गलों ने कहा- कुछ निरेश नहीं था, घन हमने सोचा कि घनी था ही रहे हागे । प्रतीना-ही-प्रतीना में समय निरन गया ।

आचार्यभी ने बोड़ी-भी आरम-म्वानि के साथ कहा—तब तो मैं सुम सोणों के लिए बहुत घनगाय का कारण बना ।

गलों ने कहा—घान भी तो अभी निराहार ही हैं ।

आचार्यभी बोले—हां, निराहार तो हूँ, पर काम के सामने घनी भूग नहीं सनामी ।

फोटो चाहिए

आचार्यभी राजस्थान के भू० पू० पुनर्वास-मन्त्री अरुन्धान यादव की बोड़ी पर पघारे । यादवजी तथा उनकी पत्नी ने थडा-विमोर होकर उनका स्वागत किया । कुछ देर वहाँ ठहरना हुआ । बालचीन के दौरान मैं यादवजी की पत्नी ने कहा—मुझे नैतिक कार्यों में बड़ी अभिरुचि है । मैंने अपने घर में उन्हीं लोगों के फोटो विधेय रूप में लगा रखे हैं; जिनकी सेवाएँ मसार को उच्च आरिणिक आधार पर प्राप्त हुई हैं । मुझे घाने समरे में लगाने के लिए आपका भी एक फोटो चाहिए ।

आचार्यभी ने कहा—फोटो का भाप क्या करेगी; जब कि मैं स्वयं ही आपके घर में बैठा हुआ हूँ । मेरी दृष्टि में भावमयता तो यह है कि मनुष्य की घावृति को न पूजकर उसके गुणों का या वधन का अनुसरण किया जाए ।

हमारा सच्चा घाँटोघाफ

घाचायंथी विद्यार्थियों में प्रवचन कर बाहर घाये। कई विद्यार्थी उनका घाँटोघाफ लेने की उत्सुक थे। फाउन्टेनमें घौर डायरी घाचायंथी की तरफ बढ़ते हुए विद्यार्थियों ने कहा—घाफ इसमें हस्ताक्षर कर दीजिये।

घाचायंथी ने मुस्कराते हुए कहा—देखो बालको ! मैंने घभी जो बातें कही हैं; उन्हें जीवन में उतारने का प्रयास करो। यही हमारा सच्चा घाँटोघाफ होगा।

गर्म का बिगाड़

एक प्याले में दूध पका था घौर उसके पास में ही अचित्त किया हुआ नीबू। घाचायंथी को जिज्ञासा हुई—क्या नीबू के रस में दूध तत्काल फट जाता है ?

पास खड़े एक साधु ने कहा—फट तो जाता है।

घाचायंथी ने नीबू लिया घौर थोड़ा-सा दूध लेकर उगमें पाँच-चार बूंदें डाली। दो-एक मिनट के बाद देखा; तब तक वह नहीं पटा।

एक साधु ने कहा—गर्म दूध जल्दी फट जाता है। यह ठण्डा है; तापद इमीलिए नहीं पटा।

घाचायंथी ने उस बात को जीवन पर लागू करने हुए कहा—ठीक ही है। ठण्डी प्रकृति वाले मनुष्य का दूसरा बुद्ध नहीं बिगाड़ सकता। गर्म प्रकृति वाले का ही दीधना में बिगाड़ हुआ करता है।

पथ घौर बाड़ा

कई मारुती के अवाहुर चौर में घाचायंथी प्रवचन कर रहे थे। जनता अधिक थी; घाफ: बुद्ध सोच मार्ग में बँट गये थे। गौरे घाई। उनमें से एक हर गई। घाचायंथी उस समय तेरापथ की व्याख्या कर रहे थे। राय की निर्णय का बिचारा करने हुए उन्होंने कहा—‘पथ

चलने के लिए होता है, बैठने के लिए नहीं। पंथ में रुकावट न हो; वह सबके लिए मुला रहे; यही प्रच्छा है। उमें बाध लेने पर दूसरे उलने लगते हैं। यह गाय इगीनिए उर रही है कि लोगोंने पंथ को पेर कर भगना बना लिया है। पथ को पथ ही रहने दो, बाड़ा मन बनाओ।

उनकी प्रत्युत्पन्न मनि ने गाय के रूपक में जहाँ भगना मन्वज्य प्रवट कर दिया; वहाँ उनको शिक्षा भी दे दी; जो कि मन के ध्यामोह में घेरावदी किया करते है। साय ही व्यवस्था भग करने वालों को भी जता दिया कि वे गलत काम कर रहे हैं। बहना नहीं होगा कि मार्ग में बैठे लोगो ने तत्काल उठकर मार्ग को मुला कर दिया।

बरगद का नया मोड़

सडक के किनारे बरगद का पेड था। विहार के समय मार्ग में आचार्यश्री कुछ क्षण के लिए उसके नीचे रुके। पेड बाड़ी पुराना था। नीचे भूमि तक पहुँचने वाली उसकी जटाएँ इस बात की साक्षी थीं। फिर भी ऋतु-परिवर्तन के कारण उस समय उस पर नये किसलय प्राये हुए थे। नयनाभिराम सौन्दर्य ने वहाँ एक मनोहारी वातावरण बना रखा था। आचार्यश्री ने एक क्षण के लिए उसे ऊपर से नीचे तक देखा और साय में चलने वाले भेवाड़ी भाइयों से कहने लगे—देखा आपने इस बरगद को ? कितना समयज है यह ? समय की पुकार पर अपने घिरपोपित पुराने पत्तो को छोडकर नया मोड़ लेने में इसे तनिक भी संकोच नहीं होता। तभी तो भ्रात्र यह अपनी सघन छाया और नव सौन्दर्य से पथिको का मन मोह रहा है। भेवाड़ी भाइयों को इस बरगद में शिक्षा लेनी है। उन्हें सोचना है कि प्राचीनता के ध्यामोह में वे कही पिछड़ तो नहीं रहे हैं ? नये मोड़ की पुकार पर उन्हें ध्यान देना है।

परिश्रमशीलता

आचार्यश्री श्रम में विश्वास करते हैं। वे एक क्षण के लिए भी

किसी कार्य को भाग्य पर छोड़ कर निश्चिन्त बैठना नहीं चाहते। वे भाग्य को बिलकुल ही नहीं मानते हो, ऐसी बात नहीं है; परन्तु वे भाग्य को पुरुषार्थ-जन्य मानते हैं। इसीलिए वे रात-दिन अपने काम में जुटे रहते हैं। दूसरों को भी इसी ओर प्रेरित करते रहते हैं। अनेक बार तो वे कार्य के सामने भूख-प्यास को भी भूल जाते हैं।

अधिक बीमार न हो जाऊँ ?

आचार्यश्री कुछ अस्वस्थ थे। फिर भी दैनन्दिन के कार्यों से विश्राम नहीं ले रहे थे। रात्रि के समय साधुओं ने निवेदन किया कि वृद्ध की राय है, आपको अभी कुछ दिन के लिए पूर्ण विश्राम करना चाहिए।

आचार्यश्री ने कहा—मैं इस विषय में कुछ तो ध्यान रखता हूँ, पर पूर्ण विश्राम की बात कठिन है। मुझ से यो सर्वथा निष्क्रिय होकर नहीं बैठ जा सकता। मैं सोचता हूँ कि ऐसे विश्राम से तो मैं वही अधिक बीमार न हो जाऊँ ?

धम उत्तीर्ण कराता है

एक छात्र ने आचार्यश्री से पूछा—आप तो बहुत जानी हैं। मुझे बतलाइये कि मैं इस वर्ष परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाऊँगी या नहीं ?

आचार्यश्री ने कहा—तुमने अध्ययन मन लगाकर किया या नहीं ?

छात्रा—अध्ययन तो मन लगाकर ही किया है।

आचार्यश्री—तब तुम्हारा मन उत्तीर्णता के विषय में सकारात्मक क्यों बन रहा है ? अपने श्रम पर विश्वास होना चाहिए। अपना श्रम ही तो उत्तीर्ण कराने वाला होता है। ज्योतिष या भविष्यवाणी किसी को उत्तीर्ण नहीं करा सकती।

पुरुषार्थवादी हूँ

आचार्यश्री एक मन्दिर में ठहरे हुए थे। मध्याह्न में एकान्त देखकर पुजारी ने अपना हाथ आचार्यश्री के सम्मुख बढ़ाते हुए कहा—आप तो

चलने के लिए होता है; बैठने के लिए नहीं। पंथ में हकाबट न हो; सबके लिए खुला रहे; यही अच्छा है। उमे बाँध लेने पर दूसरे डल लगते हैं। यह गाय इसीलिए डर रही है कि लोगों ने पंथ को घेर अपना बना लिया है। पथ को पथ ही रहने दो, बाड़ा मन बनाओं।

उनकी प्रत्युत्पन्न मति ने गाय के रूपक में जहाँ अपना मन्मथ प्रकट कर दिया; वहाँ उनको सिखा भी दे दी, जो कि मन के ध्यामोह में घेरावही किया करते है। साथ ही व्यवस्था भंग करने वालों को भी जता दिया कि वे गलत काम कर रहे हैं। कहना नहीं होगा कि मार्ग में बैठे लोगों ने तत्काल उठकर मार्ग को खुला कर दिया।

बरगद का नया मोड़

सड़क के किनारे बरगद का पेड़ था। विहार के समय मार्ग में आचार्यश्री कुछ क्षण के लिए उसके नीचे रुके। पेड़ काफी पुराना था। नीचे भूमि तक पहुँचने वाली उसकी जटाएँ इस बात की साक्षी थी। फिर भी ऋतु-परिवर्तन के कारण उस समय उस पर नये किम्वद घने हुए थे। नयनाभिराम सौन्दर्य ने यहाँ एक मनोहारी वातावरण बना रखा था। आचार्यश्री ने एक क्षण के लिए उसे ऊपर से नीचे तक देखा और गाय में चलने वाले मेवाड़ी भाइयों से कहने लगे—देना घाने इस बरगद का ? किमना समयज्ञ है यह ? समय की पुकार पर घाने बिरंगीपिन पुराने पत्तों को छोड़कर नया मोड़ लेने में इसे तनिक भी मजबूत नहीं होता। तभी तो आज यह अपनी सपन ध्याया और तब सौन्दर्य में पवित्रता का मन मोह रहा है। मेवाड़ी भाइयों को इस बरगद से शिक्षा लेनी है। उन्हें याचना है कि प्राचीनता के ध्यामोह से वे नहीं विच्यत तो नहीं रहे हैं ? नये मोड़ की पुकार पर उन्हें ध्यान देना है।

परिश्रमशीलता

आचार्यश्री धम में विश्वास करने हैं। वे एक क्षण के लिए भी

किसी कार्य को भाग्य पर छोड़ कर निश्चिन्त बैठना नहीं चाहते। वे भाग्य को बिलकुल ही नहीं मानते हों; ऐसी बात नहीं है; परन्तु वे भाग्य को पुरुषार्थ-जन्य मानते हैं। इसीलिए वे रात-दिन अपने काम में जुटे रहते हैं। दूसरों को भी इसी ओर प्रेरित करते रहते हैं। अनेक बार तो वे कार्य के सामने भूख-प्यास को भी भूल जाते हैं।

अधिक बीमार न हो जाऊँ ?

आचार्यश्री कुछ अस्वस्थ थे। फिर भी दैनन्दिन के कार्यों से विध्राम नहीं ले रहे थे। रात्रि के समय साधुओं ने निवेदन किया कि बंध की राय है, आपको अभी कुछ दिन के लिए पूर्ण विध्राम करना चाहिए।

आचार्यश्री ने कहा—मैं इस विषय में कुछ तो ध्यान रखता हूँ, पर पूर्ण विध्राम की बात कठिन है। मुझ से यों संबंध निष्क्रिय होकर नहीं बँटा जा सकता। मैं सोचता हूँ कि ऐसे विध्राम से तो मैं कहीं अधिक बीमार न हो जाऊँ ?

धर्म उत्तीर्ण कराता है

एक छात्र ने आचार्यश्री से पूछा—आप तो बहुत जानी हैं। मुझे बतलाइये कि मैं इस वर्ष परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाऊँगी या नहीं ?

आचार्यश्री ने कहा—तुमने अध्ययन मन लगाकर किया या नहीं ?

छात्रा—अध्ययन तो मन लगाकर ही किया है।

आचार्यश्री—तब तुम्हारा मन उत्तीर्णता के विषय में सकाशील क्यों बन रहा है ? अपने धर्म पर विश्वास होना चाहिए। अपना धर्म ही तो उत्तीर्ण कराने वाला होता है। ज्योतिष या भविष्यवाणी किसी को उत्तीर्ण नहीं करा सकती।

पुरुषार्थवादी हूँ

आचार्यश्री एक मन्दिर में ठहरे हुए थे। मध्याह्न में एवान्त देसकर पुजारी ने अगना हाथ आचार्यश्री के सम्मुख बढ़ाने हुए कहा—आप तो

सर्वज्ञ हैं, कृपया मेरा भविष्य भी तो देख दें, कुछ उन्नति भी लिखी है या नहीं ?

आचार्यश्री ने कहा—मैं कोई ज्योतिषी नहीं हूँ जो तुम्हारा भविष्य बतला दूँ। मैं तो पुरुषार्थवादी हूँ। मनुष्य को सदा सम्यक् पुरुषार्थ में लगे रहना चाहिए। जो ऐसा करेगा; उसका भविष्य बुरा ही नहीं सकता।

दयालुता

आचार्यश्री की प्रकृति बहुत दयालुता की है। वे बहुत शीघ्र पिशन जाते हैं। सध-संचालक के लिए यह आवश्यक भी है कि वह विविध स्थितियों पर अपनी दयादंता का परिचय दें। नाना प्रकार की प्रार्थनाएँ उनके सम्मुख आती रहती हैं। कुछ समय का ध्यान रखकर की गई होती हैं; तो कुछ ऐसे ही। कुछ मानने योग्य होती हैं; तो कुछ नहीं। जिसकी प्रार्थना नहीं मानी जाती, उसके मन में खिन्नता होती है। यह आवश्यक भले ही न हो; पर स्वाभाविक है। इन सब स्थितियों में से गुजरते हुए भी सबका सन्तुलन बनाये रखना; उनका कर्तव्य होता है। अपना सन्तुलन रखना तो सहज होता है; पर उन्हें दूसरों का सन्तुलन भी बनाये रखना होता है। स्वभाव मे दयादंता हुए बिना ऐसा हो नहीं सकता।

कैसे जा सकते हैं ?

मेवाड-यात्रा मे आचार्यश्री को उस दिन 'लम्बोड़ी' पहुँचना था। मार्ग के एक 'सोन्याणा' नामक ग्राम मे प्रवचन देकर जब वे चलने लगे; तब एक वृद्धा ने आगे बढ़कर आचार्यश्री को कुछ रुकने का सन्त बरते हुए कहा—मेरा 'मोभी बेटा' (प्रथम पुत्र) बीमार है। वह आ ही रहा है, आप थोड़ी धीर ठहर कर उसे दर्शन दे दें।

लोगो ने उसे टोकते हुए कहा—आचार्यश्री को आगे जाना है, पहले ही काफी देर हो चुकी है, घूप भी प्रसर है, घन. वे अब नहीं ठहर सकते।

बुद्धा ने सुनकरते हुए कहा—तुम कौन होते हो कहने वाले ? मे भी तो सुबह से बँटी घाट देख रही हूँ । महाराज दर्शन दिये बिना ही कैसे जा सकते हैं ? बुद्धा सचमुच ही रास्ता रोक कर खड़ी हो गई ।

आचार्यश्री ने उसकी भक्ति-विह्वलता को देखा तो द्रवित हो गए । उन्होंने कहा—माँजी ! तुम्हारा घर किधर है ? उधर ही चलें तो दर्शन हो जायेंगे ।

बुद्धा तो एक प्रकार से नाच उठी और आगे हो ली । आचार्यश्री उसके घर की ओर बढ़े, तो कुछ ही दूर पर वह लडकाआता हुआ मिल गया । उसने अन्धी तरह से दर्शन कर लिये, तब आचार्यश्री ने बुद्धा से पूछा—बघो माँजी ! अब तो हम चलें ?

बुद्धा गद्गद हो गई और बाष्पाद्ग नेत्रों से उसने विदाई दी ।

बिना भक्ति तारो ता पै तारवो तिहारो है

गुजानगढ़ में चाँदमलजी सेठिया अपनी युवावस्था में धर्म-विरोधी प्रवृत्ति के थे । जो बड़े समझदार तथा दृढ-सकल्प व्यक्ति थे । वे कालान्तर में राजपदमा से पीड़ित हो गए । उस स्थिति में उनके विचारों में भी परिवर्तन आया । उन्होंने आचार्यश्री से दर्शन देने की प्रार्थना कराई । आचार्यश्री वहाँ गये; तब उन्होंने अपनी धर्म-विमुक्तता का पश्चात्ताप किया और एक राजस्थानी भाषा का 'कवित्त' मुनाया । उसकी अन्तिम कड़ी थी—'बिना भक्ति तारो ता पै तारवो तिहारो है' अर्थात्, भक्तों को तो भगवान् तारते ही हैं, पर मुझ जैसे धर्मकन को भी तारें; तभी आपकी विशेषता है ।

आचार्यश्री उनकी उस भावना पर मुग्ध हो गए । उसके बाद स्वयं वे वहाँ जाते रहे और धर्मोपदेश मुनाते रहे । अनेक बार सन्तों को भी वहाँ भेजते रहे ।

द्वेष को विस्मृत कर दो

साउणू के गूरजमलजी बोरह पहने धार्मिक प्रकृति के थे; किन्तु बाद में किसी कारण से धर्म-विरोधी हो गए। उन्होंने अनेक लोगों को भ्रान्त किया। परन्तु जब बीमार हुए तब उनके विचार बदल गए। उन्होंने आचार्यश्री को दर्शन देने की प्रार्थना कराई। आचार्यश्री वहाँ पधारे, तब आत्म-निन्दा करते हुए उन्होंने अपने कृत्यों की क्षमा माँगी।

आचार्यश्री काफी देर वहाँ ठहरे और उनसे बातें कीं। प्रसंगवशात् यह भी पूछा कि स्वामीजी के सिद्धान्तों में कोई भ्रान्ति हो गई थी या मानसिक द्वेष ही था? यदि भ्रान्ति थी तो अब उसका निराकरण कर लो और यदि द्वेष था तो अब से उसे विस्मृत कर दो। तुम्हारे कारण से जिन लोगों में धर्म के प्रति भ्रान्तियाँ पैदा हुई हैं; उन्हें भी फिर से सत्-प्रेरणा देना तुम्हारा कर्तव्य है।

उन्होंने आचार्यश्री को बतलाया कि बेसी थका ठीक रही है; किन्तु मानसिक द्वेष-वशा ही यह इतनी दूरी हो गई थी। मैंने जिनको भ्रान्त किया है; उनसे भी कहूँगा।

उसके बाद आचार्यश्री प्रायः प्रतिदिन उन्हें दर्शन देने रहे। वे आचार्यश्री की इस दयालुता से बहुत ही वृत्त हुए। वे बहुधा अपने साथियों के सामने अपनी पिछली भूलों का स्पष्टीकरण करते रहे थे। उनकी वह धर्मानुकूलता अन्त तक बँसी ही बनी रही।

भावना कैसे पूर्ण होती ?

आत्म-विद्युद्धि के निमित्त एक बहिन ने साजीवन अनशन कर रखा था। उसे निराहार रहते छत्तीस दिन गुजर गए। तभी उस शहर में आचार्यश्री का पदार्पण हो गया। उस बहन को अनशन में आचार्यश्री के दर्शन या लेने की उत्सुकता थी। उसने आचार्यश्री के वहाँ पधारे ही प्रार्थना कराई। आचार्यश्री ने शहर में पधार कर प्रश्न कर चुकने के बाद ही सन्नों से कहा—बनो ! बहन को दर्शन दे जायें।

देर हो गई थी और घूप भी काफी थी; अतः सन्तो ने कहा—रेत में पैर जलेगे; अतः सन्ध्या-समय उधर पधारें सो ठीक रहेगा।

आचार्यश्री ने कहा—नहीं, हमें अभी चलना चाहिये। यद्यपि उसका घर दूर था; फिर भी आचार्यश्री ने दर्शन दिये। बहिन की प्रसन्नता का पार न रहा। आचार्यश्री थोड़ी देर वहाँ ठहर कर वापिस अपने स्थान पर आ गए। कुछ देर बाद ही उस बहन के दिवंगत होने के समाचार भी आ गए।

आचार्यश्री ने सती से कहा—अगर हम उस समय नहीं जाते तो उसकी भावना पूर्ण कैसे होती? ऐसे कार्यों में हमें देर नहीं करनी चाहिए।

झोंपड़े का चुनाव

आचार्यश्री बीदासर में बिहार कर ढाणी में पधारें। बस्ती छोटी थी। स्थान बहुत कम था। कुछ झोंपड़े बहुत अच्छे थे, पर कुछ शीत-काल के लिए विस्कुल उपयुक्त नहीं थे। आचार्यश्री ने वहाँ अपने लिए एक ऐसे ही झोंपड़े को पसन्द किया कि जहाँ शीतागमन की अधिक सम्भावना थी। सन्तो ने दूसरे झोंपड़े का सुझाव दिया तो कहने लगे—हमारे पास तो वस्त्र अधिक रहते हैं; अतः पर्दे आदिका प्रदग्ध ठीक हो सकता है। अन्य साधुओं के पास प्रायः वस्त्र कम ही मिलते हैं, अतः उनके लिए सर्दी का वधाव अधिक आवश्यक होना है।

यज्ञादपि कठोराणि

आचार्यश्री में जितनी दयालुता अथवा मृदुता है; उतनी ही दृढ़ता भी। आचार्यश्री की मृदुता शिष्य वर्ग में जहाँ आत्मीयता और सदा के भाव जगानी है; वहाँ दृढ़ता अनुशासन और आदर के भाव। न उनका काम केवल मृदुता से चल सकता है और न दृढ़ता से। दोनों का सामञ्जस्य बिठाकर ही वे अपने कार्य में सफल हो सकते हैं। आचार्यश्री

ने इन कामों का अपने में अश्रद्धा सामंजस्य बिटाया है। वे एक ओर बहुत शोध द्रवित होने देने जाने हैं तो दूसरी ओर अपनी बात पर कठोरता से प्रमत्त करने हुए भी देने जा सकते हैं।

मुझे रोकता है

एक बार आचार्यश्री लाङ्गू में थे। वहाँ कुछ भाइयों ने स्थानीय हरिजनों को व्याख्यान-श्रवण की प्रेरणा दी। वे भाये तो उनमें कुछ लोगों ने आपत्ति की। कुछ इस कार्य के पक्ष में थे तो कुछ विपक्ष में वातावरण में गरमी आयी और कुछ पारस्परिक वाद-विवाद बढ़ लगा। यह बात आचार्यश्री तक पहुँची। उन्होंने अत्यन्त स्पष्टता के साथ चेतावनी देते हुए कहा—इस समय यह स्थान साधुओं की निधाय है। यहाँ धर्म-श्रवण के लिए कोई भी व्यक्ति आ सकता है। यदि कोई आगन्तुको को रोकता है तो वह यस्तुन मुझे ही रोकता है।

आचार्यश्री की इस दृढतापूर्ण घोषणा ने सारा विरोध शान्त कर दिया। यह उस समय की घटना है जब कि आचार्यश्री ने इस ओर अपने प्राथमिक चरण बढ़ाये थे। अब तो यह प्रश्न प्रायः समाप्त हो चुका है कि व्याख्यान में कौन आता है और कहाँ बैठता है ?

मन्दिर में भगवान् नहीं हैं

एक गाँव में आचार्यश्री को एक मन्दिर में ठहराने का निश्चय किया गया। वे जब वहाँ भाये तो उनके साथ कुछ हरिजन भी थे। उनके साथ-साथ वे भी मन्दिर में आ गए। पुजारिन ने जब यह देखा तो क्रोधवश गालियाँ बकने लगी। कुछ देर तो आचार्यश्री का उपर ध्यान ही नहीं गया। पर जब पता लगा तो साधुओं से कहने लगे—चलो भाई; अपने उपकरण वापिस समेट लो। यहाँ मन्दिर में तो भगवान् नहीं; क्रोध चाण्डाल रहता है। हम इस अपवित्रता में ठहर कर क्या करेंगे ?

पुजारिन ने जब आचार्यश्री के ये शब्द सुने तो कुछ ठण्ठी पड़

गई। कहने लगी—आप क्यों जा रहे हैं ? मैं आपको थोड़े ही कह रही हूँ। मैं तो इन लोगों से कह रही हूँ।

आचार्यश्री ने कहा—तुम जब हम लोगों को ठहरा रही हो तो हमारे पास आने वाले लोगों को कैसे रोक सकती हो ?

पुजारिन ने आचार्यश्री का जब यह दृढ़ रस देखा तो चुपचाप एक ओर चली गई।

सिद्धान्त-परक आलोचना

आचार्य-पद पर आसीन होने के कुछ महीने बाद ही आचार्यश्री व्यावर पधारे। वहाँ अपने प्रथम व्याख्यान में उन्होंने मुनि-चर्या का वर्णन करते हुए कहा कि अपने निमित्त बने स्थान में रहने से साधु को दोष लगता है। सेठ-साहूकारों के निवासार्थ हवेलियाँ बनती हैं, उसी प्रकार यदि साधुओं के लिए स्थान बनाने जाते हों तो फिर उनमें नाम के प्रतिरिक्त क्या अन्तर हो सकता है ?

आचार्यश्री की उस बात पर कुछ स्थानीय भाई बहुत चिढ़े। मध्याह्न में एकत्रित होकर वे आचार्यश्री के पास प्रायः और प्रातः कालीन व्याख्यान में वही गई उपर्युक्त बात को अपने पर किया गया आक्षेप बतलाने लगे। उन्होंने आचार्यश्री पर दबाव डाला कि वे अपने इस कथन को वापिस लें और प्रायः के लिए ऐसी आक्षेपपूर्ण बात न कहे।

आचार्यश्री ने कहा—हम किसी की व्यक्ति-परक आलोचना नहीं करते। सिद्धान्त-परक आलोचना अवश्य करते हैं। ऐसा होना भी चाहिए; अन्यथा तत्त्वबोध का कोई मार्ग ही सुना न रह जाए। मेरे कथन को किसी पर आक्षेप नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह किसी व्यक्ति-विरोध या समाज-विरोध के लिए नहीं कहा गया है। वह तो समुच्चय सिद्धान्त का प्रतिपादन-मात्र है। यदि हम बँसा करते हैं तो स्वयं हमारे पर भी वह उतना ही लागू होगा जितना कि दूसरों पर होता है। अपने कथन को वापिस लेने तथा प्रायः के लिए न दुहराने की तो

बाल ही बंगे उठ सकती है ? यह प्रश्न मुनि-वर्या मे सम्बद्ध है; अतः हम पर गूढमनापूर्वक मीमांसा करने रहना निगान्त आवश्यक है ।

वे लोग आचार्यश्री को तपुवप तथा नवीन समझ कर दवाने की दृष्टि मे धाये थे, परन्तु आचार्यश्री के दुःखनामूनक उत्तर ने यह स्पष्ट कर दिया कि व्यक्तिगत आलोचना जहाँ मनुष्य की हीनवृत्ति की छोटफ होनी है, वहाँ सैद्धान्तिक आलोचना ज्ञान-शुद्धि और आचार-शुद्धि की हेतु होती है । उन्हें रोकने की नहीं, किन्तु गूढम दृष्टि मे समझने की आवश्यकता है । सत्य को भावही नहीं, घनावही ही पा सकता है ।

कुप्रथा को प्रथम नहीं

मेवाड़ के एक गाँव में आचार्यश्री पधारे । वहाँ एक बहिन ने दर्शन देने की प्रार्थना करायी । आचार्यश्री ने शरणा पूछा । अनुरोध करने वाले भाई ने कहा—उमका पनि दिवगत हो गया है । यहाँ की प्रथा के अनुसार वह ग्यारह महीने तक अपने घर से बाहर नहीं निकल सकती ।

आचार्यश्री ने कहा—तुम्ही कहते हो या उससे पूछा भी है ? ऐसा कौन होगा जो इतने महीनों तक एक ही मकान में बैठा रहना चाहे ?

इस पर वह भाई उस बहिन को समझाकर वहीं स्थान पर ले जाने के लिए गया ? पर रुढ़ियों मे पत्नी हुई वह वहाँ न जा सकी ।

आचार्यश्री ने तब कहा—कोई रोगी या अशक्त होना तो मैं अवश्य वहाँ जाकर दर्शन देता; पर वहाँ जाने का अर्थ है—इस कुप्रथा को प्रथम देना; अतः मैं नहीं जा सकता ।

उस बहिन ने जब यह बात सुनी तो बहुत चिन्तित हुई । लोग हजारों मील आकर दर्शन करते हैं और वह गाँव मे पधारे हुए शिव के दर्शनो से भी वंचित रह जाएगी; इस चिन्तन ने उसको झकझोर डाला । अन्ततः वह अपने को नहीं रोक सकी । कुछ बहिनो की छोट लिए भीत शूगी-सी वह भायी और दर्शन कर जाने लगी । आचार्यश्री ने उसे धाये के लिए उस प्रथा को छोड़ देने का बहुत उपदेश दिया; पर

वह सामाजिक भय के कारण उसे नहीं मान सकी ।

भाचार्यश्री ने कहा—एक ही कोठरी में बैठे रहना और वही मल-मूत्र करना तथा दूसरों से फिकवाना क्या तुम्हें बुरा नहीं लगता ?

उसने कहा—बेटे की वह विनीत है; अतः वह सहज भाव से यह सब कुछ कर लेती है ।

भाचार्यश्री सन्तो की ओर उन्मुख होकर कहने लगे—अब इस घोर अज्ञान को कैसे मिटाया जाये ?

दमशान में भी

भाचार्यश्री ने सौराष्ट्र में साधु-साध्वियों को भेजा । वहाँ उन्हें घोर विरोध का सामना करना पड़ा । चूड़ा आदि में कुछ लोग तेरापथी बने; उन्हें जाति-बहिष्कृत कर दिया गया । तेरापथी साधुओं के विरुद्ध ऐसा वातावरण बनाया गया कि उन्हें सौराष्ट्र में चातुर्मास करने के लिए कहीं स्थान नहीं मिल पाया । उस समय वहाँ पर मुनि धासीरामजी, मुनि हूगरमलजी और साध्वी रुपाजी; ये तीन सिंघाड़े विचर रहे थे । उन्हें क्रमशः जोरावरनगर, बाँकानेर और चूड़ा में चातुर्मास करने थे । यद्यपि समाज-बहिष्कार का भय सर्वत्र व्याप्त था, फिर भी बाँकानेर और चूड़ा में कुछ व्यक्तियों ने उस स्थिति का सामना करने का निश्चय किया और उन्होंने अपना स्थान प्रदान किया, पर जोरावरनगर में मुनि धासीरामजी के सम्मुख उससे बिलकुल विपरीत स्थिति थी । वहाँ कोई भी जैन भाई उन्हें स्थान देने को उद्यत नहीं हुआ ।

अन्त में वहाँ से कुछ भाई घली में भाचार्यश्री के दर्शन करने आये और वहाँ की सारी स्थिति बतलायी । भाचार्यश्री ने दण-भर के लिये कुछ सोचा और कहा—यद्यपि वहाँ आहार-पानी तथा स्थान आदि की अनेक कठिनाइयाँ हैं; फिर भी उन्हें साहस से काम लेना है । घबराने की कोई भावश्यकता नहीं है । जैन-अर्चन कोई भी व्यक्ति स्थान दे; उन्हें

घटी रह जाना चाहिये । कोई भी स्थान न मिलने की स्थिति में श्मशान में रह जाना चाहिये । भिक्षु स्वामी के आदर्श को मानने रखकर दुःख-पूर्वक उन्हें कठिनाइयों का सामना करना है ।

भाचार्यश्री की उम्र दुःखपूर्ण स्रुतं वारुणी मे थावनों को बड़ा सम्बल मिला । तत्रस्थ साधु-साध्वियों को भी एक मार्ग-दर्शन मिला । वे अपने निश्चय पर धीर भी दुःखता के साथ जमे रहे ।

एकात्मकता

सौराष्ट्र-स्थित साधु-साध्वियों को स्थान न मिलने के कारण भाचार्यश्री चिन्तित थे । उन्होंने अपने मन-ही-मन एक निर्गम्य किम धीर ऊनोदरी करने लगे । पार्वस्थित सभी व्यक्तियों को धीरे-धीरे यह तो पता हो गया कि भाचार्यश्री ऊनोदरी कर रहे हैं; पर क्यों कर रहे हैं; इसका पता किसी को नहीं लग सका । बार-बार पूछने पर भी उन्होंने अपने रहस्य को नहीं खोला । भास्त्रि यह रहस्य तब खुला; जब सौराष्ट्र में साधु-साध्वियों की कुशलता के तथा चातुर्मास के लिये उपयुक्त स्थान मिल जाने के समाचार आ गये ।

सध के साधु-साध्वियों के प्रति भाचार्यश्री की यह आत्मीयता उन सबको एकमूर्तता का भाव कराती है तथा सध के लिये सर्वभावेन सम्पूर्ण की बुद्धि उत्पन्न करती है । इस एकात्मकता के सम्मुख कोई परीपह; परीपह के रूप में टिक नहीं पाता । यह कर्तव्य की बेड़ी पर बलिदान की भूमिका बन जाता है ।

पंचायती जाजम

भाचार्यश्री मारवाड़ के एक ग्राम में पधारे । स्थानीय लोगों ने मध्याह्न में उनके प्रवचन की व्यवस्था की । जनता को आतप से बचाने के लिये पाल बांधे तो मूल से बचाने के लिए जाजमें विधार्ई ।

भाचार्यश्री परीक्षार्थी मुनियों को अध्पदन करवा रहे थे; प्रतः

पहले एक साधु को व्याख्यान प्रारम्भ करने के लिये भेज दिया। व्याख्यान प्रारम्भ हुआ। सभी वर्ग के लोग आकर जमने लगे। कुछ भेष-वाल (हरिजन) भाई भी आये और सभी के साथ जाजम पर बैठ गये। स्थानीय जैन लोगों को यह बहुत बुरा लगा। उन्होंने साकोस उन्हे वहाँ से उठाते हुए कहा—“तुम लोगों को कुछ भी होश नहीं है जो पचाभती जाजम पर आकर बैठ गये।” उन्होंने उनके नीचे से जाजम खींचली। हरिजनों को इस व्यवहार से बड़ी ठेस पहुची। उनकी आँखें उस अपमान के मूक विरोध में आँदं हो गईं।

आचार्यश्री ने अदर से यह सब देखा तो बड़े खिन्न हुये। मानवता के उस अपमान ने उन्हे व्यग्र बना दिया। शिष्यों को वे आने कुछ नहीं पडा सके। वे तत्काल सभा-स्थल में पहुचे और कहने लगे—“साधुओं के व्याख्यान में आने का हरएक को अधिकार है। वहाँ जातीयता के आधार पर किसी का अपमान करना स्वयं साधुओं का अपमान करना है। आपकी जाजम व्याख्यान में आगन्तुक व्यक्तियों के बैठने से यदि अपवित्र होती थी, तो उसे वहाँ विद्यया ही क्यों गया था ?” आचार्यश्री ने वहाँ के सरपच को; जो कि एक जैन था और उस कार्य में भी सम्मिलित था, पूछा—क्या आपके वहाँ पचायत में सभी सबर्ण हैं ?

सरपच—नहीं उसमें एक हरिजन भी है।

आचार्यश्री—तो क्या पचायत करते समय उसके बैठने की व्यवस्था तुम लोगों से वृथक् होती है ?

सरपच—नहीं महाराज, वहाँ तो सभी साथ में ही बैठते हैं।

आचार्यश्री—तो यहा क्या हो गया ? वहा की जाजम से शायद वहाँ की जाजम अधिक पवित्र और अधिक नागुक होगी।

उन लोगों के पास आगे बोलने के लिए कोई तर्क नहीं था। वे बहुत लज्जित थे। उन्होंने अपनी भूल स्वीकार करते हुए सम्बन्धित व्यक्तियों से क्षमा-याचना की।

प्रत्युत्पन्नमति

आचार्यश्री में अपनी बात को समझाने की अपूर्व योग्यता है। वे किसी भी प्रकार की तर्क से घबराते नहीं। अपनी तर्क-सम्पन्न वाक्यावलि से वे एक क्षण में पासा पलट देते हैं। उनको सुनने वाले उनकी इस क्षमता से जहाँ चकित हो जाते हैं; वहाँ तर्क करने वाले निरस्त। उनकी प्रत्युत्पन्नबुद्धि बहुत ही समर्थ है।

पादरी का गर्व

एक पादरी ने ईसाई धर्म को सर्वोत्कृष्ट बताते हुए आचार्यश्री से कहा—“ईसा ने शत्रु से भी प्यार करने का उद्देश दिया है। ऐसा सिद्धान्त अन्यत्र नहीं मिलेगा।”

आचार्यश्री ने तत्काल कहा—“महारामा ईसा ने यह बहुत प्रशंस्य कहा है; परन्तु इससे शत्रु का अस्तित्व तो प्रकट होता है। भगवान् महावीर ने इससे भी आगे बढ़कर किसी को भी अपना शत्रु न मानने को कहा है।” पादरी का अपने धर्म की सर्वोत्कृष्टता का गर्व चूर-चूर हो गया।

आप लोग क्या छोड़ेंगे ?

रूपनगढ़ में गोविन्दसिंह नामक एक सेवानिवृत्त सैनिक अधिकारी आचार्यश्री के पास आया। वह कुछ बातचीत कर ही रहा था कि इतने में कुछ बलिगुजन भी आ गए। उस अधिकारी से आचार्यश्री को बात करते देखा तो किसी बलिगु ने धवसर देकर आचार्यश्री के कान में कहा—यह तो सराबी है। आप इससे क्या बात करते हैं ?

आचार्यश्री ने उसकी बात सुन ली और फिर काफी देर तक उस अधिकारी से बात करते रहे। बातचीत के प्रसंग में उसने पूछ भी लिया—क्या तुम शराब पीते हो ?

अधिकारी—हाँ मटारात्र ! पहले तो बहुत पीता था; पर अब

प्रायः नहीं पीता ।

आचार्यश्री—तो क्या अब इसे पूर्णतः छोड़ने का संकल्प कर सकोगे ?

अधिवारी—इतना तो विचार नहीं किया; पर अब पीना नहीं चाहता ।

आचार्यश्री—अब पीना नहीं चाहने तो मानसिक दृढ़ता के लिए संकल्प कर लेना चाहिए ।

अधिवारी ने एक क्षण के लिए कुछ सोचा और फिर सड़ा होकर बहने लगा—अच्छा महाराज ! आज आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं आजीवन शराब नहीं पीऊँगा ।

आचार्यश्री ने उसके मानसिक निर्णय को टटोलते हुए पूछा—मेरे बहने के कारण तथा प्रतियक्षा-प्राप्ति के लिए तो तुम ऐसा नहीं कर रहे हो ?

अधिवारी ने दुड़गा के साथ कहा—नहीं महाराज ! मैं अपनी आत्म-प्रेरणा से ही बन से रहा हूँ । इतने दिन भी मेरा प्रयास इस ओर था, पर आज तक सबल-बल जागृत नहीं हुआ था । आज आपके सम्पर्क में आने से मेरे में वह बल जागृत हुआ है । उसी की प्रेरणा से मैंने यह व्रत लिया है ।

आचार्यश्री ने उसके बाद उन समागत व्यापारियों से पूछा—अब आप लोग क्या सोचेंगे ? व्यापार में मिलावट आदि तो नहीं करने ?

व्यापारियों ने बगलें झँकना शुरू कर दिया । किसी तरह आत्म-बतोर कर बहने लगे—आश्चर्य हमारे बिना व्यापार बन ही नहीं सकता ।

आचार्यश्री के बार-बार समझाने पर भी वे लोग उन धर्मविरुद्धता को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हो सके ।

आचार्यश्री ने कहा—बिनाही तुम लोग बना करके योग्य नहीं बनाना; उमरे तो अपनी बुराई को छोड़ दिया; पर तुम लोग जो

घमाने को उससे श्रेष्ठ मानते हो; अपनी बुराई नहीं छोड़ पा रहे हो।
तुम लोगों से उमड़ी सकल्प-शक्ति अधिक तीव्र रही।

वास्तविक प्रोफेसर

पिनानी-विद्यापीठ में प्रवचन करते हुए भाचार्यश्री ने कहा—“जो
अनुभव स्वयं पढ़ते समय नहीं हो पाता; वह विद्यार्थियों को पढ़ाते समय
होता है; अतः वास्तविक प्रोफेसर तो विद्यार्थी होते हैं।

भाचार्यश्री भाषण देकर भाये, तब एक परिचित विद्यार्थी ने
पूछा—अब आपका आगे का कार्यक्रम क्या है ?

भाचार्यश्री—चार बजे के लगभग प्रोफेसरों की सभा में भाषण है।

छात्र ने हँसते हुए कहा—तब तो हम भी उसमें सम्मिलित हो
सकेंगे; क्योंकि अभी आपने हमें प्रोफेसर बना दिया है।

भाचार्यश्री—पर मेरे उस कथन के अनुसार वह सभा प्रोफेसरों की
न होकर छात्रों की ही तो होगी। तब तुम्हारे सम्मिलित होने का प्रश्न
ही कहाँ उठता है ?

कोई तो चाहिए

भाचार्यश्री नवीगंज जा रहे थे। मार्ग में रघुवीरसहजी त्यागी का
आश्रम आया। त्यागीजी ने भाचार्यश्री को वहाँ ठहराने का बहुत प्रयास
किया। भाचार्यश्री का कार्यक्रम आगे के लिए पहले से ही निश्चित हो
चुका था, अतः वहाँ ठहर पाना सम्भव नहीं था।

त्यागीजी ने अपना अन्तिम तक काम में लेते हुए कहा—यहाँ तो
अमुक-अमुक भाचार्य ठहर चुके हैं; अर्द्धा त्याग है; आपको किसी प्रकार
का कष्ट नहीं होगा। सभी तरह की सुविधाएँ यहाँ उपलब्ध हैं।

भाचार्यश्री ने भी उसके विरुद्ध अपना तक प्रस्तुत करते हुए कहा—
जहाँ सभी प्रकार की सुविधा होती है; वहाँ तो सभी ठहरते ही हैं।
जहाँ सुविधाएँ न हों; वहाँ भी तो ठहरने वाला कोई चाहिये।

ह्यामीजी के पास इसका कोई उत्तर नहीं था। प्राचार्यश्री ने अपने पूर्व-निर्धारित कार्यक्रम की अनिवार्यता बतलाते हुए उनके आग्रह को प्रेमपूर्वक शांत किया।

नींद उड़ाने की कला

प्रातः कालीन प्रवचन में कुछ साधु भपकियाँ ले रहे थे। प्राचार्यश्री ने उनकी धीरे देखा धीरे अपने चालू प्रकरण में कष्ट-सहिष्णुता का विवेचन करते हुए कहने लगे—साधना करने वाले को कष्ट-सहिष्णु बनना अत्यन्त आवश्यक है। यह उनकी साधना का ही एक भग है। मुनि-जन कितना कष्ट सहते हैं; यह देखने या सुनने से उतना नहीं जाना जा सकता; जितना कि स्वयं अनुभव करने से। गर्मी का समय है। रात को सुने आकाश में सो नहीं सकते। प्यास लगने पर भी पानी नहीं पी सकते। ऐसी स्थिति में नींद कम घाये; यह सहज है। आप समझ रहे होंगे; भपकियाँ लेने वाले साधु प्रवचन सुनने के रसिक नहीं हैं। किन्तु वास्तविकता यह नहीं है; प्रवचन सुनने के लिये घाने पर भी रात की नींद प्रातःकाल के ठण्डे समय में सताने लगती है। इन भपकियों का मुख्य कारण यही तो है।

प्राचार्यश्री के इस विवेचन ने ऐसा धमत्कार का काम किया कि सब की नींद उड़ गई। कुछ व्यक्तियों ने सोचा कि यह प्रवचन के प्रसंग में ही फरमाया गया है। कुछ ने सोचा कि यह नींद उड़ाने की नई कला है। नींद लेने वालों ने अपनी स्थिति को सम्भालते हुए सोचा कि अब नींद नहीं लेनी है।

इतनी तो सुविधा है

गर्मी के दिन थे; फिर भी फ्लाहागड़ से साठेतीन बजे विहार हुआ। सूर्य जल रहा था। धूप बहुत तेज थी। सड़क के उत्ताप से पैर झुलसे जा रहे थे। कुछ दूर तो हसो की छाया छाती रही; किन्तु बाद में

वह भी नहीं रही। एक साधु ने कहा—घुप इनकी तंत्र है और वृत्र नहीं दिखायी नहीं पड़ रहे हैं। बड़ी मुसीबत है।

भाचार्यश्री ने उस निराशावादी स्थिति को उलटते हुये कहा—आज इतनी तो सुविधा है कि सूर्य पीठ की ओर है। यदि यह सम्भुन होगा तो कार्य और भी बढिन होता।

विचार-प्रेरणा

भाचार्यश्री की कार्य-प्रेरणा जितनी तीव्र है; उतनी ही विचार-प्रेरणा भी। वे ऐसी स्थिति पैदा कर देते हैं कि जिनसे व्यक्ति को उनके विचारों को जानने की उत्सुकता हो। यद्यपि वे बहुत सरल और सुबोध भाषा में बोलते हैं; फिर भी उस सुबोधता में एक ऐसा तत्व रहता है; जो प्रयासगम्य होता है। उनकी सहज बात दूसरों के लिए मार्ग-दर्शक बन जाती है।

आशा से भर दिया

एक बार दिल्ली-अणुव्रत-समिति के अध्यक्ष श्रीगोपीनाथ 'अमन' अणुव्रत-अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए गये। वे तब किसी कारण-वश काफी निराश थे। किन्तु जब लौटकर दिल्ली आये; तब आशा से भरे हुए थे।

मैंने उनसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने बतलाया—अभी दिल्ली नगर निगम के चुनावों में मेरे अपने ही मुहल्ले में बोट खरीदे गये। यह कार्य मेरी पार्टी वालों ने ही भुभसे छिपाकर किया था। इस प्रकार की प्रच्छन्न अनैतिकताओं से मुझे बड़ी ग्लानि है; अतः निराश होना स्वाभाविक ही था। इसी निराशा की स्थिति में मैं अधिवेशन में भाग लेने गया था। मैंने जब इस घटना को भाचार्यश्री के सम्मुख रखा और कहा कि जब देश में इस प्रकार की अनैतिकता व्याप्त है; तब कुछ व्यक्तियों के अणुव्रती होने का कोई अधिक प्रभाव नहीं हो सकता।

मुझे अपनी प्रभावहीनता पर बड़ा दुःख है कि मेरी पार्टी वालों पर भी मेरा कोई प्रभाव नहीं है। अधिक व्यक्तियों द्वारा की जाने वाली भ्रष्टाचारिता के साथ जो सम्मिलित होना नहीं चाहता, उसे समाज के अन्य व्यक्तियों से अलग-थलग रहना पड़ता है। उसका जीवन जाति-बहिष्कृत-जैसा बन जाता है। मेरे साथी जब यह जान गए कि मैं उनकी इन बातों में सहयोग नहीं दूँगा, तो वे उन बातों के विषय में मुझमें विमर्षण किये बिना ही अपना निर्णय कर लेते हैं।

आचार्यश्री ने मुझमें कहा—“क्या यह कम महत्वपूर्ण बात है कि अनेक व्यक्ति किसी एक व्यक्ति की सचाई का भी सामना नहीं कर सकते। उन्हें छिपकर काम करना पड़ता है।” वस, आचार्यश्री की इसी एक बात ने मुझे आशा से भर दिया।

मेरा मद उतर गया

सुरेन्द्रनाथ जैन आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। आचार्यश्री ने उनसे पूछा—धर्म-शास्त्रों का नैरन्तरिक अभ्यास चालू रहता होगा ?

उन्होंने कहा—मैंने दस वर्ष तक दिगम्बर धर्म-शास्त्र का अभ्यास किया है।

आचार्यश्री—तब तो मोक्षशास्त्र, राजवातिक, दलोकवातिक, परीक्षा मुख आदि ग्रन्थ पढ़े ही होंगे ?

सुरेन्द्रनाथजी—हाँ, मैंने इन सबका अच्छी तरह से पारायण किया है।

आचार्यश्री—आत्म-तत्त्व का विश्वास हुआ कि नहीं ?

सुरेन्द्रनाथजी—जितना निर्विकल्प होना चाहिए; उतना नहीं हुआ।

आचार्यश्री—हो भी कैसे सकता है ? पुस्तकें आत्मतत्त्व का विश्वास थोड़े ही कराती हैं ? वे तो केवल उसका ज्ञान देती हैं ?

सुरेन्द्रनाथजी—तो विश्वास कैसे होता है ?

आचार्यश्री—साधना से। भले ही कोई ग्रन्थ न पढ़े; पर आत्म-साधना करने वाले को आत्म-दर्शन अवश्य होगा। केवलज्ञान की प्राप्ति

पुस्तकों से नहीं; बल्कि साधना से ही होती है। केवलज्ञान के लिए कहीं कानिष्ठ में नहीं जाती होना पड़ता, उसके लिए तो एकान्त में बैठकर अपनी आत्मा को पढ़ना होता है। उन्हीं से अत्यन्त आत्म-बोध की प्राप्ति हो जाती है।

आचार्यश्री की उपर्युक्त बातों का श्री गुरुदेवनाथजी पर जो प्रभाव पड़ा, उसको उन्होंने इस प्रकार भाषा दी है—“इतनी बड़ी बात और उमको इतने गरम दग में। मेरा जानी होने का मद वाण-मर में उतर गया। तभी मुझे लगा कि हजार शास्त्रोंद्वारा पड़ितों में एक साधक सहस्रो गुना अधिक ज्ञानवान् है।”

पाने की आशा से जाता हूँ

कलकत्ता विश्वविद्यालय के दर्शन-विभागाध्यक्ष डा० शानकरी मुखर्जी जयपुर में आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। वे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने बाद में आचार्यश्री के विषय में लिखा—विद्वानों तथा विद्वत्ता का पेशा अपनाए हुए व्यक्तियों की; जो पेशाकी विद्या-बुद्धि का अत्यधिक गर्व किया करते हैं; कमजोरियों से भी अपने आपको मुक्त नहीं मानता। पर मैंने उनकी उपस्थिति में पाया कि यह कमजोरी दब गई तथा मैंने अपने को उनके सम्मुख एक शिशु के रूप में अनुभव किया। मेरे मन पर यह प्रभाव पड़ा कि वे भ्रान्त मानवता के मुक्ति-दाता हैं।

प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलालजी ने उनके उपर्युक्त विचारों की आलोचना की। जब डा० मुखर्जी तक वह बात पहुँची तो उन्होंने अपने एक अन्य पत्र में लिखा—किसी व्यक्ति को ज्ञान का गर्व हो सकता है। वह कह भी सकता है, आचार्यजी क्या जानते हैं। पर मैं तो जब-जब आचार्यश्री के सान्निध्य में जाता हूँ, तब मुझे बहुत शान्ति का अनुभव होता है और मैं वहाँ बहुत पाने की आशा से जाता हूँ।

हिन्दू या मुसलमान ?

बिहार प्रदेश में किसी ने आचार्यश्री से पूछा—आप हिन्दू हैं या मुसलमान ?

आचार्यश्री ने कहा—मेरे छोटी नहीं है, भतः मैं हिन्दू नहीं हूँ । मैं इस्लाम परम्परा में नहीं जन्मा; भतः मुसलमान भी नहीं हूँ । मैं तो केवल मानव हूँ ।

भोजन का अधिकार

'भोडता' गाँव में आचार्यश्री के पास सृत्यु-भोज के त्याग का प्रकरण चल पड़ा । घनेक व्यक्तियों ने सृत्यु-भोज करने तथा उसमें सम्मिलित होने का परित्याग किया । आचार्यश्री ने वहाँ के सरपंच से भी त्याग करने के लिए कहा ।

सरपंच ने कहा—मैंने अभी कुछ दिन पहले सृत्यु-भोज किया है । चार हजार रुपये लगाकर मैंने सब लोगों को भोजन कराया है, तो अब उनके यहाँ का सृत्यु-भोज कैसे छोड़ दूँ ? कम-से कम एक-एक बार तो सबके घर भोजन करने का मुझे अधिकार है । हाँ, यह हो सकता है कि मैं अब सृत्यु-भोज नहीं करूँगा ।

आचार्यश्री ने अपने तर्कों को नया मोड़ देने हुए कहा—परन्तु जब तुम सृत्यु-भोज नहीं करोगे तो तुम्हें फिर क्यों कोई अपने यहाँ बुलावेगा ? सब सोचेंगे । यह हमें नहीं बुलावेगा, तब फिर हम ही इसे क्यों बुलायें ? और फिर यह भी सोचो कि जब सब लोग हमका परित्याग करते हैं, तब एक-एक बार सबके भोजन करने का तुम्हारा अधिकार किन काम का रह जावेगा ?

सरपंच के पास इसका कोई उत्तर नहीं था । आचार्यश्री के तर्कों ने उसे अपने मन्तव्यों पर पुनः विचार करने को प्रेरित किया । एक क्षण उमने सोचा और फिर गाँव वालों के साथ तथा होकर प्रतिज्ञा में सम्मिलित हो गया ।

वह और उसके साथी असमंजस में पड़ गये । आखिर आचार्य ने अपने रहस्य को कुछ स्पष्ट करते हुए पूछा—शराब पीते हो ?

वह व्यक्ति—वह तो पीता हूँ ।

आचार्यश्री—कितनी पीते हो ?

वह व्यक्ति—यह मत पूछिये । हम लोगो की सारी कमाई इसी तरह खर्च हो जाती है ।

आचार्यश्री—खून पसीना एक करके कमाते हो, उसे यों दुबारा में फूंक देना कहीं की समझदारी है ? यदि मैं तुम्हारे से शराब खरीदने की भेंट मांग लू तो दोगे या नहीं ?

वह व्यक्ति और उसके साथी कुछ देर तक विचारमग्न हो गये परस्पर फुस-फुसाहट में कुछ विचार-विनिमय हुआ । आखिर वह एक निर्णय पर पहुँचा और बोला—तो बाबा ! जब तुमने भेंट मांग ली है तो लो, यही देता हूँ । आज से मैं कभी शराब नहीं पीऊँगा ।

उसके अनेक साथियों से भी आचार्यश्री ने वही भेंट स्वीकार की

किसान का बेटा हूँ

एक किसान आचार्यश्री के पास आया और दर्शन करके पास ही बैठ गया । आचार्यश्री ने उससे पूछा—कहाँ से आये हो ?

उसने उत्तर देते हुए कहा—पास के ही गाव का हूँ । मेरा लाला और स्त्री पहले आ गये थे । उन्होंने ही मुझे कहा कि मैं भी एक बार दर्शन कर आऊँ । इसीलिये खेत से सीधा यहाँ, आपके दर्शन करने आया ।

आचार्यश्री—बेवक्त दर्शन से क्या होगा ? कुछ संकल्प भी तो करना होगा । तमाशू पीते हो ?

किसान—वह तो बचपन से ही पीता हूँ ।

आचार्यश्री—अपने हाथ दिमागो लो ।

किसान ने अपने दोनों हाथ आचार्यश्री के सम्मुख दिये तो उन्होंने

कहा—देखते हो, यह तमाशू के दाग तुम्हारे हाथों पर कितनी गहराई से बैठे हुये हैं। ये तुम्हारे फेफड़ों पर भी तो इसी प्रकारसे बैठ गये होंगे ? दुर्व्यसन होने के कारण इसका दाग तुम्हारे जीवन पर भी तो बैठता है। ऐसी वस्तु को तुम छोड़ क्यों नहीं देते ?

किसान कुछ क्षणों के लिये विचार-मग्न हो गया। उसने कुछ निर्णय किया और बोला—भाप कहते है तो छोड़ देता हूँ।

भाचार्यश्री—श्री तो कहता ही है, परन्तु इतने भाप से कुछ नहीं होता। भूल बात तो किये हुये सकल्प को दृढता से निभाने की है।

किसान—मै किसान का बेटा हूँ महाराज ! प्राण भले ही चले जाएँ, परन्तु प्राण नहीं जाने पायेगा।

उसके विचारों को प्रेरित कर इतनी दृढता की भूमिका पर लाने के पश्चात् भाचार्यश्री ने उसको सकल्प करा दिया।

भेंट क्या चढ़ाओगे ?

भाचार्यश्री एक छोटे-से गाँव में ठहरे। प्रामाण्य उनको चारों ओर से घेर कर लड़े हो गये। भाचार्यश्री ने विनोद में उनसे कहा—खडे तो हो; पर भेंट क्या चढ़ाओगे ?

बेचारे किसान सकुचाये और कहने लगे—महाराज ! भेंट के लिए तो हम कुछ नहीं लाये।

भाचार्यश्री—तो क्या तुम लोग नहीं जानते कि दर्शन करने के बाद कुछ चढ़ाना भी आवश्यक है ?

किसान और भी अधिक सकुचा गये। उनमें से किसी एक ने कुछ साहस करते हुये कहा—हम तो सब गरीब हैं, भापके योग्य भेंट ला भी क्या सकते है ?

भाचार्यश्री ने उन्हें और भी विस्मय में डालते हुए कहा—तुम सबके पास चढ़ाने के उपयुक्त सामग्री है तो सही; परन्तु उसे चढ़ाने का साहस करना होगा।

वे लोग विस्मय होकर एक दूसरे की ओर ताकने लगे । आचार्यश्री ने उनकी दुविधा को ताकते हुये कहा—डरो मत; मैं तुम्हारे से क्या-पैसा माँगने वाला नहीं हूँ । मुझे तो तुम्हारी बुराइयों की भेंट चाहिये । तमाकू, मद्यपान, चोरी आदि की ज़िममें जो बुराई हो; वह मुझे भेंट चढ़ा दो ।

यह सुनकर सबसे प्रगल्भता की लहर दौड़ गई । उन लोगों ने सचमुच ही आचार्यश्री के चरणों में काफ़ी मारी भेंट चढ़ाई ।

गंगाजल से भी पवित्र

अकरावाद में एक ब्राह्मण गंगाजल लेकर आया और आचार्यश्री से उसे स्वीकार करने का आग्रह करने लगा । आचार्यश्री ने उसे समझाया कि कच्चा जल हमारे उपयोग में नहीं आता ।

ब्राह्मण बोला—यह तो गंगाजल है । यह कभी कच्चा होता ही नहीं । मैं इसे अभी-अभी लेकर आया हूँ ।

अन्ततः आचार्यश्री ने उसके बड़ते हुए आग्रह को देखा तो अपनी बात का रुख बदलते हुये कहने लगे—पंडितजी ! थड़ा पानी से बड़ी होती है; मैं आपकी थड़ा को सादर ग्रहण करता हूँ । यह इस गंगाजल से भी पवित्र वस्तु है ।

सबसे समान सम्बन्ध

उत्तरप्रदेशीय विधान-सभा के सदस्य श्री ललिताप्रसाद सोनकर की प्रार्थना पर आचार्यश्री ने दलितवर्ग-सभ के वार्षिक अधिवेशन में जाना स्वीकार कर लिया । उनके कुछ विरोधियों ने आचार्यश्री से कहा—सब दलित-वर्गीय लोगों का इसमें सहयोग नहीं है; अतः आप का वहाँ जाना उचित नहीं लगता ।

आचार्यश्री ने कहा—सबका सहयोग होना अच्छा है; फिर भी वह न हो; तब तक के लिये मैं अपनी बात न कहूँ; यह उचित नहीं ।

सत्यान्वेषण या सत्यप्रापण में यदि सबके सहयोग की बातें रहे; तो सापेक्ष सत्य के पतनने का कभी भ्रवसर ही न घाये। जो इस संगठन में है; वे मेरे विचार मात्र मुन लें और जो इस संगठन में नहीं है; वे मात्र वहाँ भी मुन सकते हैं तथा अल्पत्र कहीं भी। मेरा इस या उस किसी भी संगठन से कोई सम्बन्ध नहीं है और जो सम्बन्ध है, वह सभी संगठनों से एक समान है।

घरण-स्पर्श कर सकते हैं ?

रेल से उतर कर घाये हुये कुछ व्यक्तियों ने आचार्यश्री का घरण-स्पर्श करना चाहा। परन्तु उन्हें रेल के घुएँ से मलिन हुए अपने बस्त्रों के कारण कुछ असौच हुआ। सम्भवतः वह विचार भी मन में उठा हो कि एक पवित्र आत्मा के सम्पर्क में आते समय तन और बदन की पवित्रता अनिवार्यतया होनी चाहिये। दूसरे ही क्षण मन में एक दूसरा लक्ष्य प्रस्तुत किया कि उनसे सम्पर्क करने में तन और बदन से कहीं अधिक थोड़ा माध्यम बनती है। वह तो सदा पवित्र ही है। आतिर उन्होंने पूछ लेना ही उचित समझा। वे आचार्यश्री के पास घाये और बोले— क्या हम इस अस्नात स्थिति में आरवा घरण स्पर्श कर सकते हैं ?

आचार्यश्री ने कहा—क्यों नहीं ? बस्त्रों की मलिनता उपेक्षणीय न होने हुये भी गौरव वस्तु है। मन की मलिनता नहीं होनी चाहिये।

विनोद

कभी-कभी अक्सर आने पर आचार्यश्री विनोद की भाषा में बोलने लगे जा सकते हैं। उनका विनोद केवल परिहास के रूप में नहीं होता; अतिसु आने में एक गहरा अर्थ निहित हुये होता है। उनके विनोदों का अन्वयार्थ आण की तरह बरनुस्थिति के हादों को विद्व बरने वाला होता है।

एक घड़ी

माइल में मुबब-आम्मेनन की समाप्ति पर एक स्वयंसेवक ने सूचना

देने हुए कहा—एक घड़ी मिसी है; जिन मन्त्रन की हो; वह विन्धु
बाजार कार्यालय में इंगे ले ले ।

यह बंट भी नहीं पाया था कि भाचार्यश्री ने कहा—मैंने भी घाय
सोनों में एक घड़ी (समय-विशेष) खोई है । देखें; कौन-कौन उसे वापस
ला देते हैं ।

हंसी का वह कहकहा लगा कि पण्डाल में काफी देर तक एक मधुर
सगीत की-सी झरार छापी रही ।

पर्दा-समर्थकों को लाभ

भरतपुर में विहार कर भाचार्यश्री पुलिस-चौकी पर प्यारे । यारी
निकट की एक वाटिका में ठहरे । वहाँ एक स्थल पर मधुमक्खियों का
छत्ता था । भोजन पकाने के लिए जनायी गई भाग का धुँदा सयोगवशात्
वहाँ तक पहुँच गया । उससे क्रुद्ध हुई मधुमक्खियों ने बहुत से भारी-
बहिनों को काट लिया । उस काण्ड में पर्दे वाली बहिनें साफ बच गईं ।

भाचार्यश्री को जब इस बात का पता चला तो हँसते हुए कहने
लगे—चलो ! पर्दा-समर्थक व्यक्ति उसकी एक उपयोगिता भव निर्वि-
वाद बता सकेंगे ।

यह भी कट जायेगी

भाचार्यश्री कानपुर पधार रहे थे । विहार में मील पर मील बट्टे
जा रहे थे । मील का एक पत्थर थाया, वहाँ से कानपुर चौरासी मील
दोष था । एक भाई ने कहा—अभी तक तो कानपुर चौरासी मील दूर है ।

भाचार्यश्री ने उस बात में अपने विनोद का रस भरते हुए कहा—
“यह चौरासी भी कट जायेगी ।” इस छोटे-से वाक्य के साथ ही सारा
वातावरण मधुमय हास से व्याप्त हो गया ।

कुर्घा : प्यासे के घर

भाचार्यश्री ने विभिन्न बस्तियों में जाकर व्याख्यान देना प्रारम्भ

किया; तब आलोचक-प्रकृति के लोग कहने लगे—प्यासा कुंए के पास जाता है; पर कुंआ प्यासे के पास क्यों जाये ?

आचार्यश्री ने इस बात का रस लेते हुए कहा—भरे भाई ! क्या किया जाये? युग की रीति ही विपरीत हो गई है। अब तो नलो के द्वारा कुंआ भी तो प्यासे के घर जाने लगा।

भाग्य की कसौटी

एक बहिन आचार्यश्री को अपना परिचय दे रही थी। अन्यान्य बातों के साथ उसने यह बतलाया कि उसकी एक बहिन विदेश गयी हुई है।

आचार्यश्री ने कहा—तुम विदेश नहीं गयी ?

उसने उदासीन स्वर में उत्तर दिया—मेरा ऐसा भाग्य कहाँ है ?

आचार्यश्री ने मुस्कराते हुए कहा—बस; यही है तुम्हारे भाग्य की कसौटी ?

घचाव

जोधपुर-वातुर्मास में विरोधियों ने स्वान-स्वान पर विरोधी पक्ष चिपकाये। जिस मार्ग से आचार्यश्री का बहुधा आवागमन हुआ करता था। उस पर तो उन लोगों ने घोर भी अधिक चिपकाये थे।

आचार्यश्री ने जब यह देखा तो कहने लगे—तारकोल की सड़क पर पैर काले हो जाया करते हैं; परन्तु आज कुछ बचाव हो जावेगा।

जेब नहीं है

धादिवासी लोगों ने प्रवचन करने के पदचात् आचार्यश्री अपने किसी दूसरे कार्य में व्यस्त थे। कुछ लोग उनके सामने बैठे हुए थे। एक भीषण बानरु आया और आचार्यश्री से कहने लगा—मुझे मद्यमास का परित्याग करवा दीजिये। आचार्यश्री ने परित्याग करवा दिया और फिर कार्य में लग गये। वह भी चरणस्पर्श करके एक घोर बैठ गया। थोड़ी देर

देने हुए कटा एक घड़ी मिली है, जिस मखन की हों; वह कि
बाहर कार्यालय में दूंगे मे मे ।

वह बंद भी नहीं पाया था कि आचार्यश्री ने कहा—जिने जो प
सोंगों में एक घड़ी (मखन-विनोद) मोर्ड है । देखें; कौन-कौन उसे कत
सा देगे है ।

होगी वा वह कटाहा मगा कि पन्ना में काफी देर तक एक मु
सगीन की-नी भजार छापी रही ।

पर्दा-समर्थकों को लाभ

भरतपुर में विहार कर आचार्यश्री पुनिम-चीही पर पधारे । जग
निकट की एक वाटिका में ठहरे । वहा एक छा पर मधुमक्षियों का
छता था । भोजन पकाने के लिए जलायी गई भाग का धूँआ नयंपनना
वहाँ तक पहुँच गया । उमगे कुछ हुई मधुमक्षियों ने बहुत ने मर्
बहिनों को बाट लिया । उग काष्ठ में पर्दे वाली बहिनें साक बच गई ।

आचार्यश्री को जब दग बात का पता चला तो हमने हूँ बने
लगे—चलो ! पर्दा-समर्थक व्यक्ति उमकी एक उपयोजिता मर कि
वाद बता सकेंगे ।

यह भी बट जायेगी

आचार्यश्री कानपुर पधार रहे थे । विहार में मील पर मील रुने
जा ग्ये थे—मील का एक पत्थर आया, वहाँ से कानपुर चौराही मील
शेक ।

भाई ने कहा—अभी तक तो कानपुर चौराही मील दूर है ।
मे उस बात में धपने विनोद का रस भरते हुए कहा—
"इस छोटे-से वाक्य के साथ ही भाष
हो गया ।

गिया; सब झालोचक-प्रकृति के लोग कहने लगे—प्यासा कुंए के पास जाना है; पर कुंभा प्यासे के पास क्यों जाये ?

घाचार्यंथी ने हम बात का रस लेते हुए कहा—घरे भाई ! क्या किया जाये? युग की रीति ही विपरीत हो गई है। अब तो नलों के द्वारा कुंभा भी तो प्यासे के घर जाने लगा।

भाग्य की कसौटी

एक बहिन घाचार्यंथी को अपना परिचय दे रही थी। अन्यान्य बातों के साथ उसने यह बतनाया कि उसकी एक बहिन विदेश गयी हुई है।

घाचार्यंथी ने कहा—तुम विदेश नहीं गयी ?

उसने उदासीन स्वर से उत्तर दिया—मेरा ऐसा भाग्य कहाँ है ?

घाचार्यंथी ने मुस्कराने हुए कहा—बस; यही है तुम्हारे भाग्य की कसौटी ?

बचाव

शोधपुर-पानुर्माण में विरोधियों ने स्थान-स्थान पर विरोधी पत्रें बिखराये। जिन मार्ग में घाचार्यंथी का अटूठा धारामग्न हुआ करता था। उस पर तो उन लोगों ने धीरे भी अधिक बिखराये थे।

घाचार्यंथी ने जब यह देखा तो कहने लगे—ठारकोण की माइक पर घेर जाने हो जाया करने हैं; परन्तु घाज कुछ बचाव हो जायेगा।

जब नहीं है

घादिवासी लोगों ने प्रवचन करने के पदचान् घाचार्यंथी अपने किसी दूसरे कार्य में व्यस्त थे। कुछ लोग उनके सामने बैठे हुए थे। एक भीम बाणक आया और घाचार्यंथी से कहने लगा—मुझे मछमाम का परित्याग करना हीचिन्ने। घाचार्यंथी ने परित्याग करना दिया और फिर कार्य में लग गये। वह भी बरतुम्परा करते एक धीरे बैठ गया। बोरी देर

देने हुए कटा - एक घड़ी मिला है; त्रिग मन्त्रन की हो; वह त्रि-
बाहुर कार्यालय में इसे ले ले ।

यह बात भी मरी पाया था कि आचार्यश्री ने कहा—देने में इन
सौगों में एक घड़ी (गमप-विशेष) थोड़ी है । देखें; बीन-बीन उसे बात
सा देने हैं ।

हंती का वह बटवहा मगा कि पन्द्रान में कारी देर तक एक मु-
सगीत की-नी भकार सायी रही ।

पर्दा-समर्थकों को लाभ

भरतपुर में विहार कर आचार्यश्री पुनिस-चौरी पर पचारे । व-
निकट की एक वाटिका में ठहरे । वहाँ एक छा पर मधुमक्खियों
छत्ता था । भोजन पकाने के लिए जनापी गई घाग का घुंघ्रा संभवतः
वहाँ तक पहुँच गया । उमंगे कुट्ट हूई मधुमक्खियों ने बहुत से न
बहिनों को काट लिया । उस काण्ड में पर्दे वाली बहिनें साफ़ बच गईं

आचार्यश्री को जब इस बात का पता चला तो हँसते हुए क-
लगे—चमो ! पर्दा-समर्थक व्यक्ति उमगी एक उपयोजिता ध्वनि
वाद बता सकते हैं ।

यह भी कट जायेगी

आचार्यश्री कानपुर पधार रहे थे । विहार में भील पर भील क-
जा रहे थे । भील का एक पत्थर घाया, वहाँ से कानपुर चौरासी की
शेष था । एक भाई ने कहा—अभी तक तो कानपुर चौरासी भील दूर है

आचार्यश्री ने उस बात में अपने विनोद का रस भरते हुए कहा—
“यह चौरासी भी कट जायेगी ।” इस छोटे-से वाक्य के साथ ही का-
वातावरण मधुमय हास से व्याप्त हो गया ।

कुघ्राँ : प्यासे के घर

आचार्यश्री ने विभिन्न बस्तियों में जाकर व्याख्यान देना प्रारंभ

किया, तब आलोचक-प्रकृति के लोग कहने लगे—प्यासा कुंए के पास जाता है; पर कुंभा प्यासे के पास क्यों जाये ?

आचार्यश्री ने इस बात का रस लेते हुए कहा—अरे भाई ! क्या किया जाये? युग की रीति ही विपरीत हो गई है ! अब तो नलो के द्वारा कुंभा भी तो प्यासे के घर जाने लगा ।

भाग्य की कसौटी

एक बहिन आचार्यश्री को अपना परिचय दे रही थी । अन्यान्य बातों के साथ उसने यह बतलाया कि उसकी एक बहिन विदेश गयी हुई है ।

आचार्यश्री ने कहा—तुम विदेश नहीं गयी ?

उसने उदासीन स्वर से उत्तर दिया—मेरा ऐसा भाग्य कहाँ है ?

आचार्यश्री ने मुस्कराते हुए कहा—बस, यही है तुम्हारे भाग्य की कसौटी ?

बचाव

जोधपुर-वास्तुमूर्त में विरोधियों ने स्थल-स्थान पर विरोधी पर्चे चिपकाये । जिस मार्ग से आचार्यश्री का बहुधा आवागमन हुआ करता था । उस पर तो उन लोगों ने और भी अधिक चिपकाये थे ।

आचार्यश्री ने जब यह देखा तो कहने लगे—तारकोल की सड़क पर पैर कासे हो जाया करते हैं; परंतु आज कुछ बचाव हो जायेगा ।

जेब नहीं है

धादिवासी लोगों में प्रवचन करने के पश्चात् आचार्यश्री अपने किसी दूसरे कार्य में व्यस्त थे । कुछ लोग उनके सामने बैठे हुए थे । एक भील बालक धाया और आचार्यश्री से कहने लगा—मुझे मद्यमास का परित्याग करवा दीजिये । आचार्यश्री ने परित्याग करवा दिया और फिर कार्य में लग गये । वह भी अरण्यस्पर्श करके एक घोर बैठ गया । घोड़ी देख

देते हुए कहा एक पदो गिती है; बिम मन्वन की हो; बद् विद्
 बाहर बायालय मे डमे मे ले ।

वह बँठ भी नहीं पाया था कि भाषार्थी ने कहा—मैंने जो धा
 सोणां में एक पदो (गमन-विशेष) शोई है; देखो; बौन-बौन उने बात
 सा देते हैं ।

हेमी का वह कहतहा गया कि पम्डान में काफी देर तक एक नु
 सगीत की-नी भजार द्वापी रही ।

पर्दा-समर्थकों को राभ

मरलपुर में बिहार कर भाषार्थी पुलिन-बोही पर पयारे । ज
 निकट की एक बाटिका में टहरे । वहाँ एक युवा पर मधुमत्सियों ।
 द्यता था । भोजन पकाने के लिए जवाबी मई भाग का बुंझा सवोपवय
 वहाँ तक पहुँच गया । उमगे क़ुट हुई मधुमत्सियों ने बहुत मे ना
 बहिनों को बाट लिया । उग कागड में पदों वाली बहिनें साफ़ बच रई

भाषार्थी को जब इस बात का पता चना तो हँसते हुए कह
 लगे—चलो ! पर्दा-समर्थक व्यक्ति उमगी एक उपरोमिता प्रर निदि
 बाउ बता मकेने ।

वक्तृत्व

भाचार्यश्री की अन्य अनेक प्रबल शक्तियों में से एक है उनकी वक्तृत्व-शक्ति । किस व्यक्ति को कौन-सी बात किस प्रकार से कही जानी चाहिए, यह वे बहुत अच्छी तरह से जानते हैं । विद्वानों की सभा में जहाँ वे अपनी प्रबल विद्वत्ता की छाप छोड़ते हैं; वहाँ ग्रामीणों पर उनके उपयुक्त सहज और सुबोध बातों की । उनके उपदेशों से सहस्रो जन मद्य, मांस भाग, तम्बाकू तथा अपमिश्रण आदि अनैतिकताओं से विमुक्त हुए । अनेक बार ग्रामों में ऐसे दृश्य भी उपस्थित होते रहते हैं, जबकि वर्षों तक मद्य तथा तम्बाकू पीने वाले व्यक्ति भाचार्यश्री के सामने अपनी चिलमें फोड़ देते हैं तथा अपने पास की बीटियों का चुरा करके फेंक देते हैं ।

बाणी का प्रभाव

डा० राजेन्द्रप्रसाद जब २१ अक्तूबर ४६ में भाचार्यश्री मिले थे; तब उनकी वाणी से इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने अपने एक पत्र में उसका उल्लेख करते हुए लिखा है :

“उस दिन आपके दर्शन पाकर बहुत अनुग्रहीत हुआ । इस देश में ऐसी परम्परा बली आई है कि घमोपदेशक धर्म का ज्ञान और आचरण जनता को बहुत करके मौखिक ही दिया करते हैं । जो विद्याध्ययन कर सकते हैं; वे तो ग्रन्थों का सहारा ले सकते हैं; पर कोटि-बोटि साधारण जनता उस मौखिक प्रचार से लाभ उठाकर धर्म-कर्म सीखती है । इस-लिए जिस सहज-सुलभ रीति से आप सूद तत्त्वों का प्रचार करते हैं; उन्हें सुनकर मैं बहुत प्रभावित हुआ और आशा करता हूँ कि इस तरह का शुभ अवसर मुझे फिर मिलेगा ।”

उनकी आत्मा बोल रही है

भाचार्यश्री साधारण जीवनोपयोगी बातों पर प्रभावशाली ढंग

से बोलते हों; सो बात नहीं। वे जिस विषय पर भी बोलते हैं; उसी में इतनी सजीवता ला देते हैं कि उन विषयों से विशेष सम्बद्ध न होने वाले व्यक्ति भी प्रभावित होते देले जाते हैं।

वि०स० २००८ दिल्ली में भिक्षु-चरमोत्सव के भवसर पर अजमेर के भूतपूर्व मुख्यमंत्री हरिभाऊ उपाध्याय उसमें सम्मिलित हुए। आचार्यश्री ने स्वामी भीखणजी के विषय में जो भाषण दिया उससे वे इतने प्रभावित हुए कि अपने स्थान पर जाकर उन्होंने एक पत्र भेजा। आचार्यश्री की वक्तृत्व-शक्ति पर प्रकाश डालने वाला वह पत्र इस प्रकार है :

“महामान्य श्री आचार्यजी,

सादर प्रणाम। दुधर तीन दिनों से आपके दर्शन और संस्मरण का जो भवसर मिला; वह मुझे सदैव याद रहेगा। मुझे बड़ा रोद है कि आज कुछ मित्रों के अनुरोध करने पर भी मैं वहाँ कुछ बोल न सका। इधर मेरी प्रवृत्ति बोलने की कम होती जा रही है, लिखने की भी। ऐसा लगने लगा है कि मनुष्य को अपने जीवन से ही लोगों को अधिक देना चाहिए; जिससे हमें अपने जीवन को माँजते रहने का अवसर मिले।

पूज्य स्वामी भिक्षुजी का चरित्र और भाषण आज का तत्त्वविषयक व्याख्यान मुझे बहुत प्रभावकारी मालूम हुआ। ऐसा लगा, मानो उनकी आत्मा आप में बोल रही है। आप अपने क्षेत्र के 'युग-गुरु' हैं। जैन धर्म को मैं मानवधर्म मानता हूँ। उसके आप प्रतीक बनेंगे; ऐसा विश्वास है। मैं दिव्यी फिर धाड़ेंगा तब अवश्य मिलूंगा। आप अपने इस जीवन-कार्य में मुझे अपना मङ्गयोगी समझ सकते हैं। इति

विनीत

हरिभाऊ उपाध्याय”

विधिघ

आचार्यश्री का जीवन विधिघना के लाने-बाने में बना है। उसकी

महत्ता घटनाओं में बिलखी पड़ी है। घटनाएँ भी इतनी कि समेटे नहीं सिमटती। आदि से ही विविधता उनके जीवन का प्रमुख-मूल बनकर रही है, इसीलिए उनके जीवन से सम्बन्धित घटनाओं के सकलन में भी उसकी अभिव्यक्ति हुई है।

मैं अदस्था में छोटा हूँ

मध्याह्न में एक किसान आया और आचार्यश्री के पास बैठ गया। आचार्यश्री ने उससे बातचीत की तो उसने बतलाया—मैं खेत पर काम कर रहा था तब मुना कि गाँव में एक बड़े महात्मा आये हैं। मैंने सोचा—बखूँ, कुछ सेवा-धन्दा कर आऊँ। किसान ने आचार्यश्री के पैरों की ओर हाथ बढ़ाते हुए कहा—लाइये, थोड़ा-सा धरण दबा दू।

आचार्यश्री ने अपनी पलथी को ओर अधिक समेटते हुए कहा—नहीं भाई! हम किसी से शारीरिक सेवा नहीं लेते।

किसान ने कहा—घ्राप क्यों नहीं दबवाते? मैंने तो अनेक मन्त्रों के पैर दबाये हैं।

आचार्यश्री ने कहा—यह हमारा नियम है। दूरगरी बान यह भी है कि मेरी अवस्था तुम्हारे से छोटी है। मैं तुम्हारे पैर बँने दबवा सकता हूँ? मेरे पैर दुसरे भी नहीं। मुवा हूँ, तब पैर दबवाऊँ ही क्यों?

मध्यम मार्ग

विहार में एक ग्राम के लोगों ने जब यह सुना कि घाज ग्राम आचार्यश्री तुलसी पारबंवा जी० टी० रोड में होकर गुजरेंगे, तो वे लोग बाफी पहने से ही दूध के लोटे भर-भर कर वहाँ से आये। बाफी देर बाट देगने पर जब आचार्यश्री वहाँ पहुँचे तो उन्होंने अपनी भेंट आचार्यश्री के सामने रखी। आचार्यश्री सामने लायी गई बम्बु न सेने के नियम में बँधे थे और वे लोग अपनी थडा की कृतापंता पाटते थे।

अनेक बार समझाने पर भी जब वे नहीं माने तो माय में खनने

वाने भाई शीतारामजी ने एक बीज का साने निराला बना । उन्होंने उन सब से कहा कि जब मडाग्यत्री का यह निराल है तो तुम उनके सा साने वाने भानां को ही यह दूध बना नही निराल देने ? इतना दूध घनेमा तो वाई वो नही मरगा, गारी जमान को निराले के निराले ही तो साने हो ?

यह बात उनके रिमाण में बंट गई और बड़ा घाघह कर-करके उन्होंने सांगां का दूध निराला । उग मध्यम मार्ग ने साचार्यधी का कुछ समय बना दिया, नही तो उन्हें गममाने में काही समय मगाना पटना ।

फीस और पद

एक नाई ने साचार्यधी से कहा—ऐने तो मेरी सलां के कोई विनेय थदा नही रहती, किन्तु इम बार कुछ ऐसी भावना बापी कि प्रतिदिन तीनों समय धाला रहा हू । मुझे धारके मय की दो बातों ने विनेय घाघहृ किया है । एक तो सदस्यता की कोई फीस नही है; दूसरे, पदों का मगडा नही है ।

साचार्यधी ने उसकी भागा के विपरीत कहा—तुमने सम्भवत-गहराई से ध्यान नही दिया । यहाँ तो फीस भी लगती है और पद भी दिया जाता है ।

यह भाई कुछ समजस में पडा और पूछने लगा—कहाँ ? मेरे देखने में तो कोई ऐसी बात नही घाई ।

साचार्यधी—घब तक नही घाई होगी; पर तो घब लाये देना हूँ कि हम अपने सम्पर्क में साने बाने व्यक्ति में संयम की फीस लेना चाहते हैं और मणुवती का पद देना चाहते हैं । क्यों है न स्वीकार ?

और तब उस भाई को न फीस की साकायन हुई, न पद की । उसने सहर्ष फीस भी दी और पद भी लिया ।

चरणामृत मिले तो

एक व्यक्ति अपने मानजे को लेकर घाया । वह अपने साथ समज

का पात्र तथा चाँदी की बटोरी भी लाया था। आचार्यश्री को बन्दन कर वह बोला—महाराज ! यह मेरा भानजा है। इसका दिमाग कुछ अस्वस्थ है। कुछ समय पूर्व एक मुनि आये थे। मैंने उनका अगुष्ठ धोकर इन्हे चरणामृत पिलाया था। तब से यह कुछ-कुछ स्वस्थ हुआ है; परन्तु रोग पूर्ण रूप से गया नहीं। मैंने सोचा—इस बार यदि आपका चरणामृत पिला दू तो यह अवश्य ही पूर्ण स्वस्थ हो जायेगा।

आचार्यश्री ने कहा—मैं अपना अगुष्ठ नहीं घुनवाऊँगा। अगुष्ठ धोये पानी से रोग में कुछ लाभ होता है, इसका मुझे तनिक भी विश्वास नहीं। मैं इसे एक अन्धविश्वास मानता हूँ। आप इसे चरणस्पर्श करा सकते हैं; उसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं। उसमें अधिक कुछ नहीं।

उस भाई ने अपने भानजे को आचार्यश्री का चरणस्पर्श करवाया और बड़ी प्रमत्नता से अपने घर लौट गया।

छोटे का बड़ा काम

आचार्यश्री की सेवा में आये हुए एक परिवार की मोटर के पीछे बंधी हुई कपड़ों की गठरी मार्ग में गिर गई। उसमें लगभग पाँचसौ रुपये का कपड़ा था। पीछे से एक तगि वाले ने उसे गिरते देखा तो मोटर के नम्बर से लिये। गठरी लेकर खोजता हुआ वह वहाँ पहुँचा, जहाँ कि आचार्यश्री की सेवा में आये हुये अनेक परिवार ठहरे हुये थे। इमने वहाँ लोगों को बतलाया कि अमुक नम्बर की मोटर वाले की यह गठरी है। पूछताछ के बाद पता चलते ही गठरी यथा-स्थान पहुँचा दी गई।

कोई भाई उसे आचार्यश्री के पास ले आया। आचार्यश्री ने मारी पटना मुत्तवर परिचय के रूप में उसमें उमरा नाम पूछा। उमने अपना नाम 'छोटा' बतलाया। इस पर आचार्यश्री ने सत्यनिष्ठा के प्रति उमरा उम्माह बढाने हुए कहा—छोटे ने बड़ा काम किया है। जनता की ओर उम्मुग होने हुए उन्होंने कहा—इस पटना से पता चलता है कि भार-

उपसंहार

आचार्यश्री विद्वय की एक विभूति हैं। उनका जीवन व्यक्तिगत से बढ़कर समष्टिगत है। उन्होंने अपने व्यक्तित्व से समष्टि को प्रभावित किया है। जो केवल अपने में ही समाकर रह जाता है; वह विद्वान् तो हो सकता है; पर महान् नहीं। महत्ता को इयत्ता के किसी भी बलय में घेरा नहीं जा सकता। उन्मुक्त परिध्याप्ति ही उसकी सार्थकता है। यद्यपि महत्ता के मार्ग में इयत्ताएं आती हैं; परन्तु उनका घेरा हर बार टूटता है। कौन कितना महान् है यह परिमाण इयत्ताओं की ही अपेक्षा से होता है। निरपेक्ष महत्ता सदा अतुलनीय ही रही है। सत्कार के हर महापुरुष की गति उसी निरपेक्ष महत्ता की ओर रही है, इसीलिये हर इयत्ता के साथ उनका सर्वत्र संपर्क चालू रहा है।

आचार्यश्री ने इयत्ताओं के अनेक बलय तोड़े हैं। वर्तमान इयत्ता से भी उनका संपर्क चालू है। आज नहीं तो कल; यह बलय अवश्य ही टूटने वाला है। चरमरा तो वह अभी से रहा है। भविष्य के गर्भ में न जाने कितने क्षय और है तथा उनके साम होने वाला भावी संपर्क समय की कितनी अवधि घेरेगा; कहा नहीं जा सकता। आज उसकी आवश्यकता भी नहीं है, वह 'कल' की बात है। 'कल' ही उसे अधिक स्पष्टता से बतलावेगा। यहाँ केवल आचार्यश्री के वर्तमान का दिग्-दर्शन कराया गया है। वर्तमान की जड़ भूतकाल की भूमि में गहराई तक घेंनी रहती है। कौरा वर्तमान टिक नहीं पाता; इसीलिये उसमें सम्बन्धित भूतकाल की भूमिका पर ही उसे देखा जा सकता है। आचार्यश्री का वर्तमान-काल अवस्था की दृष्टि से ४७ और आचार्यत्व की दृष्टि से २५ वर्ष-

प्रमाण भूतान्त की घबराहट बिने सदा है। उमी परिश्रम में घटी उमका भवन किया गया है।

समभग ३० वर्ष के प्रस्था-गमन में मैंने आचार्यश्री के जीवन में जो विविधताएं देखी हैं, उन्हें इन जीवन में यथार्थान् दिग्गने का प्रयास किया है। यदि उन विवेकताओं को सिमी एक ही शब्द में अभिव्यक्ति देने के लिये मुझे कहा जाये तो मैं उने 'जीवन का स्वादवाद' कहना चाहूंगा। आचार्यश्री के इन स्वादवादी जीवन का प्रत्यक्ष दर्शन उनके साथ रहने वाला हर कोई कर सकता है। जैन दर्शन का प्राण स्वादवाद जिस प्रकार परस्पर विरुद्ध दिग्गई देने वाले घमों में भी अविरोध पा लेता है; उसी प्रकार आचार्यश्री भी हर परिस्थिति में मे समन्वय के सूत्र को पकड़ने के अभ्यासी रहे हैं। उनकी इन प्रवृत्ति ने प्रत्येक व्यक्तियों को प्रतिगमना मे प्रभाविन किया है। सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमारजी के निम्नोक्त उद्गार इसी बात के साक्षी हैं। वे कहते हैं—“ मैंने बहुत नजदीक से अव्ययन करके पाया है कि आचार्यश्री में बहुत से अपूर्व गुण हैं। वे विरोधी से विरोधी वातावरण में भी क्षुब्ध नहीं होने और न विरोध का प्रतिकार विरोध से ही करते हैं। वे अपनी आत्म-शुद्धा से विरोध-शमन का कोई न कोई रास्ता निकाल ही लेते हैं।”^१

आचार्यश्री के जीवन-व्यवहार तथा प्ररूपण में कुछ ऐसी सहन व्यावहारिकता आ गई है कि उससे प्रभावित हुये बिना रह सकना कठिन है। कोई अप्यात्म मे विश्वास करे या न करे; परन्तु आचार्यश्री जिस पद्धति से आध्यात्मिकता को जीवन-व्यवहार में उतारने की प्रेरणा देने हैं; उससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। सुप्रसिद्ध उपन्यासकार कामरेड यशपाल का अनुभव इस बात को अधिक स्पष्ट करने वाला होगा।

१. यह उल्लेख वि० सं० २०१८ का है

२. नवभारत टाइम्स ३१ अक्टूबर १९६४

वे कहते हैं - "मैं साधु-सतों और अध्यात्म से दूर रहता हूँ। इसमें भी एक कारण है; मैंने देखा है वे समाज से दूर हैं। जो हम से दूर हैं, हम भी उनसे दूर हैं। आचार्यश्री जैसे जो सत महात्मा समाज के नजदीक हैं, उनसे उतना ही नजदीक हूँ। हम ससारी हैं, ससार में रहते हैं, ससार में हमें काम है। साधना चमत्कार के लिए नहीं, कार्यों के लिए है। जहाँ एक मैं समझ पाया हूँ और आचार्यश्री के निकट धा गया हूँ, उसका श्रेय अणुव्रत-मान्दोलन को है। अणुव्रत मेरी दृष्टि में व्यक्ति को परोक्षवादी ही; प्रत्यक्षवादी बनाता है। वह स्वार्थमुखी नहीं, व्यक्ति को समाज मुखी बनाता है।"

वे जीवन को जड़ देखना नहीं चाहते। जीवन में परिवार और तस्वार को वे नितान्त आवश्यक मानते हैं। उनकी यही भावना कार्यरूप में परिणत होकर संस्कृति का उन्नयन करने वाली बन गई। भारतीय संस्कृति के अन्यान्य प्रहरियों के ध्यान आचार्यश्री भी उनको पल्लवित पुष्पित व फलित करने में दत्तावधान रहे हैं। उनकी इसी कार्य-पद्धति से प्रभावित होकर सुप्रसिद्ध कवि स्वर्गीय श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने अपनी कविता-मुक्तक 'क्वासि' की भूमिका में आचार्यश्री को संस्कृति का उन्नयनकर्ता या परिष्कर्ता ही नहीं, अपितु अभेदोपचार से स्वयं संस्कृति ही कहा है। वे लिखते हैं—“तब संस्कृति क्या है? मेरी मति के अनुसार संस्कृति गांधी है, संस्कृति विनोबा है, संस्कृति कबीर, तुलसी, सूर, ज्ञान देव, समर्थतुकाराम है, संस्कृति अणुव्रत-प्रचारक जैन-मुनि आचार्य तुलसी है। संस्कृति रमण महर्षि हैं। आप हंसोंगे, पर हंसने की बात नहीं है। संस्कृति है आत्म-विजय, संस्कृति है राग वशीकरण, संस्कृति है भाव उदात्तीकरण। जो साहित्य मानव को इस ओर ले जाये; वही सत्साहित्य है।”

१. जैन भारती वर्ष ६, अ० ४१

२. 'क्वासि' की भूमिका, पृ० २४

इस प्रकार मिले देगा है कि भाचार्यों के स्याद्वारी जीवन ने विविध व्यक्तियों तथा विविध विचारधाराओं को अपनी ओर आकृष्ट किया है। वे उनकी पारम्परिक सम्माननाओं में भी समानता के आधार बने हैं। उन्होंने जन-जन को विश्वास दिया है, अतः वे उनमें विश्वास पाने के भी अधिकारी बने हैं। बन्धुन, जो किनेने व्यक्तियों को विश्वास दे सकता है; वह उतने ही व्यक्तियों का विश्वास वा भी लेता है। उन्होंने निश्चित ही यह विश्वास पाया है। यह जीवनी उमी विश्वास का एक सक्षिप्त परिचय है।



प्रथम परिशिष्ट

धवल-समारोह

सम्मान से अधिक मूल्यवान्

कोई भी महापुरुष जनहित का कार्य सम्मान या पुरस्कार की प्राप्ति के लिए नहीं करता, फिर भी उससे उन्हें वे घनायास ही प्राप्त होने रहते हैं। यद्यपि उनके कार्यों का महत्त्व उस प्राप्त सम्मान की बसोटी से नहीं परखा जा सकता, उनका मूल्य तो उन सबसे बहुत अधिक होता है, फिर भी कभी-कभी किसी-किसी के लिए सम्मानों की गुरना घबघा व्यापकता भी व्यक्त की महत्ता को समझने में सहायक होती पायी गई है।

असह्य धारा

आचार्यश्री ने जन-हितार्थ अपना जीवन समर्पित किया है। उससे उन्हें न सम्मानों की अपेक्षा रही है और न अभिनन्दना की। फिर भी उन्हें जन माधारण से अपरिमेय सम्मान मिला है। वे जहाँ भी गये हैं, प्रायः सर्वत्र उनके कार्यों को अभिनन्दनीय प्रशंसा प्राप्त हुई है। भारत के मनीषियों ने उन्हें बड़ी धारा भरी दृष्टि में देखा है। नव-नामदा महाविहार (पानि इन्स्टीट्यूट) के ट्रायरेक्टर डा० मनहरि मुखर्जी डा० इन्स्टीट्यूट की ओर से आचार्यश्री के अभिनन्दन में पट्टन पत्र के वे अग्र दम विषय में बड़े ध्यान देने योग्य हैं। वे कहते हैं—“न तो पूर्वज महापुरुषों का भारत-भूमि में अवनय ही निष्कल हा लगता है और न वहाँ का अन्तिम परिणाम जनन”। इसमें प्रशंसा है—अप्य जीने

व्यक्तियों का भारत-भूमि में प्रचलन ।”

‘रजत’ बनाम ‘धवल’

आचार्यश्री का कार्य-क्षेत्र इतना व्यापक है कि उनमें उनका व्यक्तित्व सम्प्रदायानीत-रूप में निगार वा घुसा है। यद्यपि वे एक सम्प्रदाय के आचार्य हैं, फिर भी उनका आचार्य-काल सम्पूर्ण मानव-जाति के हि में संपना रहा है। जनना उनके चारों ओर घिरती रही है और उनके प्रेरणा-स्रोत बनते रहे हैं। इसी प्रक्रिया का फल था कि आचार्यश्री के आचार्य-काल को पञ्चम वष सम्पन्न होने वाले थे, तब सावंजनित रूप से उनकी रजत-जयन्ती मनाने का विचार लोगों के मन में उठा।

‘रजत’ शब्द भौतिक वैभव का चोकर है, इसलिए ‘धवल’ शब्द को उसका तथा आचार्यश्री के कार्यों का भाव-बोधक मानकर उसके स्थान पर स्वीकार किया गया। ‘रजत-जयन्ती’ के स्थान पर ‘धवल-समारोह’ शब्द का प्रयोग अधिक सात्त्विक तथा भाव-गाम्भीर्य युक्त है। इसदिशा में एक नई परम्परा का प्रारम्भ तो यह है ही।

‘धवल-समारोह-समिति

धवल-समारोह के विचारों को कार्य का रूप देने के लिए एक ‘धवल-समारोह-समिति’ का गठन किया गया। उसके पदाधिकारी निम्नोक्त व्यक्ति थे :

उ० न० डेवर, प्र० भा० कांश्रेंसकमेटी के भूतपूर्व अध्यक्ष अध्यक्ष
डा० सम्पूर्णानन्द, उत्तरप्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री उपाध्यक्ष
वाइ० बी० चह्वाण, महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री उपाध्यक्ष

१. नहि पूर्वतनानां महापुरुषाणां भारत-भूमौ जननं निष्कलं भवितुं महति । न वा विनिपात एव धार्यान्तिकः परिणामो भवेत् । तत्र च प्रमाण भवाद्दशानां भारत-वसुन्धरायां क्रियासमभिहारेणादिर्भावः ।

— जैन भारती, २५ जनवरी १९५६

| | |
|--|-----------|
| मोहनलाल मुखाड़िया, राजस्थान के मुख्यमन्त्री | उपाध्यक्ष |
| श्री० जी० जती मैसूर के मुख्यमन्त्री | उपाध्यक्ष |
| श्रीमन्नारायण, योजना-आयोग के सदस्य | सयोजक |
| श्वरमल भडारी जैन श्वे० थेरापथी महासभा के अध्यक्ष | सह-सयोजक |
| गुणचन्द आंचलिया, | |
| श्री० भा० अणुव्रत समिति के भूतपूर्व अध्यक्ष | सह-सयोजक |
| गिरधारीलाल जैन, | |
| दिल्ली जैन श्वे० थेरापथी सभा के अध्यक्ष | उपाध्यक्ष |

तीन कार्य

धवल-समारोह-योजना की कार्य-परिणति में मुख्यत तीन कार्य प्प्राप्त थे :

- (१) धवल-समारोह,
- (२) अभिनन्दन-ग्रन्थ,
- (३) आचार्य श्री की कृतियों का सम्यक् संपादन ।

ध्वित-पूजा या आदर्शपूजा

धवल-समारोह स्थूल रूप में यद्यपि आचार्यश्री के सम्मान में आयोजित था, परन्तु अन्तरंग में वह उनकी लोकोपकारक प्रश्रितियों का सम्मान था । पर्यायान्त में वह अध्यात्म का सम्मान था । इसी विचार में आचार्य श्री को इस समारोह की स्वीकृति के लिए बाध्य कर दिया था । इस विषय में उनके अपने शब्द ये हैं—“अध्यात्म का अभिनन्दन अध्यात्म की गति का प्रेरक बन सकता है, इसी तर्क से बाध्य हो बहुत सजोच को धीरज्जर पुके इन अभिनन्दन में उपस्थित होने व उसे स्वीकार करने की अनुमति देनी पड़ी ।”

गहा जा सकता है कि उपर्युक्त कथन केवल औपचारिक है ।

मूलतः ऐसे समारोहों से आदर्श-पूजा के स्थान पर व्यक्ति-पूजा को ही प्रथम मिलता है। इसका सहज उत्तर यही हो सकता है कि आज तक के इतिहास में कोई भी ऐसी आदर्श-पूजा उपलब्ध नहीं होती; जिसमें व्यक्ति को माध्यम नहीं बनाया गया हो। प्रत्येक आदर्श किसी-न-किसी की तपोभूमि में फलित होकर ही जनप्राप्त बना करता है। इसलिए आदर्श की ओर प्रेरित करने वाले किसी व्यक्ति को यदि हम श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं तो वह उपयुक्त ही है।

नवभारत टाइम्स के सम्पादक श्री मन्मथकुमार जैन इसी बात को यों कहते हैं—“सामान्यतः आज का युग व्यक्ति-पूजा का नहीं रहा है, पर आदर्शों की पूजा के लिए भी हमें व्यक्ति को ही खोजना पड़ता है। ग्रहिसा, सत्य व सयम की अर्चा के लिए भगुवत-मान्दोलन-प्रवर्धक आचार्यश्री तुलसी मयार्य प्रतीक हैं। वे भगुवतो की शिक्षा देते हैं और महाव्रतो पर स्वयं चलते हैं।”

मुप्रसिद्ध सर्वोदयी नेता श्री जयप्रकाश नारायण कहते हैं—“भारत-वर्ष में सदा ही त्याग और सयम का अभिनन्दन होना रहा है। आचार्य श्री तुलसी स्वयं ग्रहिसा व अपरिव्रह की भूमि पर हैं और समाज को भी वे इन आदर्शों की ओर मोड़ना चाहते हैं। सामान्यतया लोग सारा ही पूजा किया करते हैं। इन प्रकार सेवा के क्षेत्र में चलने वाले लोगो का अभिनन्दन समाज करनी रही तो सत्ता और अर्थ जीवन पर हानी नहीं होगे।”

उपर्युक्त सभी उद्धरण मीने इसलिए दिये हैं कि आचार्यश्री के अभिनन्दन को श्रद्धानिरेक में उनका सिध्य-वर्ग ही नहीं, अतिसु समाज के विचारक व्यक्ति भी आदर्श-पूजा का प्रतीक मानते हैं।

१. आचार्य श्री तुलसी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, प्रथम्य मगादक की ओर से
२. आचार्य श्री तुलसी अभिनन्दन-ग्रन्थ, मगादकीव

दो चरण

आचार्यश्री के जनोत्थानकारी कार्यों को श्रद्धांजलि अर्पित करने का जब निश्चय किया गया, तब यह विचार सामने आया कि समारोह को दो चरणों में मनाया जाना चाहिए। प्रथम चरण भाद्रपद शुक्ला नवमी को मनाया जाए; जो कि आचार्यश्री के पदारोहण का मूल दिन है और दूसरा चरण शीतकाल में किसी निर्धारित दिन पर मनाया जाए, ताकि सुदूरवर्ती क्षेत्रों में विहार करने वाले अविकाश भुविजन भी उसमें सम्मिलित हो सकें। विचार-विमर्श के पश्चात् समारोह को दो चरणों में मनाने का निश्चय हुआ।

प्रथम चरण

धवल-समारोह का प्रथम चरण बीदासर में मनाया गया। उस अवसर पर सहस्रो की सख्या में जनता ने उपस्थित होकर आचार्यश्री का अभिनन्दन किया। उसके अतिरिक्त केन्द्रीय विद्युत्-उपमन्त्री श्री जयसुखलाल हाथी, बीकानेर महाराजा श्री करणीसिंह, पंजाब के सिचाई व विद्युत्-मन्त्री सरदार भानुसिंह राड़ेवाला, उत्तरप्रदेश-विधान-सभा के उपाध्यक्ष रामनारायण त्रिपाठी, उत्तरप्रदेश के भूतपूर्व मन्त्री लक्ष्मीरमण आचार्य, सुप्रसिद्ध समाजसेवी डा० युद्धवीरसिंह, उपन्यास-लेखक कामरेड यशपाल तथा कवि रामनाथ 'भुवन' आदि ने भी उनके अभिनन्दन में प्रमुख रूप से भाग लिया।

द्वितीय चरण

धवल-समारोह का मुख्य आयोजन द्वितीय चरण में ही रखा गया था। उस अवसर पर जो स्वागत-समिति का गठन किया गया, उसमें राजस्थान के मुख्यमन्त्री श्री मोहनलाल मुखार्डिया स्वागताध्यक्ष थे। समारोह के लिए खोपड़ा हाईस्कूल के मैदान में पण्डाल बनाया गया था। वह स्थान विद्यालय तो था ही, मौके पर भी था। बीकानेर के सान्निध्य

तया दोनों घोर मडकों के कारण जनता के आशागमन के लिए भी कारी अनुपलब्ध था। उपस्थित होने वाले मित्राल जनमधुर की मुख्यवर्षा के लिए वहाँ स्वयंसेवक दल का प्रबन्ध किया गया था।

भूतपूर्व कविम धरणा श्री उ० न० देवर की अध्यक्षता में वह समारोह किया गया था। मन्गलीन उपराष्ट्रपति (वर्तमान राष्ट्रपति) डॉ० राधाकृष्णन् आदि देश के अनेक गन्धमान्य नेता, साहित्यकार और पत्रकार उसमें सम्मिलित होने और आचार्यश्री को यद्वाञ्छित शक्ति करने को एकत्रित हुए थे। जनता की तो आशा भीड़ थी ही।

ग्रन्थ-समर्पण

आचार्यश्री को उगी समारोह में डॉ० राधाकृष्णन् द्वारा 'आचार्यधर्म तुलसी-अभिनन्दन-ग्रन्थ' समर्पित किया जाना था। मंगलाचरण, स्वागत भाषण आदि के पश्चात् अभिनन्दन-ग्रन्थ के सम्पादक-मण्डल की ओर से जननेता जयप्रकाश बाबू ने आचार्यश्री का अभिनन्दन करते हुए ग्रन्थ समर्पण के लिए उपराष्ट्रपति को निवेदन किया। उन्होंने कहा— "आज हम सब आचार्यश्री के धवल-समारोह में सम्मिलित हुए हैं। इस अवसर पर आचार्यश्री को मानने वालों में मैं भी अपने आपको मानत हूँ। मैंने अपना एक ही मत स्थिर किया है और वह है—मानव-धर्म मुझे जहाँ-जहाँ मानवता के दर्शन हुए हैं; मैं वहाँ भुका हूँ। आचार्यधर्म में भी मैंने मानवता का साक्षात् रूप पाया है। मैं संपादक-मण्डल के ओर से आचार्यश्री का धवल-अभिनन्दन करता हूँ और माननीय उपराष्ट्रपतिजी से निवेदन करता हूँ कि अब वे अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करें।"

उपराष्ट्रपति ने ग्रन्थ भेंट करने से पूर्व अपने भाषण में कहा— "राजनीतिक नेताओं और राजे-रजवाड़ों को अभिनन्दन-ग्रन्थ भेंट करने की पुरानी परम्परा रही है, पर किसी राष्ट्र-संत का अभिनन्दन यह एक

नया मूत्रपात है। मैं अपने आपको सौभाग्यशाली मानता हूँ कि राष्ट्र-सत्त का अभिनन्दन मैं कर रहा हूँ।”

अपने भाषण की सम्पन्नता के पश्चात् उपराष्ट्रपति ने मंच पर खड़े होकर बड़े ही आदर और विनम्रभावों के साथ आचार्यश्री के कर-बमलों में अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया। मंच पर बैठे सभी आगन्तुक उस समय आदर व भक्ति व्यक्त करने के लिए खड़े हो गए थे। सामने समुद्र की तरह लहराता हुआ जन-समूह उस दृश्य की रमणीयता में अपने आपको विस्मृत किये हुए तल्लीनता से देख रहा था। उस समर्पण के क्षण को हर कोई कीर्तिपूर्वकः आत्मसात् कर लेने को आतुर थी। वस्तुतः वह एक अभूतपूर्व दृश्य था।

अभिनन्दन-ग्रन्थ

अभिनन्दन-ग्रन्थ की सामग्री आचार्यश्री की गरिमा के अनुरूप है। वह विशाल ग्रन्थ लगभग आठसौ पृष्ठों का है। सामग्री-चयन में यह ध्यान रखा गया है कि वह एक प्रशस्तिग्रन्थ ही न रहे; अपितु दर्शन और जीवन-व्यवहार का एक सर्वाङ्गीण शास्त्र बन जाए। उसके चारों अध्याय अपनी पृथक्-पृथक् मौलिकता लिये हुए हैं।

प्रथम अध्याय श्रद्धाव्रति और स्मरण-प्रधान है। साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक प्रभाव-क्षेत्र होता है और उससे उसे यथा-समय श्रद्धा भी प्राप्त होती है; परन्तु सबका प्रभाव-क्षेत्र समान नहीं होता। किसी का प्रभाव-क्षेत्र केवल अपना घर ही होना है तो किसी का सम्पूर्ण राष्ट्र अथवा विश्व। अध्यात्म और नैतिकता के उन्नायक होने के कारण आचार्यश्री का व्यक्तित्व सर्वश्रेष्ठ बन गया है और वह इस अध्याय में निर्विवाद अभिव्यक्त होना है। देश और विदेश के विभिन्न व्यक्तियों ने उनके प्रति जो उद्गार व्यक्त किये हैं; वे उनके व्यक्तित्व पर गहरा प्रभाव डालते हैं।

द्वितीय अध्याय में उनका जीवन-वृत्त है । हर एक महापुरुष का जीवन-वृत्त प्रेरणादायी होता है, फिर आचार्यश्री ने तो अपने समय जीवन को अहिंसा और सत्य के लिये समर्पित किया है । सर्व-साधारण के लिए वह एक दीप-स्तम्भ का कार्य करने वाला कहा जा सकता है ।

तृतीय अध्याय में असुव्रतों की भावना पर प्रकाश डाला गया है । विभिन्न लेखकों ने समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान और अर्थशास्त्र के आधार पर विभिन्न पहलुओं से समाज की नैतिक आवश्यकता पर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयत्न किया है । यह अध्याय एक प्रकार से संक्षिप्त नैतिक दर्शन कहा जा सकता है ।

चतुर्थ अध्याय का विषय है—दर्शन और परम्परा । इस अध्याय के शोधपूर्ण लेख, बड़ी महत्त्वपूर्ण सामग्री उपस्थित करने हैं । यद्यपि इस अध्याय के अधिकांश लेख जैन-दर्शन से संबद्ध हैं; फिर भी वे तुलनात्मक अध्ययन करने वालों के लिये जैन-दर्शन-सम्बन्धी विभिन्न जानकारी प्राप्त करने में बहुत उपयोगी हो सकते हैं ।

सम्पादक-मण्डल

ग्रन्थ के प्रबन्ध-सम्पादक के कथनानुसार इस ग्रन्थ का संपादन, सम्पादन और प्रकाशन केवल छह महीने में ही सम्पन्न हो गया । यह आश्चर्य ही कहा जा सकता है । सम्पादक-मण्डल का कार्य-बीजान इन त्वरा में सम्भवतः मुख्य कारण रहा हो । सम्पादक-मण्डल के सदस्य निम्नोक्त व्यक्ति थे—

श्री जयप्रकाश नारायण
श्री नरहरि विष्णु गाडगिल
श्री के० एम० मुन्शी
श्री हरिभाद्र उपाध्याय
श्री मुकुट बिहारी वर्मा
श्री अक्षयकुमार जैन

मुनि श्री नगराजजी
श्री मैथिलीशरण गुप्त
श्री एन० के० मिश्रान्न
श्री जैनेन्द्रकुमार
श्री जबरमन भट्टारी
श्री मोहनलाल बट्टीगिवा (व्यव०)

मुनिश्री नगराजजी का परिधम लो इतने आद्योपान तब महान रूपने था ही । श्रीजयप्रकाश नारायण ने इस बात को इन वादों में व्यक्त किया है—“ग्रन्थ सम्पादन की शालीनता का सारा श्रेय मुनिश्री नगराजजी को है । साहित्य और दर्शन उनका विषय है । वे सम्पादन मण्डल में अपना नाम इसीलिए दे पाया कि वह काय उनकी देय रत्न में होना है ।”

आचार्य श्री का उत्तर

आचार्य श्री ने हम अभिनन्दन को अपना ता नश्री माना, फिर भी जनना ने उन्हीं का अभिनन्दन किया था, धन उगका उनका इन हुए उन्हींने कहा—“अध्यात्म से भिन्न मेरा अस्तित्व नहीं है । इसीलिए लोग सोचते हैं कि मेरा अभिनन्दन हो रहा है । मर लिए अत्यात्म ही सब कुछ है । इसलिए मैं सोचना हूँ कि उसी का अभिनन्दन है । मन दूसरा का विवास या उत्थान करने का कभी दावा नहीं किया, ना उनका अभिनन्दन लेने का अधिकार मुझे कौमं मिल सकता है ? वे अपने विवास व उत्थान के लिए अपना; वह दूसरो के विवास का निमित्त बन गया । इसीलिए सोच मानते होंगे कि मैं उनका विवास कर रहा हूँ । अपनात्मवान् को जो पूजा प्राप्त होती है; वह उसके हित के लिए नहीं हातो और अपनात्मवान् को जो पूजा प्राप्त होती है, वह उसके हित-सम्पादन में महा-यव होती है—अपवान् महावीर को इस वाणी में जो प्रेरक मन्दस है, उनसे प्रेरणा लू; प्राप्त पूजा से और अधिक विनम्र बनू, यही महान्त मेरे अन्तिम जीवन के प्रकाश-दीप होंगे ।”

उपलब्ध तथ्य

अपने आचार्य-जात के पन्थीम शरी के अनुभवों के आधार पर उन्हे जो तथ्य उपलब्ध हुए; उनको उन्हींने अभिनन्दन का उत्तर देने हुए इन

१. आचार्य श्री मुखर्जी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, सम्पादन-श्रेय

२. जैनशास्त्री, १८ भाषे १६६२

द्वितीय अध्याय में उनका जीवन-वृत्त है । हरणक महापुरुष का जीवन-वृत्त प्रेरणादायी होता है, फिर आचार्यश्री ने तो अपने समस्त जीवन को आर्हमा और सत्य के लिये समर्पित किया है । सर्व-माचारण के लिए वह एक दीप-स्तम्भ का कार्य करने वाला कहा जा सकता है ।

तृतीय अध्याय में अगुणों की भावना पर प्रकाश डाला गया है । विभिन्न लेखकों ने समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान और अर्थशास्त्र के आधार पर विभिन्न पहलुओं से समाज की नैतिक आवरणता पर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया है । यह अध्याय एक प्रकार से संश्लिष्ट नैतिक दर्शन कहा जा सकता है ।

चतुर्थ अध्याय का विषय है—दर्शन और परम्परा । इस अध्याय के शोधपूर्ण लेख, बड़ी महत्वपूर्ण सामग्री उपस्थित करने हैं । यद्यपि इस अध्याय के अधिकांश लेख जैन-दर्शन से संबद्ध हैं; फिर भी वे तुलसीदासक अध्ययन करने वालों के लिये जैन-दर्शन-सम्बन्धी विभिन्न जानकारी प्राप्त करने में बहुत उपयोगी हो सकते हैं ।

सम्पादक-मण्डल

ग्रन्थ के प्रबन्ध-सम्पादक के कथनानुसार इस ग्रन्थ का संकलन, सम्पादन और प्रकाशन केवल छह महीने में ही सम्पन्न हो गया । यह आश्चर्य ही कहा जा सकता है । सम्पादक-मण्डल का कार्य-कौशल इस त्वरा में सम्भवतः मुख्य कारण रहा हो । सम्पादक-मण्डल के सदस्य निम्नोक्त व्यक्ति थे—

श्री जयप्रकाश नारायण
श्री नरहरि विष्णु गाडगिल
श्री के० एम० मुन्शी
श्री हरिभाऊ उपाध्याय
श्री मुकुट विहारी वर्मा
श्री अक्षयकुमार जैन

मुनि श्री मगराजजी
श्री मैथिलीशरण गुप्त
श्री एन०

मुनिश्री नगराजजी का परिश्रम तो इसके आद्योपान तक महान रूपसे था ही। श्रीजयप्रकाश नारायण ने इस बात को इन शब्दों में व्यक्त किया है—“ग्रन्थ सम्पादन की शालीनता का सारा श्रेय मुनिश्री नगराजजी को है। साहित्य और दर्शन उनका विषय है। मैं सम्पादन मण्डल में अपना नाम इसीलिए दे पाया कि वह कार्य इनकी देख-रख में होना है।”

आचार्य श्री का उत्तर

आचार्य श्री ने इस अभिनन्दन को अपना तो नहीं माना फिर भी जतना मे उन्हीं का अभिनन्दन किया था, मैं उनका उत्तर देने हुए उन्हीं को कहा—“अध्यात्म मे भिन्न मेरा अस्तित्व नहीं है। इसीलिए योग सोचने है कि मेरा अभिनन्दन हो रहा है। मेरे लिए अध्यात्म ही सब कुछ है। इसलिए मैं सोचना हूँ कि उमी का अभिनन्दन है। मेरे दूसरों का विकास या उत्थान करने का कभी दावा नहीं किया, तो उनका अभिनन्दन मेरे का अधिकार मुझे कैसे मिल सकता है? मैं अपने विकास व उत्थान के लिए बना; वह दूसरों के विकास का निमित्त बन गया। इसीलिए योग मानने होंगे कि मैं उनका विकास कर रहा हूँ। अनात्मवान् को जो पूजा प्राप्त होती है; वह उसके हित के लिए नहीं होती और आत्मवान् को जो पूजा प्राप्त होती है, वह उसके हित-सम्पादन में सहायक होती है—भगवान् महावीर की इस वाणी में जो प्रेरक मन्देश है, उसमें प्रेरणा सू; प्राप्त पूजा से और अधिक विनम्र बनू, यही मकल्य मेरे अन्तिम जीवन के प्रकाश-दीप हाने।”

उपलक्ष्य तथ्य

पढ़ने आचार्य-बात के पृथ्वीय शरीरों के अनुभवों के आधार पर उन्हें जो तथ्य उपलब्ध हुए; उनको उन्हीं अभिनन्दन का उत्तर देने हुए इन

१. आचार्य श्री मुजर्मी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, सम्पादन

२. जैनभारती, १८ मार्च १९६९

घरों में व्यस्त किया—“मेरे आध्यात्मिक नेतृत्व के २५ वर्ष पूर्ण हुए हैं। इस घण्टी में मुझे जो वस्तु-सत्य उपलब्ध हुए; उन्हें मैं आपके सम्मुख प्रस्तुत करना चाहता हूँ। उनमें से कुछ ये हैं :

१. अध्यात्म शून्य बुद्धिवाद मनुष्य को भटकाने वाला होता है।

२. साधना की गहराई में समुदायवाद और व्यवहार की चोटी पर व्यक्तिवाद, ये दोनों ही घान्त हैं।

३. नग्न सत्य के बिना सवस्त्र सत्य कोरा आभास होता है; तो सवस्त्र सत्य के बिना कोरा नग्न सत्य अनुपादेय। इसलिए इन दोनों की सहायस्थिति ही मनुष्य को सत्य की उपलब्धि करा सकती है।

४. धर्म-संस्थान के बिना अध्यात्म प्रगतिशील नहीं रह सकता है।

५. भौतिकता मनुष्य को विभक्त करती है। उसकी एकता अध्यात्म के क्षेत्र में ही सुरक्षित है।

६. धर्म-संस्थान राजनीति और परिग्रह से निरलिप्त रहकर ही अपना अस्तित्व रक्ष सकते हैं।

७. वर्तमान जीवन में मोक्ष की अनुभूति करके ही कोई धार्मिक या आध्यात्मिक बन सकता है। केवल परलोक के लिए धर्म करने वाला अच्छा धार्मिक नहीं बन सकता।

८. आध्यात्मिक एकता का विकास होने पर ही सह-अस्तित्व का सिद्धान्त त्रियान्वित हो सकता है। जातिवाद, भाषावाद, सम्प्रदायवाद और राष्ट्रवाद की सीमाएँ निर्विकार हो सकती हैं। भेद बुद्धि को विकसित किये बिना कोई भी व्यक्ति दूसरो को नहीं अपना सकता।

९. धर्म को सर्वोच्च उपलब्धि मानकर ही मनुष्य साम्राज्यवादी आक्रामक मनोवृत्ति को त्याग सकता है।^१

.. . . . से

उस अवसर पर आध्यात्मिक विकास के लिए वर्तमान की

साधु-मस्याओं को भी कुछ बातें सुझाव के रूप में कही थीं। वे इस प्रकार हैं :

१. राजनीति में हस्तक्षेप न करें।
२. परिश्रम से भ्रलिप्त रहें।
३. जानिवाद, भाषावाद, प्रान्तवाद, राष्ट्रवाद आदि भ्रमेलो में न पड़ें। शान्ति, समन्वय और विश्व की एकता का प्रचार करें।
४. नवीनता या प्राचीनता का मोह न करें, सदा समीचीनता का ह्मादर करें।

५. चारित्रिक विकास को ही अपना कार्य-क्षेत्र बनाए।
६. सुशिक्षित, सुव्यवस्थित और अनुशासित हों।^१

गौरव-पूर्ण अस्तित्व के लिए

प्रायः के भौतिक और बौद्धिक युग में साधु-मस्या को अपने गौरव-पूर्ण अस्तित्व के लिए जिन प्रमुख बातों की आवश्यकता है, उनको उन्होंने इस प्रकार गिनाया था :

१. लक्ष्य के प्रति दृढ़ आस्थावान् होना।
२. अपने नेता, सहयोगियों व स्वयंभूत सिद्धान्तों के प्रति अमद्विष्य होना।
३. बाह्य उपकरणों व आवश्यकताओं को अत्यल्प रखना।
४. अनुशासन, क्लिय और चालत्य का समुचित समादर करना।
५. पद-लोचुपता व निर्वाचन से मुक्त रहना।
६. अम-परायण होना और आरामपरकता से बचना।
७. मोक्ष-मार्ग की अपेक्षा मोक्ष-कर्मणाण पर अधिक ध्यान देना।^२

कानूनाद और आह्वान

कार्यं थी ने उन अवसर पर तेरापंच के साधु-माध्वियों को उनकी

१. ई. आर. टी., १० मार्च १९१९

२. ई. आर. टी., १० मार्च १९१९

प्रगति पर साधुवाद देने हुए साहजिक किया था, वह इस प्रकार है—
 “मैंने इन २१ वर्षों में जिन साधु-गणना का नेतृत्व किया है; उनका
 अधीन उनमें रहा है, वर्तमान मोक्षार्थी है और अविद्यमान उज्ज्वल दिव्यता
 है, क्योंकि उनमें अनुशासन है अत्यन्त है, जिनमें और वास्तव्य की
 भावना है, अर्थात् योग बुद्धिवाद का सम्भव है तथा मरण के प्रति एक
 अद्विग विराग है।

मैं अपने साधु-शास्त्रियों को प्रायः विशेषताओं के लिए साधुवाद देता
 हूँ और अत्यन्त विशेषताओं की प्राप्ति के लिए उनका साहजिक करता हूँ।”

आभार प्रदर्शन

मेवाभारी मुनिश्री चम्पालालजी के प्रति आचार्यश्री ने इस अवसर
 पर जो आभार प्रदर्शित किया था, वह इस प्रकार है :

“मेवाभारी मुनिश्री चम्पालालजी ! आपने मुझे बहुत मन्त्रेक्षण
 किया। मेरे विराग में आपका बहुत योग रहा है। इसमें मैं प्रसन्न हूँ।
 इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं अत्यन्त कृतज्ञ भाव से आपके प्रति
 आभार प्रदर्शित करता हूँ।”

सम्मान

मुनिश्री चम्पालालजी (मीठिया) और लाडाजी का सम्मान करते
 हुए उन्होंने ये उद्गार व्यक्त किये थे :

“विनयनिष्ठ मुनि चम्पालालजी (मीठिया) आपकी सहज विनम्रता
 में मैं प्रसन्न हूँ। इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं आपका विनय-
 निष्ठ के रूप में सम्मान करता हूँ।

“विनयनिष्ठा मुनिश्री लाडाजी ! तुम्हारी सहज विनम्रता से मैं
 प्रसन्न हूँ। धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हारा विनय-निष्ठा के
 रूप में सम्मान करता हूँ।”

परामर्शक-नियुक्ति

मुनि बुद्धमल्ल तथा मुनिथी नगराजजी को आचार्य श्री ने उस अवसर पर जमना: अपने साहित्य-विभाग और अग्रगुण-विभाग का परामर्शक नियुक्त किया। नियुक्ति-पत्र इस प्रकार है

“मुशिष्य मुनि बुद्धमल्ल जी ! तुमने साहित्य के माध्यम से धर्म-शासन की श्रीवृद्धि में जो प्रशसनीय योग दिया है, उससे मैं प्रसन्न हूँ। इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हें साहित्य-विभाग-परामर्शक के रूप में नियुक्त करता हूँ।”

“मुशिष्य मुनि नगराजजी ! तुमने आन्दोलन के माध्यम से धर्म-शासन की श्रीवृद्धि करने में जो प्रशसनीय योग दिया है, उससे मैं प्रसन्न हूँ। इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हें अग्रगुण-विभाग-परामर्शक के रूप में नियुक्त और अग्रगण्य की श्रेणी के रूप में गायत्री से मुक्त करता हूँ।”

आशीर्वाद

मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम', मुनि दुलहराजजी और साध्वी कस्तूरी जी को आचार्यश्री ने आशीर्वाद प्रदान किया। वह इस प्रकार है

“मुशिष्य मुनि महेन्द्र जी ! तुमने अग्रगुण-प्रसार और साहित्य की दिशा में जो प्रयत्न किया है; उससे मैं प्रसन्न हूँ। विशेष प्रगति के लिए इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ।”

“मुशिष्य मुनि दुलहराज जी ! तुमने साहित्य के क्षेत्र में जो प्रगति की है, उसमें मैं प्रसन्न हूँ। दक्षिण प्रान्तीय एवं अरबेजी आदि विदेशी भाषाओं के साहित्य में विशेष प्रगति के लिए इस धवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ।”

“मुशिष्या कस्तूरी जी ! तुमने सुदूर प्रान्त दक्षिण में अग्रगुण-आन्दोलन की प्रगति के लिये जो यत्न किया; उससे मैं प्रसन्न हूँ।

कार्य-क्षमता के लिये इस घवल-समारोह के अवसर पर मैं तुम्हें धात्री-वर्द्ध देना हूँ ।”

वदनांजी के प्रति

मातृवरा वदनांजी के प्रति आचार्यश्री ने जो उद्गार व्यक्त किये थे, वे इस प्रकार हैं.

“श्रुजुमना साध्वीवरा वदनांजी ! आपसे मुझे मानवात्म्य के साथ-साथ जो पवित्र सस्कार मिले; वे मेरे जीवन-विकास के महा हेतु बने । मैंने जो सत्प्रयत्न किये उसमें आपकी तपःपूत भावनाएँ स मेरे साथ रही हैं ।

स्मरण

उस अवसर पर उन्होंने विभिन्न गुणों के आधार पर अनेक व्यक्ति का स्मरण किया था । वह इस प्रकार है.

साध्वी श्री हुलासांजी को विनयनिष्ठा के रूप में, पंडित रघुनन्दन शर्मा को शासन-सेवी एवं विशिष्ट-अगुव्रती के रूप में, प्रतापमन्त्र मेहता को शासन-सेवी के रूप में एवं कल्याणमलजी बरडिया को अगुव्रती एवं त्यागवृत्तिक के रूप में स्मरण किया गया था ।

विविध गोष्ठियाँ

घवल-समारोह के अवसर पर विभिन्न गोष्ठियों के आयोजन भी रसे गये थे । श्रीमन्नारायणजी की अध्यक्षता में अगुव्रत-विचार-परिषद्, डॉ० हरिवंशराय 'दधचन' की अध्यक्षता में कवि-सम्मेलन, इसी प्रकार दर्शन-परिषद्, साहित्य-परिषद् एवं अगुव्रत-अधिবেशन आदि द्वारा समा-गन जनता को विशेष रूप में अध्यात्म का पोषण मिलता रहा ।

विशेषांक सम्पन्न

घवल-समारोह के द्वितीय अरण के अवसर पर मुनिवनों द्वारा रण-

लिखित पत्रिका 'जयज्योति' का एक अभिनन्दन-विशेषांक भी निकाला गया था। उसमें विभिन्न लेखकों द्वारा ससृजत, प्राकृत आदि प्राचीन और अर्वाचीन पञ्चीस भाषाओं में श्रद्धाञ्जलियाँ तथा लेख लिखे गये थे। सम्पादक-मण्डल की ओर से मुनिश्री मोहनलालजी 'शार्दूल' ने उसे आचार्यश्री के चरणों में समर्पित किया था।

साहित्य-सम्पादन

धवल-समारोह के अवसर पर आचार्यश्री की कृतियों का सम्यक् सम्पादन करने का निश्चय किया गया था। तदनुसार श्रमण सागर और मुनि महेंद्रकुमारजी 'प्रथम' इस कार्य को सम्पन्न करने में लगे। अनेक ग्रन्थ उनकी सम्पादकता में जनता के सामने आये।

साहित्य की भेंट

आचार्यश्री तथा मुनिजनों द्वारा नव निमित्त साहित्य में से अनेक ग्रन्थों को भारत के सुप्रसिद्ध प्रकाशन-संस्थान 'आत्माराम एण्ड सन्स' ने प्रकाशित किया। धवल-समारोह के दोनों ही चरणों के अवसर पर संस्थान के संचालक श्री रामलाल पुरी ने स्वयं आकर उन प्रकाशित ग्रन्थों को अपनी सस्था की ओर से आचार्यश्री के चरणों में भेंट किया। उनमें आचार्यश्री की रचनाओं के अतिरिक्त विभिन्न साधुओं की रचनाएँ भी थी।

प्रकाशन की दृष्टि से वह भेंट आत्माराम एण्ड सन्स की अवश्य थी; पर लेखन की दृष्टि से तो वह विभिन्न लेखकों की भेंट थी।



द्वितीय पगिशिष्ट

आचार्यश्री के धानुर्माणों की सूची

| | |
|-------------------|---------------|
| १९९३ गगापुर | २००७ हांगी |
| १९९४ बीकानेर | २००८ दिल्ली |
| १९९५ सरदारशहर | २००९ सरदारशहर |
| १९९६ बीदासर | २०१० जोधपुर |
| १९९७ लाडणू | २०११ बम्बई |
| १९९८ राजलदेमर | २०१२ उज्जैन |
| १९९९ चूरू | २०१३ सरदारशहर |
| २००० गगाशहर | २०१४ मुजानगढ़ |
| २००१ मुजानगढ़ | २०१५ कानपुर |
| २००२ श्री हूगरगढ़ | २०१६ कलकत्ता |
| २००३ राजगढ़ | २०१७ राजनगर |
| २००४ रतनगढ़ | २०१८ बीदासर |
| २००५ छापर | २०१९ उदयपुर |
| २००६ जयपुर | २०२० लाडणू |

आचार्यश्री के मर्यादा-महोत्सवों की सूची

| | |
|-------------|---------------|
| १९९३ ब्यावर | १९९५ रतनगढ़ |
| १९९४ गगाशहर | १९९६ सरदारशहर |

| | |
|------------------|---------------------|
| १६६७ लाडणू | २००६ सरदारसाहूर |
| १६६८ सरदारसाहूर | २०१० राणावास स्टेशन |
| १६६९ श्री झुगरगड | २०११ बम्बई |
| २००० गगानाहूर | २०१२ भीमवाडा |
| २००१ गुजानगड | २०१३ सरदारसाहूर |
| २००२ सरदारसाहूर | २०१४ लाडणू |
| २००३ चूरु | २०१५ सै धिया |
| २००४ बीदासर | २०१६ हांसी |
| २००५ राजलदेसर | २०१७ घामेट |
| २००६ जयपुर | २०१८ भीनासर |
| २००७ भिवानी | २०१९ राजनगर |
| २००८ सरदारसाहूर | |

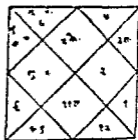
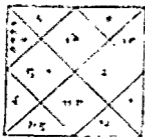


साधारण धी की प्रथम-सूत्रणी

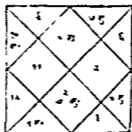
विशाल संसद् ११३१ संसदगत संसिदक सुससस सिंसिस ३३३—
 ३३ ३३ संसदसिद ३ ३३

संसद-सुस

संसिद



संसिद



तृतीय परिशिष्ट

उद्धृत ग्रन्थों की सूची

| | |
|----------------------|-------------------------------|
| अग्नि-परीक्षा | दी माइड ऑफ मि० नेहरू |
| अणुवत्त-भान्दोलन | नव निर्माण की पुकार |
| अणुवत्त-जीवन-दर्शन | नवभारत टाइम्स (पत्र) |
| भाषाराग | नैतिक सजीवन |
| भाषार्य तुलसी | प्रबुद्ध-जीवन (पत्र) |
| भानन्द बाजार पत्रिका | भारत-मुनित |
| भाषाडभूति | माणक महिमा |
| कानू उपदेश-वाटिका | मेघदूत |
| कासूयसोविलास | वार्तालाप-विवरण |
| कवासि | विशेष विवरण |
| अधुर्बगं चिन्तामणि | हरिजन सेवक (पत्र) |
| जनपद विहार, भा० २ | हिन्दुस्तान टाइम्स (पत्र) |
| जैन भारती | हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड (पत्र) |
| टाईम (पत्र) | ज्ञानोदय (पत्र) |
| तत्व चर्चा | |
| दशर्वकालिक | |

व्यक्तियों के नाम

| | | | |
|--------------------|----------|-----------------|----------|
| अचलसिंहजी | ४४ | भार० के० करजिया | ९० |
| अमरचन्द्रजी महाराज | ४४ | भाषाडभूति | १९३, १९४ |
| असुरलाल यादव | २४६ | इन्द्रचन्द्रजी | ५ |
| असोक मेहता | १६२, १६३ | ईसा (योगु) | ४८, १७६, |

| | | | |
|----------------------------|-------------------------|--------------------------------|-------------------------|
| | १७६, २६० | गांधीजी (महात्मा गांधी) | ५५, ८१, |
| उ० न० डेवर | ५२, ६८, १४१ | | १०७, १५७, १६०, १६७, |
| ऊदा | २७६ | | २०५, २२८, २३०, २८७ |
| ऋषभनाथ (भगवान्) | १६६, १६७ | गुलजारीनाल नन्दा | १६२ |
| ए० के० गोपालन | ६८ | गुलाबचन्दजी (मुनि) | ७० |
| एन० सी० चटर्जी | ११२ | गोपीनाथ 'अमन' | २६४ |
| एलिजाबेथ ब्रूनर | २३५, २३७ | गोविन्द वल्लभ पन्त (गृहमंत्री) | ७२ |
| कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' | २०६ | गोविन्द सिंह | २६० |
| कवीर | २८७ | धनश्यामदासजी | २६, ६३ |
| कमलाकर भट्ट | १२१ | घासीरामजी (मुनि) | २५७ |
| कस्तूररांजी (साध्वी) | ११६ | चप्पालालजी (सेवाभावी मुनि) | ७, ६, २५, ७५ |
| काका कालेलकर | ५१, १०४ | चम्पालालजी (मुनि) | ७३ |
| कालीदास | १६६ | चाँदमलजी सेठिया | २५१ |
| कालूगणी | ८, ६, १०, १२, १४, | चोधमलजी (मुनि) | १३, २६, ६३ |
| | १५, १७, १८, १९, २०, २१, | छत्रमलजी (मुनि) | ११६ |
| | २२, २८, २९, ३०, ३१, ३३, | छोगाँजी (साध्वी) | ३१ |
| | ३८, ३९, ६३, ६६, ७५, | छोटा | २८३ |
| | ७६, ७८, ८३, ८६, १३८, | जयप्रकाशनारायण | ३८, ६६, |
| | १८३ | | २४३, २४४ |
| किशोरलाल मथुवाला | ५१, ६५, | अयाचार्य (जीतमलजी म०) | ३०, |
| | १०२ | | ६२, ६६, १८३ |
| कृतान्तमुल | २०१ | जवाहरलाल नेहरू (प्रधानमंत्री) | ७२, ६०, ६१ टि०, १०३, |
| के० जी० रामाराव | १६८, १६९, | | ११३, १२३, १२४, १३५, |
| | १७०, १७१ | | १३६, १३९, १६०, १६१, १६२ |
| गणेशप्रसादजी वर्णी | ५५ | | |
| गणेशमलजी (मुनि) | ११६ | | |

| | | |
|--------------------------------|---------------|------------------------------|
| चक्रकरणीजी (मुनि) | ११६ | १२२, १२७ टि०, १३६, |
| जुगलकिशोर बिड़ला | २३८ | २२६ |
| जूलिपस सीजर | १३६ | नथमलजी (मुनि) २०, ४५, ६५, |
| जे० झार० यटन | १७५, १७६ | ६७, ७०, ७१, ७६, ७८, ८२ |
| जे० एस० विलियम्स | ४७ | नन्द |
| जे०बी० कृपलानी ६८, १०४, १५७ | | ७१ |
| जैनेन्द्रकुमारजी ५३, १०५, १५६, | | मन्दकिशोर (राजवैद्य) |
| | २८६ | २३६ |
| भूमरमलजी खटेड़ | ५, ६ | निधीशजी |
| टब्ल्यू० डी० वेल्स | १७५ | २७७ |
| डानेल्ड कैप | १७८, १७९, १८० | निरंजननाथ |
| डालगणी | ३०, ६३ | २३८ |
| डूगरमलजी (मुनि) | २५७ | नीलकण्ठ |
| तुकाराम (समर्थ) | २८७ | १२१ |
| तिलक (लोकमान्य) | १४२ | परमानन्द भाई |
| तुलसीदास (तुलसी) | ५, २४७ | ४७ |
| त्रिवेदी | ५६ | फेलिक्स वेल्मि १७३, १७४, १७५ |
| दलीप | १५२ | बच्छराजजी (मुनि) |
| दुलीचदजी (मुनि) | ३१, ७१ | ६७ |
| दौलतरामजी | २८२ | ददनाजी (साध्वी) |
| घनराजजी (मुनि-लाडनू) | ११६ | ५, ६, २४ |
| घनराजजी (मुनि-भरसा) | ७२ | वनेचन्द भाई |
| धर्मकीर्ति | ६० | ४८ |
| धर्मचन्द्रजी (मुनि) | ७३ | वावेबिहारी भटनागर |
| श्रीरत्नलाल टोकरसी शाह | ७२ | ५६ |
| नगराजजी (मुनि) ६५, ६७, ७०, | | बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' |
| ७१, ७२, ८२, ९२, ११६, | | २८७ |
| | | बी० एन० दातार |
| | | ११३ |
| | | डी० डी० नागर |
| | | २६८, २६९ |
| | | डी० पी० विन्हा |
| | | ३४, ५९ |
| | | बुद्ध |
| | | १, १०७, १३२, २३६ |
| | | बुद्धमल्ल (मुनि) |
| | | २०, ५२, ६५, |
| | | ६७, ७१, ७८, ८२, ११९ |
| | | बुद्धसिंहजी |
| | | ५ |
| | | भागीरथ |
| | | ५७ |
| | | भरत |
| | | १९६ |
| | | भारीमाल (भाचार्य) |
| | | ३० |

| | |
|---|--|
| भिक्षु (साधन भीगणजी) ३०, ३६, ३७, २८, २९, ६०, ६१, १०३, २२८ | महात्मा (कामेश्वर) २८६ |
| भीमरावजी (मुनि) २६ | महोदयजी (जगन्नाथ) ७२ |
| मदनदास ककवाण २० | रघुनन्दनजी शर्मा १५, २६, ६३, ६६, ७०, ७१ |
| मदनभाई १४१ | रघुवीरसिंह तपागी २६२ |
| मदनमनजी (मुनि) ११६ | रत्नान भाई २४१, २४२ |
| मदननाथजी (भक्त मुनि) १, २२, २३, २४, ३१, ३२, ३९ | रमण महि २८७ |
| मधवाणजी ३०, ६२ | रवीन्द्रनाथ ठाकुर २३२ |
| माधमचन्द्रजी शोरड १२ | राधेराजुमारजी (मुनि) ७०, ११६ |
| महावीर (भगवान्) १०७, १४८, १४९, १७९, २१६, ११८, २६० | रात्रकरराजी (मुनि) ७३ |
| महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' (मुनि) ६९, ७०, ७१, ७२, ७३, ११६, १४५ | रात्रगोपालाचार्य १०४ |
| माणिक्यजी २८, ३०, १८७ | रात्ररूपजी शेट्टे ५, ६ |
| मीठालालजी (मुनि) ७१, ११६ | रात्रेन्द्रप्रसाद (राष्ट्रपति) ७२, १०३, १११, ११२, ११९, १३५, १३९, १५७, १५८, १६४, २७९ |
| मुरारजी देसाई १६६, १६७, २२६, २२७ | राधाकृष्णन् (उपराष्ट्रपति) ७२, १०३, १५८, १५९, १६० |
| मोतीचन्द हीराचन्द जवेरी ४७ | राम १९९, २००, २०१, २०२ |
| मोहनलालजी शेट्टे ६, ९, १०, ११, १२ | रामदेव (दक्षिण के एक राजा) १२० |
| मोहनलालजी 'शार्दूल' (मुनि) ६७, ७१, ११६ | रामदेवजी (देवता) ७ |
| | रामनारायण खन्ना २४४ |
| | रामनारायण चौधरी २३७ |
| | राममनोहर लोहिया ११२ |
| | रायचन्द (तेरापंच के तृतीय आचार्य) ३० |

| | | | |
|-----------------------|-----------------------------|--------------------------|----------|
| रायचन्द्र | | श्रीमन्नारायण | १०५ |
| (श्रीमद् रायचन्द्र) | ७२, २२८ | सत्यदेव विद्यालकार | १३६ |
| रघुनाथजी | १४० | समर्थदास | २८७ |
| रुपाजी (साध्वी) | २५७ | सीता १६६, २००, २०१, २०२, | |
| रेमंड एफ० पीयर | २०५ | मुकुमार सेन | ६८ |
| ललिताप्रसाद सोनकर | ११४, २७२ | मुखलालजी (प्रजाबधु) | २६६ |
| लक्ष्मण | २०१ | मुगनचन्द | ११३ |
| लक्ष्मीरमण आचार्य | ११४ | मुचेता कृपलानी | १०६, १५७ |
| लाडीजी (साध्वी) | ६ | सूरजमलजी बोरड | २५२ |
| सूयर इवान्स | १०४, १३६ | सुरेन्द्रनाथ जैन | २६५, २६६ |
| लेलिन | २१३ | सूर | २८७ |
| विजय बल्लभ सूरि | ४६, ४७ | ह्यासनाथ | १३८ |
| विनोबा (सन्त विनोबा) | ६६, १३०, १३५, १६४, १६६, २८७ | हमीरमलजी कोठारी | ५ |
| बुडलेंड फहेलर | १७७, १७८, २३५ | हवंट टिसि | १७२, १७३ |
| घंकर | २६६ | हरमन जेकोवी | १३८ |
| शकराचार्य | ६०, २२६ | हरिभाऊ उपाध्याय | २८० |
| शकडाल | ७१ | हरिसिंह (राणा) | १४० |
| शनकरी मुखर्जी | २६६ | हाफमैन | १३८ |
| शिवनारायण | ११४ | हुकमसिंहजी ठाकुर | ६३ |
| शुभकरणी दसाणी | ६५ | हेमचन्द्राचार्य | २२६ |
| शोभालाल | १५४ | हेमराजजी (मुनि) | २६, २७ |
| श्रीचन्द 'बमल' (मुनि) | ७३ | हेमाद्रि | १२० |
| | | ज्ञानदेव | २८७ |
| | | ज्ञानेश्वर | २२८, २२६ |

| | | गावों के नाम | |
|----------|---|--------------|--|
| अहमदाबाद | २७७ | बुध | १२२ |
| अजमेरा | २३८ | बीकानेर | १८७ |
| अजमेरा | १४३ | बाराणसी | ६३, ११, २१८ |
| अजमेरा | ११, १६६, २३७, २८० | बंगलूर | १११, १३४, १४२, १४६, १५७, २०१, २३०, २३६, २४३, २६६ |
| अजमेरा | १६६, २०० | | |
| अजमेरा | १३४ | | |
| अजमेरा | २३७ | बनारस | १४६, १७८ |
| अजमेरा | २२, १६१ | बानना | १४४ |
| अजमेरा | ४६, १३६, २४२ | बोयपुर | १६६, २३२ |
| अजमेरा | १७ | बोरोझ नगर | २२७ |
| अजमेरा | १६० | दिल्ली | १२४ |
| अजमेरा | ६२ | डोंडाया | १४६ |
| अजमेरा | १६६ | डाली | २४३ |
| अजमेरा | १३०, १६६ | धराद | १४० |
| अजमेरा | १४३ | दिल्ली | ७२, ८१, ६८, ६६, १००, १०१, ११६, १२१, १२६, १३१, १३४, १३५, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४७, १४८, २३७, २६४, २६८ |
| अजमेरा | १०१, १३६, १४८, २१८, २३०, २३६, २३५, २३७, २६६ | | |
| अजमेरा | १४२, १४३ | देलवाड़ा | १४० |
| अजमेरा | १४५, १४६, १४७, २७४ | धुनिया | १४४ |
| अजमेरा | १४३ | नबीगढ़ | २६२ |
| अजमेरा | २८, १४४ | नवलगढ़ | २४० |
| अजमेरा | ४८ | | |
| अजमेरा | २६७ | नालंदा | १४६, १४७ |
| अजमेरा | २५७ | | |

तृतीय परिशिष्ट

३१३

| | | | |
|-------------|---|-------------|-------------------------------------|
| न्यूयार्क | १०२, २०५ | राणावाप्त | १४० |
| पटना | १४६ | रावलियाँ | १५०, १५४ |
| पारसनाथ हिल | ४५ | रूपनगड | २६० |
| पावा | १४६ | सखनऊ | १४५ |
| पिलानी | २३८, २६२ | सदन | २०४ |
| पूना | १४३ | लबोडी | २५० |
| फतहगड | २६३ | लाडगू | ५, ८, १२, १३, १३८, २५२, २५४, २७३ |
| फतहपुर | १५७ | बनिना | १६७ |
| बम्बई | ४६, ४७, ५२, ५५, ७२, ६४, १३३, १४१, १४२, १६६, १७५, १७७, २२६, २३५ | बाराणसी | १४५ |
| बाँकानेर | २५७ | बैसाली | १४४ |
| बाव | १३०, १४०, १४१ | ब्यूपोइन्ट | १४४ |
| बाँकानेर | ४८, ६६, १३१, १४६, २३६ | शार्दूलपुर | ३१, ७१ |
| बीदासर | १३, ३१, ६३, ७२, २५३ | शाहदा | १४४ |
| बेंगलोर | १४४ | शिमला | १३३, १८६ |
| बोरीवली | १४२ | सम्बलपुर | १२४ |
| ब्यावर | २५५ | सरदारसाहर | ६३, १३१, १३५, १३७, १३६, २३६ |
| भरतपुर | १३४, २७४ | सरसा | ६७, ७२ |
| भीनासर | ४८, ६६, ७० | सादडी (बडी) | २४७ |
| भुगावल | १४४ | सिवकानगर | १४२ |
| मधुरा | १३४ | मिराजगज | ५, ६, ६ |
| मद्रास | १३३ | मुजानगड | १२, ६५, ७१, २५१ |
| रानगड | १५७ | मुरा | १४१ |
| राजगृह | १४४, १४६ | संविद्या | १४७ |
| राजलदेमर | ७१, ६२ | सोन्याणा | २५० |
| | | हापरस | १२२ |
| | | हाँसी | १४८, १७२ |

सम्मतियां

मुनिवर श्री सुद्धमल्लजी की अभिनव कृति "आचार्य श्री तुलसी-जीवन-दर्शन" वस्तुतः एक सुन्दर जीवन-दर्शन है। विद्वान् मेसर्स ने आचार्य श्री तुलसी के जीवन के प्रत्येक पहलू पर मार्मिक चिन्तन के साथ सुन्दर प्रकाश डाला है। थेरापय सम्प्रदाय के महान् उन्नायक के रूप में आचार्य श्री के भव्य व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हुए यह दिखाया गया है कि किस प्रकार उन्होंने अमुक सीमाओं में बसे आ रहे थेरापय को मनुष्य मात्र का पथ बनाने के लिए सत्रिय प्रयास किये हैं। अगुडन-आन्दोलन के प्रवर्तक के रूप में किया गया भावनापूर्ण विरलेपण भी काफी विचारोत्तेजक है। पुस्तक में यत्र-तत्र आचार्यश्री को इधर-उधर के सपनों का दृढ़तापूर्वक सामना करते हुए हम पाते हैं, जो प्रायः प्रत्येक विचारक घर और बाहर में सदा से करता आया है।

मुनिश्री धन्यवाद के पात्र हैं कि वे वर्तमान जीवन-परिस्थितियों की परम्परा में एक सुन्दर कलापूर्ण एवं विरलेपणात्मक जीवन-दृश्य जोड़ सके। क्योंकि किसी भी बहुरंगी व्यक्तित्व के घनी सुगुरुर्य के जीवन को सन्धियों की रेखाओं में बांध देना सहज काम नहीं।

३ नवम्बर ६९

—उपाध्याय अमर मुनि

"आचार्य श्री तुलसी . जीवन-दर्शन" के अनेक प्रेरक प्रथम समुद्रक पढ़ गया। वैयक्तिक-सांस्कृतिक विवेचन बहुरंगी सुधक रूप धारण कर गया है, किन्तु इस पुस्तक के पढ़ने से प्रेरणा मिलती है तथा उदात्त भाव

हृदय में जागृत होते हैं। अग्नि निर्माण के लिए इस प्रकार के अग्नियों की आवश्यकता है।

— डा० कन्हैयालाल शर्मा

१० अक्टूबर, ६३

सादर प्रियता

विरमा घाटंग कवित्र, तिनानी

आज आचार्यश्री तुलसी की जीवन नहीं जानता ? वे देश के एक महान् गुरु हैं। उनके अग्रज-साम्बोधन ने उन्हें बड़े में बड़े राष्ट्रीय नेता की तरह अपना अधिष्ठान लोक-परिचित बना दिया है कि उनके जीवन-दर्शन को हर व्यक्ति पढ़ना समझ करेगा।

प्रस्तुत पुस्तक में उनके बचपान में लेकर इस पुस्तक के प्रकाशन के समय तक की उन सभी मुख्य-मुख्य घटनाओं का वर्णन है जो वस्तुतः उल्लेखनीय हैं। इसके पढ़ने से पाठक का मन ऊबना नहीं, वह उमंग में डूब जाता है और उपन्यास के पढ़ने की तरह इसमें रग लेता है। आचार्यश्री तुलसी ने जो तीन प्रबन्ध काव्य-घाटाडभूति, भरत-मुक्ति और अग्नि-परीक्षा लिखे हैं, उनका भी इस पुस्तक में गंभीर परिचय दिया गया है। भरत-मुक्ति के चौथे सर्ग में हिंसा और अहिंसा के विषय में उनकी स्पष्ट व्यवस्था पढ़िए:—

“हे हिंसा आक्रामकता भय खाना भी हिंसा है,
उसमें बधरती, इसमें जग में निंदा खिया है।
दोनों से धर्म-मरण है, दोनों में ही दुर्बलताएँ,
क्यों लड़े किसी से धर्म के क्यों मरने से घबरारें ?
हाते आक्रमण मलायन, भयभीतों के दो लक्षण,
खते जो इन दोनों में, वे ही गम्भीर विचक्षण।
जहाँ प्रेमभी धर्म है, जहाँ भय का काम नहीं है,
सर्वस्व भयाकुल प्राणी, लेते विधाम यहाँ हैं।”

लेखन, सम्पादन एवं प्रकाशन सभी दृष्टियों से पुस्तक उपादेय है।

३ जनवरी, ६३

6525

—वीरवाणी, जयपुर

लेखक की अन्य कृतियाँ

भयन

आवर्त

उत्तिष्ठत ! जागृत !!

उठो ! जागो ! !

घालों में बहा

पराग

विचार बिन्दु

तेरापण्य (हिन्दी, अंग्रेजी)

तेरापण्य के मौलिक मूल्य और वर्तमान लोक चिन्तन

तेरापण्य का इतिहास

मानवता का मार्ग—अणुऊर्जा-आन्दोलन

अणुऊर्जा विचार-समंज

भयन संस्कृति के अंधकार में

विमलम् (साहित्य) ११-१२

आत्मसोपाना प्रवेशिका

अदहिरी

१९९० -